काण्ट और शङ्कर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय का एक आलोचनात्मक अध्ययन

A CRITICAL STUDY OF DIALECTIC IN KANT AND ŚAṄKARA

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फिल्० डिग्री
के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

कु० मीरा मालवीय, एम० ए०

पर्यवेक्षक
डॉ० शिव शंकर राय, एम० ए०, डी० लिट्,
प्राध्यापक, दर्शन विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी

•

दर्शन विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
इलाहाबाद
१९७३

प्राक्कथन

कान्ट और शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय के आलोचनात्मक अध्ययन के विषय में हमें यहाँ बहुत कुछ नहीं कहना है । इसका मात्र कारण यह है कि द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी अपने विषय के बारे में कुछ कहने से या तो प्राक्कथन में ही हमारे उन विचार-तथ्यों की पूर्व आवृत्ति हो जायेगी, जिनका विवेचन शोध-प्रबन्ध के प्रमुख परिच्छेदों में किया गया है, अथवा हम अपने से सम्बन्धित ऐसे भावनात्मक व व्यक्तिगत कथनों में लग जायेंगे, जो पाठकों के लिए रुचिकर न होंगे तथा कठिनाई से ही शोध-प्रबन्ध के लिए प्रासंगिक होंगे ।

इस शोध-निबन्ध में मैं केवल यह संकेत करती हूं कि इन दो अतीन्द्रियवादी दार्शनिकों के दर्शन में अपनी स्वयं की रुचि से प्रेरित होकर ही मैंने इस शोध-कार्य को अपनाया है । इन दार्शनिकों के विचारे दर्शन में मेरी अभिरुचि उसी समय से उत्पन्न हो गयी थी, जब मैंने अपने एम०ए० अन्तिम वर्ष में इनका अध्ययन विशिष्ट प्रश्न-पत्रों के रूप में किया था । यद्यपि इसका उल्लेख आवश्यक नहीं है किन्तु अनुचित एवं अप्रासंगिक भी नहीं है कि हमारी इस प्रकार की रुचि को हमारे गुरुजनों द्वारा प्रोत्साहन मिला । स्नातकोत्तरीय कक्षाओं के लिए प्रदत्त उनके व्याख्यानों से निरन्तर हमें यह प्रेरणा मिलती रही कि हम कान्ट और शंकर के दर्शन को ही अपने शोध-कार्य का विषय बनावें ।

हमारे शोध-निबन्ध का मूल शीर्षक अंग्रेज़ी शब्दों में --"A critical study of Dialectic in Kant &Śankara है।"मैंने स्वयं अपनी अतीव इच्छा से ही इस शोध-निबन्ध को हिन्दी में लिखने का निश्चय किया । किन्तु इसका कारण यह नहीं है कि हमारी कठिनाई अंग्रेज़ी में प्राप्त रचनाओं के अध्ययन व समझ से है । प्रथम तो हिन्दी मातृभाषा होने के कारण, हिन्दी में ही विचार बड़ी

सुगमता से आते हैं तथा उनकी अभिव्यक्ति भी सहज व स्वाभाविक होती है। दूसरी बात यह है कि जब जर्मन, फ्रैंच, रूसी और जापानी--सभी अपनी रचनाओं को अपनी मातृभाषा में ही प्रस्तुत करते हैं, अंग्रेज़ी में नहीं, तो फिर हम क्यों न अपनी मातृभाषा को महत्त्व दें।

सम्पूर्ण निबन्ध में `डाइलैक्टिक` के समानार्थक शब्द ` द्वन्द्वन्याय` का ही प्रयोग किया गया है। यह दावा करना कि यह शब्द पूर्ण रूप से `डाइलैक्टिक` का पर्यायवाची है, उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है, ऐसा इसलिए कि पाश्चात्य शब्द `डाइलैक्टिक` के पीछे दो हज़ार वर्षों की एक ऐसी ऐतिहासिक परम्परा मिलती है, जो प्लेटो पार्मेनाइडीज़ से कान्ट, फिश्टे, हीगल और ब्रैडले तक विस्तृत है। अपना प्रयास यही रहा कि ` डाइलैक्टिक` का एक ऐसा पर्यायवाची शब्द खोज निकालें जो ` डाइलैक्टिक` की व्यापकता से ओत-प्रोत हो। इसीलिए मैंने प्रत्येक संभव स्रोतों एवं साधनों से इस शब्द के एक उचित समानार्थक शब्द को प्राप्त करने की यथाशक्ति खोज की; किन्तु मैं देखती हूं कि मेरी भांति प्रत्येक व्यक्ति इसके समानार्थक पद के प्रति सन्देहयुक्त है और कोई भी इसके लिए एक उचित समानार्थक शब्द नहीं प्रस्तावित कर सका है। अन्त में हमारे गुरू, जो हमारे निर्देशक भी हैं, उन्होंने यह सुझाव दिया कि क्यों न बिना किसी प्रतिवाद के ` डाइलैक्टिक` को डाइलैक्टिक ही कहा जाय, जबकि ` टैक्नालाजी` को ` तकनीकी`; ` एकेडेमी` को ` अकादमी` कहा जा सकता है; मेरी समझ में यह अनुपयुक्त भी नहीं प्रतीत होता है। परन्तु जिससे कि मैं विवाद का विषय न बनूं, मैंने ` डाइलैक्टिक` के समानार्थक शब्द के रूप में `द्वन्द्वन्याय` शब्द का ही तदर्थ चुनाव किया है; और इसलिए भी कि ` वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत मानविकी-शब्दावली ।।` [१] में इसका पर्यायवाची शब्द ` द्वन्द्वन्याय` ही दिया गया है।

---

१. मानविकी-शब्दावली--।। (दर्शन, मनोविज्ञान और शिक्षा) पृ० २८।

अपने शोध के दार्शनिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मैं यहां कुछ नहीं कहना चाहती हूं, क्योंकि मैंने अपने विवेच्य-विषय की, शोध-निबन्ध के प्रथम अध्याय (भूमिका) में ही पर्याप्त विवेचना की है । अत: यहां उसके संक्षिप्त विवरण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है ।

अपने अनुसंधान-विषय के सम्बन्ध में, मैं प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रति अत्यन्त आभारी हूं जिसने मुझे यह शोध-कार्य करने की अनुमति दी । मैं प्रयाग-विश्वविद्यालय तथा चौधरी महादेवप्रसाद महाविद्यालय के पुस्तकालय अधिकारियों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूं, जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकें प्रदान करके मुझे शोध-कार्य में सहायता दी ।

अन्त में मैं अपने गुरु एवं निर्देशक श्रद्धेय डाक्टर शिवशंकर राय के प्रति अत्यन्त आभार प्रकट करती हूं, जिन्होंने अपना अमूल्य निर्देशन एवं सुझाव दे कर ही मुझे कृतार्थ नहीं किया वरन् अपना बहुमूल्य समय दे कर मेरी उन त्रुटियों का भी परिष्कार किया, जो मेरे लिए साधारणत: सम्भव न होता । अत: मैं आजन्म उनकी ऋणी रहूंगी, जिसे मैं शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकती हूं । यदि मेरे इस शोध-निबन्ध में कुछ त्रुटियां व कमी शेष रह गयी हों तो उसके लिए केवल मैं ही उत्तरदायी हूं । हां, यदि इसमें किसी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक तथ्य का संकेत मिलता है तो इसका कारण उनका ही सुझाव है तथा उनसे मेरा विचार-विनिमय । इसके अतिरिक्त मैं उन सभी आदरणीय जनों के प्रति भी अत्यन्त कृतार्थ हूं जो शोध-कार्य को पूरा करने के लिए सदैव मुझे प्रेरणा व प्रोत्साहन देते रहे; उनका प्रोत्साहन भी मेरे लिए कम महत्त्वपूर्ण न था ।

समस्त प्रयत्नों के भाव में भी इस कृति में त्रुटियों का पाया जाना असंभव नहीं है, अत: इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं । मैं आशा करती हूं कि उदार पाठक मेरी त्रुटियों को सुधारने के लिए अवश्य ही सुझाव देंगे । यदि भविष्य में मुझे इस शोध-निबन्ध को प्रकाशित करने का अवसर मिला तो इसमें उनके द्वारा संकेतित संशोधनों का अपना ही स्थान होगा ।

मीरा मालवीय

दर्शन विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग ।
३० जुलाई, १९७।

(मीरा मालवीय)

विषय-सूची

---००---

अध्याय - १

भूमिका

यह शोध-प्रबन्ध तुलनात्मक दर्शन में एक अध्ययन है । अपने अध्ययन के लिए हमने जर्मन दार्शनिक कान्ट तथा भारतीय दार्शनिक शंकराचार्य को चुना है, जिनकी दार्शनिक रचनाएं अपूर्व विशुद्धता एवं ओज के साथ अतीन्द्रियवाद को स्पष्ट करती हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि क्रमश: इन दो महान् पाश्चात्य एवं प्राच्य चिन्तकों की दार्शनिक व्यवस्थाओं में विशिष्ट एवं सुस्पष्ट समानता है, तथापि यहां उनके बीच निहित समानताओं की एक तालिका प्रस्तुत करने के उद्देश्य से यह कार्य नहीं किया गया है । इस शोध-प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य उन दोनों दार्शनिकों के प्रयत्नों या अभिगमों में निहित भेद को विशिष्ट रूप से दिखाना है । ऐसा मालूम होता है कि अपने प्रतिवादियों के खण्डनार्थ उन दार्शनिकों ने जो दार्शनिक युक्तियां प्रस्तुत की हैं, उन्हीं के अध्ययन से उनके भेद-स्थलों को जाना जा सकता है । उदाहरणस्वरूप कान्ट अपने दार्शनिक लक्ष्य को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि एक आलोचनात्मक दर्शन को प्रतिपादित करने में उनका प्रयोजन श्रद्धा को स्थान देने के लिए ज्ञान के क्षेत्र का परिसीमन करना है । ज्ञान के क्षेत्र का परिसीमन तथा श्रद्धा के क्षेत्र की प्रतिष्ठा दोनों ही दार्शनिक रूप से विचार-विमर्शित विषय हैं । श्रद्धा रक्षक दार्शनिक विवेचन का प्राण एक ऐसे ज्ञान के विसर्जन में उपलब्ध है जो श्रद्धा के क्षेत्र को जानने का अनधिकारपूर्वक दावा करता है । इसी उद्देश्य से कान्ट अपनी प्रथम मीमांसा में एक ऐसा ढांचा तैयार करते हैं जिसका अभिप्राय हमें ज्ञान के कार्य और उसके स्वरूप से ही अवगत कराना है । इस ज्ञान से कान्ट सर्वथा ही गोचर विषय का ज्ञान मानते हैं ।[1] 'अतीन्द्रिय' शब्द ही जो 'संवेदन', 'विश्लेषण' तथा 'द्वन्द्वन्याय' के विशेषण के रूप में आता है, कान्ट द्वारा अधिकृत दार्शनिक खोज की एक-एक विशेष पद्धति का द्योतक है । इस पद्धति में न तो वे केवल आगमन विधि का अनुसरण करते हैं और न शुद्ध निगमन विधि का ही । वस्तुत: अतीन्द्रियात्मक पद्धति को उपरोक्त दोनों पद्धतियों के

---

१. कान्ट, क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न (रूपान्तरकार : एन०के० स्मिथ), पृष्ठ-२६

अतिरेकों की परिशुद्धि करने के लिए प्रस्तावित करते हैं। अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समस्या को वे इस प्रकार प्रस्तुत नहीं करते कि ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार होती है। अनुभववादी तथा बुद्धिवादी दोनों विचारकों ने ज्ञान की समस्या पर इसी दृष्टिकोण विशेष से विचार किया है। अनुभववादी विचारक लाक इस खोज-विधि को ऐतिहासिक पद्धति[1] कहते हैं। वे एक पूर्वमान्यता के रूप में इस तथ्य को प्रस्तुत करते हैं कि हमारा मस्तिष्क एक स्वच्छ स्लेट अथवा कोरे पृष्ठ की भांति है, हमारे समस्त ज्ञान का प्रारम्भ इन्द्रियानुभव से ही होता है। अपने ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए वे यह बताते हैं कि प्रत्यय किस प्रकार उत्पन्न होते हैं तथा किस प्रकार ज्ञान के जटिल रूप में विकसित होते हैं। लाक की इसी ऐतिहासिक पद्धति को बर्कले तथा ह्यूम ने विस्तृत और परिष्कृत किया है तथा इसको ऐसी सीमा तक पहुंचा दिया है जहां से वे आत्मा, ईश्वर व जगत सम्बन्धी दार्शनिक रहस्यों को प्रकाशित करने के लिए एक कुंजी प्रदान करते हैं। इसके विपरीत डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइबनीज़ तथा वुल्फ आदि बुद्धिवादी विचारकों ने दार्शनिक खोज को एक प्रागनुभवी मार्ग के रूप में प्रदर्शित किया है, जो कुछ 'सुस्पष्ट' व 'निश्चित' सत्यों पर अपने दर्शन के तात्त्विक रहस्यों को आश्रित करते हैं। इन्हीं सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित सत्यों को वे 'सहज प्रत्यय'[2] कहते हैं। इन बुद्धिवादी दार्शनिकों ने अपने-अपने विभिन्न तरीकों से इसी 'सहज प्रत्यय' के सिद्धान्त को विस्तृत किया है जो विभिन्न रूपों में विस्तृत होते हुए भी तात्त्विक धरातल पर सिद्धान्ततः समान हैं।

बुद्धिवाद तथा अनुभववाद--ये दो विरोधी दार्शनिक सम्प्रदाय ज्ञान-मीमांसात्मक समस्याओं के समाधान के प्रयत्न में जिन विधियों को अपनाते हैं, वे कुछ विशेष पूर्वमान्यताओं को लेकर चलती हैं। दोनों सम्प्रदायों से सम्बन्धित प्रत्येक पूर्वमान्यता अपने स्वरूप में अपरीक्षित है। अनुभववाद के अनुसार इन्द्रियानुभव ही प्रत्यय का स्रोत है, जबकि बुद्धिवाद के अनुसार प्रत्यय का स्वरूप एवं स्रोत प्रागनुभवी है। इन दोनों का प्रस्थान-बिन्दु प्रत्यय ही है। कान्ट की समस्या

---

१. फाल्केनबर्ग--हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न फिलासफी--पृष्ठ-१५५-५६

२. वही, पृष्ठ--६२

एक तीसरे प्रस्थान-बिन्दु की खोज न थी, इनकी समस्या ज्ञान की सम्भावना की समस्या[1] थी, और ज्ञान को उन्होंने व्यापक अर्थ में लिया है, जिसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार का ज्ञान समझा जा सकता है। वास्तविक दृष्टि में कान्ट वह प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने ज्ञान की समस्या को सुस्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह अपनी दार्शनिक व्यवस्था को अतीन्द्रियात्मक व्यवस्था के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। वास्तव में ज्ञान की सम्भावना की अतीन्द्रियात्मक शर्तें ही उनकी खोज है, अर्थात् वे यही जानना[2] चाहते हैं कि ज्ञान किस प्रकार संभव है तथा इसकी अतीन्द्रियात्मक शर्तें क्या हैं? किन्तु इसका तात्पर्य आनुभविक आधारों पर एक आनुवंशिक व विकासात्मक अध्ययन नहीं है और न तो प्रागनुभवी अन्वेषण के विरुद्ध आकारिक आधारों पर ही एक अध्ययन है। कान्ट अनुभववादी विचारधारा के इस तथ्य को सहर्ष मान्यता प्रदान करते हैं कि ज्ञान का प्रारम्भ अनुभव से होता[3] है, किन्तु इसके साथ ही वह इस बुद्धिवादी विचार-तथ्य को भी मान्यता देने से नहीं चूकते कि ज्ञान की वृद्धि बुद्धि के स्तर पर ही होती है[4], अर्थात् ज्ञान बुद्धि द्वारा निर्मित होता है। कान्ट के अनुसार[5] इतना ही पर्याप्त नहीं है, वह कहते हैं कि ज्ञान प्रज्ञा में अपनी सीमा का स्पर्श करता है, जहां इसे अपने को अनुभव से परे होने का ऐसा संकेत प्राप्त[6] होता है, जो इस बात को व्यक्त करता है कि यह चिन्तनीय है, किन्तु ज्ञेय नहीं है। यह 'अज्ञेय' ही 'अप्रतिबद्ध' का क्षेत्र है, और यह क्षेत्र 'प्रज्ञा के प्रत्यय' नामक शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित है[7]। यहां तत्त्व-दार्शनिक सत्ता का क्षेत्र है जिसे विश्वास अथवा श्रद्धा में स्वीकार किया गया है तथा जो भावात्मक एवं नैतिक अनुभव में अनुभूतिगम्य है, परन्तु बुद्धि के वस्तु-विषय

---

१. कान्ट, क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, एन०के०स्मिथ--पृ० ४५
२. वही, पृ० ५६
३. वही, पृ० ४१
४. वही, पृ० ४१
५. वही, पृ० ३१४
६. वही, पृ० २७
७. वही, पृ० ३०६

के रूप में यह ज्ञेय नहीं है । समकालीन प्रत्यक्षवादी विचारकों के विरुद्ध हमारा दावा है कि यह ज्ञानातीत क्षेत्र निरर्थक नहीं है । ज्ञान के क्षेत्र से परे जो भी क्षेत्र है वह विश्वास का क्षेत्र है ,केवल इसी क्षेत्र में ही स्वीकृत अतीन्द्रिय सत्ता अवस्थित होती है । इसी उद्देश्य से शुद्ध-बुद्धि,व्यावहारिक बुद्धि तथा निर्णय बुद्धि--इन तीन मीमांसाओं में कान्ट द्वन्द्वन्याय-शैली का प्रयोग करते हैं । द्वन्द्वन्याय का कार्य पूर्णरूप से यह दिखाना है कि अतीन्द्रिय सत्ता को सांगोपांग रूप से समझने के लिए शुद्ध-बुद्धि असमर्थ एवं अपर्याप्त है ।[२] व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा तथा निर्णय बुद्धि मीमांसा को प्रस्तुत करते समय एक बार पुन: कान्ट को ज्ञान की सीमाओं को दिखाने की परम आवश्यकता प्रतीत होती है, और ज्ञान की इस सीमा को वे युक्तियों द्वारा अतुल उत्साह एवं तत्परता से प्रमाणित भी करते हैं । ऐसा वह केवल इसलिए करते हैं कि हमारी व्यावहारिक व निर्णय बुद्धि तथा संवेदनात्मक व प्रयोजनात्मक बुद्धि का कार्य शुद्ध-बुद्धि के कार्यों से भ्रमित न हो सके ।

कान्ट की द्वितीय व तृतीय मीमांसाओं का अभीष्ट ज्ञान के लक्ष्य से पूर्णतया भिन्न एक अन्य उद्देश्य की पूर्ति करना था । ज्ञान अपने क्षेत्र में सीमित है,यह नैतिकता को नहीं समझ सकता है और रुचि व प्रयोजन को भी नहीं समझ सकता है । अपने ज्ञानात्मक कार्य की सीमाओं को समझने का अर्थ यह नहीं है कि इस सीमा के आगे कुछ और शेष नहीं है । मानव का एक उच्चतर भवितव्यता या निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करना है । उसका यह लक्ष्य उदात्तता,भव्यता, सौन्दर्यानुभूति में तथा नैतिक इच्छा-शक्ति की इच्छा में अपनी मुक्तात्मा के साथ वास्तविक एकता का साक्षात्कार करना है । यह यथार्थ एकता ही अप्रतिबद्ध की अनुभूति है । कान्ट के अनुसार द्वन्द्वन्याय का अभिप्राय केवल शुद्ध-बुद्धि की इस अपर्याप्तता को दिग्दर्शित करना है कि यह मानव-जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की पूर्ति करने में तथा अप्रतिबद्ध की अनुभूति कराने में असमर्थ है ।[३] बुद्धिवादियों का परि-कल्पनात्मक तत्त्व-दर्शन कान्ट के लिए इतना अग्राह्य था कि केवल शुद्ध-बुद्धि मीमांसा

---

१. एमर्मैन,क्लैसिक्स ऑफ़ एनालिटिक फ़िलासफी,पृ० ११२-११३

२. 'कान्ट,क्रिटीक ऑफ़ प्यौर रीज़न,एन०कै० स्मिथ- पृ० ३२७

३. वही,पृ० ३०६,३०७,३२४

में ही नहीं वरन् अन्य दो मीमांसाओं तथा प्रोलिगोमिना आदि में वे अत्यन्त आग्रहपूर्वक यह प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नशील हैं कि ज्ञान केवल गोचर विश्व को ही प्रगट करता है और जब यह आलोचनात्मक रूप धारण करता है तब केवल अपनी सीमा को ही जान सकता है। यह सीमा ही अप्रतिबद्ध है, शुद्ध-बुद्धि इसे बिना जाने हुए ही इसके विषय में केवल चिन्तन कर सकती है।[1] जब उदाहरण रूप में कान्ट यह कहते हैं कि चेतना की अतीन्द्रिय एकता केवल एक तार्किक एकता है तब वह वस्तुत: इसका अपकर्षण नहीं करते हैं। इस प्रकार वह इस चेतना की एकता को एक तार्किक आदर्श के रूप में मान्यता दे कर एक सर्वोच्च प्रशस्ति या श्रद्धा ही प्रदान करते हैं।[2] उनके चिन्तन का निषेधात्मक पक्ष केवल इसी बात को स्पष्ट करता है कि यह चेतना की एकता एक तार्किक सिद्धान्त मात्र है, इसकी सत्तात्मक अनुभूति ज्ञान में नहीं हो सकती है।[3] यही कारण है कि इस बात की मांग के अर्थ में कि आत्मा एक तात्त्विक सत्ता के रूप में ज्ञात हो; कान्ट की प्रथम मीमांसा अपने में अभावात्मक रह जाती है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। कान्ट की द्वितीय व तृतीय मीमांसाएं अपने स्वरूप में अधिक भावात्मक तथा तात्त्विक हैं, परन्तु यह भावात्मकता आत्मा के मौलिक स्वरूप से सम्बन्धित है तथा उस अनुभूति की द्योतक है जो प्रयोजनात्मक व रुचिप्रधान है। इसीलिए हमारे शोध-प्रबन्ध का प्रथम भाग कान्ट के दर्शन में उस द्वन्द्व-न्याय की विवेचना से सम्बन्धित है, जो हमें शुद्ध-बुद्धि, व्यावहारिक बुद्धि तथा निर्णय-बुद्धि मीमांसाओं में मिलती है।

यहां इस तथ्य का समर्थन करना अनुपयुक्त न होगा कि द्वन्द्व-न्याय के क्षेत्र में कान्ट की प्रमुख सफलता प्रामाणिक रूप से यह दिखाने में रही है कि बुद्धिवादी दार्शनिकों की ज्ञान-केन्द्रित सत्ता मीमांसा की स्वीकृति भ्रमास्पद है। इस ज्ञान-केन्द्रित सत्तामीमांसा की पूर्ण अभिव्यक्ति स्पिनोज़ा के नीतिशास्त्र में

---

१. कान्ट, क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न, एम०के०स्मिथ, पृ० २७

२. वही, पृ० १५५-५६, ३७०

३. वही, पृ० ३७०, एच०डब्लू०कैशिरर, कान्ट्स फ़र्स्ट क्रिटीक, पृ० २५२

उस स्थल पर प्राप्त होती है जहां उन्होंने ज्ञान की समस्या के साथ नैतिकता की समस्या का तादात्म्य स्थापित किया है।[1] अपूर्णता या अशुभ को ज्ञान की अस्पष्टता के रूप में समझाने का प्रस्ताव किया गया है।[2] अत: ईश्वर-साक्षात्कार के आकांक्षी को सावधान करते हुए स्पिनोज़ा का यह कथन है कि किसी भी ईश्वर प्रेमाकांक्षी को अपनी बुद्धि के उस विकार को दूर करना होगा जो मिथ्या ज्ञान का मूल कारण है।[3]

बुद्धिवादी दार्शनिकों में स्पिनोज़ा के सर्वश्रेष्ठ विचारक होने के बावजूद भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह स्पिनोज़ा की ही दर्शन परम्परा थी जिसका अत्यधिक विस्तृत विवेचन हमें लाइबनीज तथा वुल्फ आदि के मतागृही दर्शन के रूप में प्राप्त होता है। आगे चल कर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम इस बात का पर्यावलोकन करते हैं कि बुद्धिवादियों की दर्शन व्यवस्था में सत्तामूलक तर्क कितना अधिक व्यापक है।[4] इसी तर्क के विरुद्ध द्वन्द्व-न्याय को आधार बनाने में कान्ट का लक्ष्य तर्क-बुद्धि की प्रतिष्ठा को केवल कम करना ही नहीं है वरन् नैतिकता की समस्या से ज्ञान की समस्या को अलग करना भी है। इस सन्दर्भ में कान्ट का केन्द्रीभूत सिद्धान्त पक्ष यह है कि आध्यात्मिक साध्य के रूप में पूर्णता की प्राप्ति ज्ञान में नहीं हो सकती है, किन्तु नैतिकता में तथा भावात्मक अनुभूतियों में ही हो सकती है। अर्थात् जो ज्ञान में संभव नहीं है वह व्यवहार व अनुभूति में सम्भव है। ऐसा मालूम होता है कि कान्ट ने द्वन्द्व-न्याय का प्रयोग इसी तथ्य को दर्शाने के लिए ही किया है कि नैतिकता व ज्ञान का समीकरण असंगत है।

कान्ट और शंकराचार्य की द्वन्द्वन्यायात्मक युक्तियों के विवरण को प्रस्तुत करने में हमारा प्रमुख उद्देश्य इस विचार-स्थिति का मण्डन करना है कि शंकर के

(स्वरीमेन)

१. स्पिनोज़ा, एथिक्स, पृ० २०३

२. वही, पृ० २०३-४

३. वही, पृ०२६३

४. कान्ट, क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, एन०कै०स्मिथ, पृ० ५००

अद्वैत दर्शन में उत्कृष्ट रूप से प्राप्त ज्ञान व नैतिकता की समता[१] ही वह विश्वसनीय एवं उदात्त उपाय है, जिसके प्रकाश में हम ज्ञान के प्रति कान्ट के अविश्वास को समझने का एक नव-प्रयत्न कर सकते हैं । इस प्रकार का प्रयत्न करना वांछित भी है । कारण यह है कि कान्ट ने ज्ञान के क्षेत्र को विश्वास के क्षेत्र से विभक्त करने के लिए ज्ञान की सीमा का निर्धारण किया । इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने द्वन्द्व-न्याय प्रणाली का उपयोग किया । ऐसा प्रतीत होता है कि कान्ट ने ज्ञान से वस्तुगत स्थिति में विषयों का ही ज्ञान समझा, क्योंकि नैतिकता अन्य विषयों के बीच एक विषय नहीं है, नैतिक अनुभूति की कोटि अतीन्द्रिय है । जो इन्द्रिय-अनुभवातीत है, वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है । उसकी प्रतिष्ठा तो केवल विश्वास में ही की जा सकती है । इस सम्बन्ध में हमें अपने विवेचन के औचित्य के पक्ष में यही कहना है कि कान्ट के द्वन्द्वन्याय का प्रयोजन ज्ञान की सीमा को निश्चित करना था, जिससे वह विश्वास के क्षेत्र को प्रसारित करते, किन्तु ऐसा करने में उन्होंने अपने निष्कर्षों को एक ऐसी पूर्वमान्यता पर आश्रित किया जो परीक्षण पर खरी नहीं सिद्ध होती है । पूर्व मान्यता के घटक इस प्रकार के हैं :--

(१) जो ज्ञेय है, वह बुद्धिगम्य है और जो बुद्धिगम्य है, वह विषय स्थिति में इन्द्रियानुभूति प्रदत्त सामग्री है, और (२) जो अतीन्द्रिय है, वह ज्ञेय नहीं है । इस पूर्वमान्यता के अनुसार अतीन्द्रिय-सत्ता, ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है । अपने इस निबन्ध में हम यही दिखलाना चाहते हैं कि ज्ञान का एक अविषयक स्वरूप है । इस स्वरूप में अतीन्द्रिय-सत्ता या स्थिति का ज्ञेय होना किसी व्याघात का द्योतक नहीं है । जब स्पिनोज़ा ने अनैतिक आचरण को अज्ञान का पर्याय मात्र माना तब उनके विचार में नैतिक आचरण अतीन्द्रियता से रिक्त नहीं है । अर्थात् नैतिकता का साम्राज्य विषय जगत का साम्राज्य नहीं है । उनके दर्शन में भी वह अविषयी संज्ञा है । परन्तु ऐसा नहीं है कि जो अविषयी संज्ञा है उसका ज्ञान हो ही नहीं सकता है । स्पिनोज़ा में ईश्वर का बौद्धिक-प्रेम इस प्रकार के ज्ञान का उदाहरण है । हो सकता है कि स्पिनोज़ा के अनुवर्ती बौद्धिक विचारधारा बौद्धिक विचारधारा अनुयायी दार्शनिक उनकी परम्परा को परिवर्धित कर रहे थे, परन्तु ज्ञान की जिस विवेचना को उन्होंने प्रस्तुत किया उसमें स्पिनोज़ा के दर्शन का बाह्य बौद्धिक ढांचा मात्र ही रह गया था । उसमें उनके दर्शन के चिन्तन की

---

१. टी०आर०वी०मूर्ति, दी रैशनल बेसिस ऑफ़ अद्वैतिज़्म फ़िलासॉफ़िकल क्वार्टर्ली १९४३ पृ० ५६-६१

आध्यात्मिक गहराई न थी । यह कहना कि बुद्धि सब कुछ जान सकती है,पर्याप्त नहीं है । लाइबनित्स और वुल्फ के इस दावे में विवेचन की ऐसी अपर्याप्तता निहित है जिसके कारण कान्ट ने उनके दार्शनिक दावे को मताग्रही बतलाया और इसी कमी को दिखलाने के लिए ही उन्होंने द्वन्द्वन्याय का प्रयोग किया । परन्तु हमारा कहना यह है कि कान्ट की यह धारणा ज्ञान की अपूर्ण विवेचना का फलमात्र है । यदि हम कान्ट की द्वन्द्व-प्रणाली के प्रयोजन की समीक्षा शंकर के दर्शन के प्रकाश में करें तो हमें ज्ञान को उस संकुचित अर्थ में ग्रहण करने का आग्रह दूर हो जायेगा,जिसके कारण कान्ट ने ज्ञान-क्षेत्र और विश्वास-क्षेत्र के बीच एक भारी दीवाल खड़ी कर दी है । अतीन्द्रिय-सत्ता अवेद्य होने पर भी अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता से युक्त है[1] । एक विस्तृत अर्थ में ज्ञान के अन्तर्गत वेद्य और अवेद्य यानी विषय रूप में वेद्य एवं अपरोक्ष रूप में अनुभूत सत्ताओं को रखना किसी प्रकार अमान्य नहीं है । अतः यह कहना अमान्य न होगा कि स्पिनोज़ा ही ऐसे पाश्चात्य दार्शनिक दिखलाई पड़ते हैं जिनकी चिन्तन-शैली हमारी भारतीय चिन्तन-शैली के अधिक-से-अधिक समीप है[2] । यह कहना तो एक विवाद-विषय में प्रवेश करना होगा कि स्पिनोज़ा पर प्राच्य विचारधारा का प्रभाव था । परन्तु इनकी चिन्तनधारा का प्राच्य विचारधारा से सामीप्य बताना कोई त्रुटि नहीं है ।

भारत में वेदसम्मत व वेद असम्मत सम्पूर्ण दर्शन परम्पराओं का एक अंतिम आध्यात्मिक प्रतिज्ञा में ही केन्द्रित है[3] । यह प्रतिज्ञा पूर्णता के प्राप्ति की प्रतिज्ञा है[4] । अपूर्णता में सदैव सीमाबद्धता का अर्थ निहित है । पूर्णता मुक्ति है,इसके स्वरूप व अन्तर्विषय को विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से जाना व समझा है । यह मोक्ष,कैवल्य,निर्वाण आदि विभिन्न रूपों में वर्णित है ।

---

१. चित्सुखी,तत्त्वप्रदीपिका (उदासीन संस्कृत विद्यालय ग्रन्थमाला)पृ० १६

२. स्पिनोज़ा,एथिक्स,पृ० १६६

३. बेट्टी हाईमान,फ़ेशेट्स ऑफ़ इंडियन थॉट,पृ० १४१

४. वही,पृ० १४२

इस शोध-प्रबन्ध में शंकर के द्वन्द्वन्याय को भी विवेच्य विषय बनाया गया है, क्योंकि इसी के द्वारा हमें यह प्रमाणित करने का सुअवसर प्राप्त होता है कि शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन ही समस्त भारतीय दर्शनों का बीजमन्त्र है। अतः यह कहा जा सकता है कि उनका अद्वैत दर्शन उन सभी सीमित दृष्टिकोणों से युक्त दर्शनों की एक आलोचना व औचित्यता का निरूपण है, जो ज्ञान को नैतिकता से पृथक करने के लिए प्रवृत्त है[१]। विभिन्न भारतीय दर्शन व्यवस्थाओं की आलोचना के लिए प्रयुक्त शंकर की अद्वैत युक्तियां यह व्यक्त करती हैं कि इन सम्प्रदायों के सत्तामूलक ढांचे व इनके आंशिक दृष्टिकोणों को औचित्यता प्रदान करने के लिए वह प्रयत्नशील थे। शंकर ने अपने तर्कपाद में जिन सम्प्रदायों की आलोचना की है, उन दर्शन-सिद्धान्तों का दुर्बल पक्ष उनका भेद-दृष्टि से युक्त होना ही है। पूर्णता केवल अभेद दृष्टि में ग्राह्य है। अभेद ज्ञान ही अतिश्रेष्ठ ज्ञान है, किन्तु अतिश्रेष्ठ ज्ञान होते हुए भी यह नैतिकता और आध्यात्मिक मूल्यों के उत्कृष्ट तत्वों से रिक्त नहीं है।

किसी भी विशुद्ध व प्रामाणिक दर्शन-व्यवस्था की भांति शंकर के दर्शन में भी द्वन्द्वन्याय तर्क का एक प्रकार है, जो युक्तियुक्त रूप में स्वीकृत एक तत्वमूलक प्रतिज्ञा के स्वरूप से अनुगमित होता है। शंकर के अद्वैत का तत्व-दर्शन अद्वैतवादी तार्किक प्रतिज्ञा के लिए ही आधारस्वरूप प्रतिष्ठापित होता है। इसका अर्थ है मुमुक्षु का अपनी सत्ता को एक ऐसी अनन्त सत्ता में विलीन कर देना जिसमें किसी प्रकार का भी इतरभाव या अन्यत्व नहीं है। सम्पूर्ण इतर भावनाएं हमारी विकृत बुद्धि द्वारा उत्पन्न होती हैं। जैसा कि हमें विस्तृत करने का एक सुअवसर प्राप्त होगा, हम यह देखेंगे कि इस विकृत बुद्धि का मूल तत्व विषयी-विषय के द्वैत में निहित है। इसी द्वैत के अन्तर्गत ही साधारणतः हम निवास करते हैं,

---

१. पूर्णता ही परम पुरुषार्थ है, यही नैतिकता का अन्तिम लक्ष्य है। अभेद में जो अद्वैत की स्थिति है उसमें सत्ता और पूर्णत्व एक ही हैं। अतः परमार्थिक ज्ञान में और पूर्णत्व में जो परम पुरुषार्थ है उसमें कोई अन्तर नहीं है। केवल द्वैत एवं भेद भावना में केन्द्रित दर्शनों के अन्तर्गत ही ज्ञान की समस्या और नैतिकता की समस्या विरोध है।

चिन्तन करते हैं तथा तर्क करते हैं । हम यह कह सकते हैं कि शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय एक द्विधारी तलवार के समान है, जिसकी एक धार अद्वैत सत्ता अथवा एकमात्र ब्रह्म के रूप में तात्त्विक प्रतिज्ञा को सुरक्षा प्रदान करती है और दूसरी धार अपने उन विरोधी द्वैतवादी, अर्ध-द्वैतवादी एवं सोपाधिक अद्वैतवादी दर्शनों की तात्त्विक कमियों को प्रदर्शित करती है, जो कहीं-न-कहीं व्याघातयुक्त पायी जायेंगी । यह आलोचना चाहे मीमांसा, वैशेषिक, जैन, बौद्ध आदि दर्शनों की हो, चाहे सांख्य, पांचरात्र आदि दर्शनों की, हमें यही स्वीकार करना होगा कि शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय केवल अपने प्रतिपक्षियों की प्रबल उपेक्षा का साधन मात्र नहीं है । शंकर एक वैतण्डिक नहीं हैं, द्वन्द्वन्याय का प्रयोग वे न तो एक ऐसे कुतर्क के रूप में करते हैं जो बिना किसी सिद्धान्त-पक्ष का मण्डन किये, प्रतिवादियों के नयदूषण में ही समाप्त हो जाता है और न तो उनका प्रयोजन प्रतिपक्षी को पराजित करने का ही है । अतः उनका तर्क या द्वन्द्वन्याय जल्प कोटि का भी नहीं है । उनका तर्क वाद कोटि का द्वन्द्वन्याय है । इसमें युक्ति का स्वरूप ऐसा है कि जिज्ञासुओं को विचार के माध्यम से अद्वैत तत्त्व का स्पष्टीकरण उपलब्ध हो सके । यदि ऐसा ही है तो यहाँ सहज रूप से एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब सर्वत्र अद्वैत का ही राज्य है तब विशुद्धि एवं स्पष्ट करने का अवसर ही कहाँ है, क्योंकि स्पष्टीकरण या तो स्वार्थपरक होता है या परार्थपरक जब कहीं भी अन्यत्व, द्वैत अथवा इतरभाव है ही नहीं, तब आलोचना का अवसर कहाँ है ? एक प्रतिवादी की आलोचना एवं उसका खण्डन सदैव अन्यत्व के रूप में ही ग्रहण किये जा सकते हैं ।

हमारी धारणा यह है कि अद्वैतवादी शंकर का संघर्ष व प्रतिवाद किसी से नहीं है, क्योंकि अन्तिम विश्लेषण में प्रतिवाद सर्वदा ही अन्यत्व की अपेक्षा करता है और अद्वैतवाद में किसी भी प्रकार के अन्यत्व के लिए स्थान नहीं है । हमने अपने इस शोध-प्रबन्ध में यह दिखाने का प्रयास किया है कि अद्वैतवादी शंकर के विरुद्ध इस प्रकार की सभी शंकाएं सैद्धान्तिक स्तर पर अविचारणीय हैं ।.

अद्वैत दार्शनिक शंकर की समस्त युक्तियां निष्कर्ष में इस बात का संकेत करती हैं कि वस्तुत: वह इन समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों के शत्रु व प्रतिवादी नहीं हैं। प्रकाश अन्धकार का शत्रु नहीं है क्योंकि प्रकाश के भाव में अन्धकार का अभाव होता है अर्थात् जहां प्रकाश होता है वहां अन्धकार होता ही नहीं है। तब या अन्धकार अपने आप में कुछ है ही नहीं, अन्धकार में घड़ा केवल प्रकाश के द्वारा ही जाना जा सकता है। अन्धकार का अपने में अनस्तित्व इस अर्थ में है कि यह प्रकाश का अभाव है। इस प्रकार के समस्त दर्शन, जिनकी आलोचना शंकर करते हैं, स्वयं-सिद्ध एवं स्वयं पर्याप्त होने का दावा करते तो हैं, परन्तु उनका यह दावा अपने में असिद्ध है। उनका स्वत्व उनकी उस कमी का द्योतक मात्र है जो 'अद्वैत ब्रह्मन्याय' के प्रकाश में दृष्टव्य है। स्वप्रकाश वैशारद्य अद्वैत की आत्मवादी प्रतिज्ञा से अन्यथा कहीं भी उपलब्ध नहीं है[१]। अद्वैतवादी ऐसी किसी भी पूर्वमान्यता से युक्त नहीं है जिसे इच्छानुसार परित्याग कर दिया जावे तथा इच्छानुसार स्वीकार कर लिया जावे। यह किसी एक प्रकार के दार्शनिकों के लिए सुविधाजनक तथा किन्हीं अन्य प्रकार के दार्शनिकों के लिए असुविधाजनक परिकल्पना मात्र नहीं है। अतः अप्रतिबद्ध-केन्द्रित होने के अर्थ में ही स्वयं-प्रकाशित तथा स्व-दीप्तिमान है। इसी स्वप्रकाश तत्व का आवरण

---

१. हमारा यह कथन मताग्रही नहीं है। हम अद्वैत को निर्विवाद कह के उसे अन्य दर्शनों से ऊँचा सिद्ध करना नहीं चाहते हैं। हमारे कहने या न कहने से अद्वैत की निर्विवादिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अद्वैत विवादरहित इसलिए नहीं है कि हम अद्वैत के अनुयायी होकर उसकी प्रशंसा कर रहे हैं वरन् इसलिए है कि अद्वैत तत्व से किसी का भी विरोध तभी संभव हो सकेगा जब कोई उसके बाहर हो या उससे इतर हो। यह सर्वव्यापी एवं अनन्त है, इसीलिए यह कान्ट के अप्रतिबद्ध के समान है अर्थात् जिसका ओर है न छोर।

आच्छादित होना ही अन्धकार है । शंकर द्वारा अनुमोदित अद्वैतवाद स्पष्ट एवं अनिवार्य रूप से अद्वैत,अप्रतिबद्ध अनन्त तत्त्व की ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता के रूप में स्वीकार करता है । अद्वैतेतर दार्शनिक व्यवस्थाएं अद्वैत सत्ता को बीजमन्त्र के रूप में स्वीकार न करते हुए भी अपनी सम्पूर्ण प्रतिज्ञाओं में उस प्रशान्ति व आनन्द को प्राप्त करना चाहती हैं जो इन व्यवस्थाओं द्वारा मोक्ष, कैवल्य के रूप में वर्णित है । अद्वैतवादी शंकर द्वन्द्वन्याय के प्रयोग द्वारा केवल यह परिलक्षित कराना चाहते हैं कि विभिन्न दर्शन जीवन के विवक्षित लक्ष्य के रूप में स्वीकृत व समर्थित परम पुरुषार्थ मोक्ष को ही भ्रान्तरूप में ग्रहण करते हैं । अद्वैत के अतिरिक्त अन्य दर्शनों का मोक्ष बन्धन के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यद्यपि उन सब ने इसका प्रतिपादन व समर्थन इतनी कुशलता से किया है कि वह बन्धन के रूप में नहीं दृष्टिगत होता अपितु मोक्ष या कैवल्य ही प्रतीत होता है । जब बन्धन मोक्ष के रूप में प्रतीत होता है,तब यहां यह पूछा जा सकता है कि कौन किसके द्वारा आवृत है और वस्तुत: क्या प्रतीत होता है ? इस सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि जो आवृत है वह मोक्ष ही है,जो प्रतीति में है वह बन्धन है । अत: मुक्ति से अलग होना सम्भव नहीं है,अप्रतिबद्ध से विमुख होना असम्भव है । केवल इसी अनन्त सत्ता की अनुभूति ही परम पुरुषार्थ या अन्तिम लक्ष्य है । इसी का श्रवण,मनन व निदिध्यासन निर्देशित एवं वांछनीय है ।

द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी अपनी समस्या का पुन: अवलोकन करते हुए हम कह सकते हैं कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत दार्शनिक युक्ति के रूप में द्वन्द्वन्याय किसी दर्शन-व्यवस्था,दृष्टिकोण अथवा दार्शनिक सिद्धान्त का केवल खण्डन नहीं करता है,क्योंकि खण्डनात्मक योजना अपने में साध्य नहीं हो सकती है । द्वन्द्वन्याय की आलोचना के लिए आलोचना प्रयोजनहीन है । सारयुक्त आलोचना का एक ही अविवादित प्रयोजन हो सकता है,वह स्व-परिशुद्धि का प्रयोजन है,अन्य प्रेरणाएं

---

१. आलोचना का विवादरहित प्रयोजन चेतना की स्व-परिशुद्धि है । इस प्रकार की ज्ञान मीमांसा हमें अद्वैत में ही नहीं वरन् पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोज़ा के "ट्रैक्टेटस डीइम्प्रूवमेन्टस"में भी मिलता है । स्पिनोज़ा के इस लेख की हम शंकर के अध्यास निरूपण से तुलना कर सकते हैं ।

व दृष्टिकोण परिणाम की दृष्टि से सारहीन है । यदि हम बाह्य पक्ष से आलोचना करते हैं तब हम अपने आलोच्य विषय से बाह्य एवं पृथक् हो जाते हैं । आलोच्य दार्शनिक व्यवस्थाएं भी अपने विचार-विषय की किसी विशेष प्रतिज्ञा पर आधारित करती[1] हैं और यह प्रतिज्ञा उनके द्वारा पहले से ही स्वीकृत होती है, इसकी प्रामाणिकता को भी निर्विवाद रूप से स्वीकार करती है । जब हम उनकी आलोचना करते हैं, तब अपनी प्रतिज्ञा की स्थिति के अनुसार अपने विशेष दृष्टिकोण से उनकी आलोचना करते हैं । प्रत्येक दर्शन की प्रतिज्ञा ही उसका अपना बीजमंत्र होता[2] है । विभिन्न प्रतिज्ञाएं एक दूसरे को प्रामाणिक या अप्रामाणिक नहीं बना सकती[3] हैं । इसलिए यदि शंकर किसी विशिष्ट वाद से प्रेरित हैं तो वे किसी अन्य वाद की आलोचना केवल बाह्य दृष्टि से ही कर सकते हैं और ऐसा करने में वह आलोचना के वास्तविक अभिप्राय को समझने में असफल होंगे तथा उनकी आलोचना मात्र एक अनर्गल अभिलाप ही सिद्ध होगी ।

इस शोध-निबन्ध में अपनी युक्तियों व व्याख्या द्वारा हम इसी तथ्य को दर्शाना चाहते हैं और इसी का समर्थन भी करना चाहते हैं कि अद्वैत दार्शनिक-व्यवस्था अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में एक दर्शन-सम्प्रदाय नहीं है । ऐसा केवल प्रतीत होता है कि वह भी विभिन्न सम्प्रदायों के बीच एक सम्प्रदाय है । यद्यपि अद्वैत अन्य दर्शनों में एक दर्शन की भांति प्रतीत होता है किन्तु फिर भी हम यह कह सकते हैं कि विलक्षण रूप से यह एक प्रकट व मुक्त दर्शन है, एक बद्ध या अप्रकट दर्शन नहीं है । यह इस अर्थ में मुक्त है कि यह अन्य विरोधी दर्शनों को अपने सिद्धान्त की शरण में आने के लिए बाध्य नहीं करता है । यह उन्हें इन तथ्यों से अवगत कराना चाहता है कि--(१) उनकी व्यवस्थाओं में एक अन्तर्भूत विरोध है, अर्थात् अपनी प्रतिष्ठित प्रतिज्ञाओं के प्रसार में वे आत्म-व्याघात को ही प्रगट

---

१. दि लाइफ डिवाइन, श्री अरविन्द, पृ० ४४३

२. डा० जे०एन० चब्ब ने अपने १९५६ के इंडियन फिलासॉफिकल कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में इसे किसी भी दर्शन का प्रस्थान-बिन्दु या 'क्राइटीरीयन कॉन्सेप्ट' कहा एक दर्शन विशेष के अन्तर्गत उसकी सभी तार्किक श्रृंखलाओं को यही 'क्राइटीरीयन-कान्सेप्ट' वैध या अवैध प्रमाणित करता है ।

३. वही, पृ० ८-९

करती है। चार्वाक के अतिरिक्त प्रत्येक भारतीय दर्शन का अभिलक्षित केन्द्र-बिन्दु मोक्ष ही है परन्तु इसी मोक्ष की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में ही समस्त दर्शन मतभेद रखते हैं। इसे हमने अपने निबन्ध के उस अध्याय में स्पष्ट किया है, जिसमें शंकर द्वारा की गयी अन्य दर्शनों की आलोचना का उल्लेख किया है।(२) मोक्ष के रूप में वर्णित अपनी प्रतिज्ञाओं से सम्बन्धित भ्रान्ति-निवारण के साथ ही ये विभिन्न भारतीय दर्शन व्यवस्थाएं अपने विरोध, अपारदर्शिता एवं आणविक पृथकता के बोध से युक्त हो जाते हैं। लाइबनित्स के चिद बिन्दुओं की भांति ये विभिन्न भारतीय दर्शन व्यवस्थाएं गवाक्षहीन एवं बन्द हैं, किन्तु यह तो केवल उनकी प्रत्यक्ष बाह्य स्थिति है। इस पहलू विशेष से शंकर का अद्वैत दर्शन भी एक बन्द दर्शन है और किसी भी अन्य भारतीय दर्शन की भांति इसे भी एक गवाक्षहीन बिन्दुबिन्दु के रूप में प्रतीत होना चाहिए। परन्तु यहां हम यह उपलक्षित करना चाहते हैं कि ये विभिन्न दर्शन अपनी प्रतीति में आणविक पृथकता से युक्त होते हुए भी एक पूर्वस्थापित सामंजस्य से युक्त है। लाइबनित्स के चिद्बिन्दुओं से भारतीय दर्शन के इस सादृश्यानुमान को और अधिक विकसित करके हम इस बात का उचित रूप से समर्थन कर सकते हैं कि उनके चिद्बिन्दुवाद में उपलब्ध परम चिद्बिन्दु की भांति शंकर के अद्वैत दर्शन को भी एक परम चिद्बिंदु के रूप में ग्रहण करके हम यह कह सकते हैं कि अद्वैत दर्शन ही वह परम चिद्बिन्दु है जो अन्य बन्द चिद्बिन्दुओं की भांति प्रतीत होने वाले विभिन्न भारतीय दर्शनों में पूर्वस्थापित सामंजस्य स्थापित कर सकता है। लाइबनित्स ने अगोचर के तादात्म्य सिद्धान्त[1] पर ही चिद्बिन्दुओं की अनेकता को प्रदर्शित किया है।[2] इसके अनुसार कोई भी दो चिद्बिन्दु समान नहीं हो सकते हैं, समान होने पर वे एक ही होंगे। परन्तु यह सिद्धान्त इन दो परिणामों से युक्त है--(१) चिद्बिन्दु अनेक हैं, असंख्य हैं और प्रत्येक चिद्बिन्दु अपने आप में बन्द है और उसकी कोष्ठता उसके सीमित व सान्त स्वरूप की द्योतक है, उसकी यह सीमा उसके क्रियात्मक,

---

१. यह लाइबनित्स के दर्शन के प्रिन्सिपल ऑफ़ आइडेंटिटी ऑफ़ डिसर्निबल्स का हिन्दी रूपान्तर है।

२. लाइबनित्स, चिद्बिन्दु विद्या (हिन्दी रूपान्तर, हिन्दी समिति, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, १९६७) पृ० १३८

भावात्मक तथा ज्ञानात्मक समर्थता की है । (२) सीमित चिद् बिन्दुओं की अनेकता तथा उनकी अपनी अपूर्णता केवल तभी अर्थयुक्त होती है जबकि हम इस पूर्वमान्यता को स्वीकार करें कि उन चिद् बिन्दुओं में प्रत्येक चिद् बिन्दु अपने क्रियात्मक व ज्ञानात्मक पहलुओं में सीमित होते हुए भी अनन्त चिद्बिन्दु की स्वसीमितता मात्र है । लाइबनित्स के तत्वदर्शन का चित्रणयुक्त ढांचा एक असीमित चिद्बिन्दु के अभाव में ढह जाता है । यह असीमित एवं अनन्त चिद्-बिन्दु स्व-सीमा की शक्ति से युक्त है । कार्य की दृष्टि से स्व-सीमा के सिद्धांत को दो पहलुओं में देखा जा सकता है :-- (१) अस्तित्व के पहलू में और (२) ज्ञान के पहलू में । स्व-सीमा का यह सिद्धान्त एक अभावात्मक तत्व है । जिस प्रकार सर्प स्वयं अपनी पूंछ को नहीं निगल सकता है, जिस प्रकार नट स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता है, अग्नि स्वयं को नहीं जला सकती है, उसी प्रकार यह अभावात्मक तत्व अर्थात् स्व-सीमा की शक्ति परम चिद्बिन्दु को प्रभावित नहीं कर सकती है । निर्गम के आधारों की भांति परम चिद्बिन्दु किसी भी सीमा या आच्छादन से ग्रसित नहीं होता, किन्तु निर्गमित पदार्थों की भांति सीमित चिद्बिन्दु एक यथार्थ सीमा से ग्रस्त होते हैं । किन्तु विभिन्न रूपों में प्रतीत होने वाली इन सीमाओं के परोक्ष में तत्व क्या है ? यह तत्व आत्मा या चेतना है और उस आत्मा की सम्पूर्ण विश्व-अभिव्यक्तियां ही चिद्बिन्दु कहलाती हैं । आत्मा में वे सब एक हैं । उनके बीच एक पूर्वस्थापित सामंजस्य है, क्योंकि वे विभिन्न आकारों में मूर्तिमान समान आत्म-चेतनाएं हैं ।

उपरोक्त साम्यानुमान हमारे इस शोध-प्रबन्ध में प्रस्तावित दृष्टिकोण को भलीभांति स्पष्ट करता है । इसके प्रकाश में हम शंकर द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मन्याय का यथार्थ मूल्यांकन प्रस्तुत कर सकते हैं । अद्वैत तत्व जो आत्मा, ब्रह्म इन विभिन्न नामों से प्रख्यात है, वह सकल नानात्व के स्रोत, स्थिति एवं लय का आधार है । आत्मा या ब्रह्म के रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार से मनोनीत अद्वैत ही भारतीय दार्शनिक विचार का अधिष्ठान है । जबकि हम भारतीय चिन्तन में नानात्व को अस्वीकार नहीं करते तथा उसका प्रतिवाद भी नहीं करते, किन्तु फिर भी हमने प्रस्तुत निबन्ध में यह दिखाने का एक सामान्य प्रयत्न किया है कि शंकर द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मन्याय का एकमात्र अभिप्राय हमारे समक्ष उस उद्गम की चेतना

या अधिष्ठान की धारणा को प्रदर्शित करना है जिसे ब्रह्म या मोक्ष का नाम दिया गया है । इस तत्व को शास्त्र-सम्मत तथा शास्त्र-असम्मत दोनों ही भारतीय दर्शन किसी-न-किसी प्रकार स्वीकार करते हैं । अद्वैत तथा अद्वैत-इतर भारतीय दर्शनों में एक यथार्थ विरोध नहीं है । सब अद्वैत-इतर दर्शन अद्वैत दर्शन की फलकियां मात्र हैं । केवल इसी दृष्टिकोण से हमने अपने निबन्ध के उत्तरवर्ती अध्यायों में द्वन्द्वन्याय की समस्या पर विचार करने का प्रयत्न किया है । अतः न तो हम अद्वैत वेदान्त से इतर विभिन्न प्राच्य व पाश्चात्य दर्शनों का प्रत्याख्यान करते हैं और न तो हम एक अन्धानुगामी की भांति इसके जीव, जगत व ब्रह्म-सम्बन्धी कथनों का समर्थन ही करते हैं। हम केवल इसी तथ्य का निर्देश करना चाहते हैं कि शंकर के दर्शन में लक्षित परमार्थ ही, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है और जो अवेद्य होते हुए भी अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता से युक्त[1] है, भारतीय दर्शन के चिन्तन का अभिप्रेरक एवं मार्ग-प्रदर्शक बन सकता है । ऐसा कहना इस अर्थ में उपयुक्त है कि सभी भारतीय दर्शन एक आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर गतिशील हैं । इस लक्ष्य की प्राप्ति ही बन्धनग्रस्त जीव को सुशान्ति प्रदान कर सकती है । अद्वैतवादी द्वन्द्वन्याय-शैली वह अमोघ अस्त्र नहीं है जिसका प्रयोग हम कुशलता से विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों का खण्डन करने के लिए कर सकें । प्रतिपक्षी के खण्डन में ये सारगर्भित प्रश्न विद्यमान हैं कि वह प्रतिद्वन्द्वी कौन है, वह हमसे किस प्रकार इतर है और हम उसे इतर क्यों मानें ? यदि मैं भ्रान्त हूं तो मुझको छोड़ कर मेरा इतर और कौन हो सकता है ? अविद्या से आच्छादित अपना प्रतिपक्षी मुझसे बड़ा कौन है, इस अविद्या का तिरोधान ही विवक्षित लक्ष्य है । इस तिरोभाव में ही भेद दृष्टि का लय होना पाया जाता है । इस अविद्या का हटना ही जीव का ब्रह्म से साक्षात्कार हो जाना है, अर्थात् अपने अभेद स्वरूप को जान लेना है ।

'अयम् आत्मा ब्रह्म' तथा 'तत्त्वमसि' इन दो श्रुतिवाक्यों का अर्थ समान है । दर्शन की किसी भी परम्परा में 'अहम्' और 'त्वम्' का द्वैत असामरस्य है ।

---

१. तत्त्वप्रदीपिका, उदासीन संस्कृत विद्यालय ग्रन्थमाला, पृ० १६

ज्ञान में सब एक है, परन्तु ज्ञान क्या है ? यह एक बोध है । यह आत्म-बोधक है, और तत्क्षण अनेक विधियों से स्वयं अपने निषेध का भी प्रकाशक है । अज्ञान का जो कुछ भी रूप हो, यह निश्चित ही है कि यदि अज्ञान का रहस्य खुल जाने के बाद ज्ञान का रास्ता सीधा है । अज्ञान के तिमिर का तिरोधान एवं ज्ञान का उदय एक ही चेतना के दो पहलू हैं । अज्ञान के तिरोधान की संभावना इसी में निहित है कि अज्ञान का आश्रय भी ज्ञान में ही है । यह ज्ञान एक ही सत्य का द्योतक है जिसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है । इन अभिव्यक्तियों की अनेकता भी एक ही सत्य से प्रकाशित होती है, वह सत्य स्वयं प्रकाश एवं स्वयं ज्योति है[1] । हमारी विवेचना का विषय अर्थात् शांकर-वेदान्त में द्वन्द्वन्याय का अभिप्राय अन्य दर्शनों का खण्डन करके उन्हें निर्वचनता को प्राप्त करा देना नहीं है । इसका प्रयोजन तो एक ही है, अर्थात् अस्वस्थ विचार शैली को उसके व्याघातों का प्रदर्शन कराके उसे पुन: स्वस्थ बना देना है । अस्वस्थ एवं विकृत विचार शैली को संयत एवं पुष्ट बनाने का अर्थ उसको बौद्धिक अन्तर्दृष्टि में परिणित करना है । यह बौद्धिक अन्तर्दृष्टि न तो कान्ट के दर्शन का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है और न तो प्रयोजनवादियों की अर्थक्रियापरक अन्तर्दृष्टि ही है, न तो संकल्पवादियों का भिन्न-विकल्पात्मक प्रत्यक्ष ही है । यह अद्वैत दर्शन की अपरोक्षानुभूति है । शंकर के दर्शन की परम देन बुद्धि की भर्त्सना करने में निहित नहीं है वरन् बुद्धि को एक ऐसी क्षमता प्रदान करने में है जो इन्द्रियों के अभाव में अपरोक्ष ज्ञान की कुशलता से युक्त है और जो बुद्धि-विकल्पों का अतिक्रमण करते हुए वस्तुतत्त्व सत्ता को निर्भ्रान्त होकर जानती है । इसकी तुलना में कान्ट की असफलता केवल उनके उस दुराग्रह में निहित है जिसके कारण वह बुद्धि को अन्तर्दृष्टि की क्षमता प्रदान करने के लिए तैयार नहीं है[2] । इसीलिए उनके द्वन्द्वन्याय ने ईश्वर और मनुष्य के बीच एक अमिट विभाजक-रेखा खींच दी है । इस विभाजन-रेखा के फलस्वरूप ही ईश्वर बौद्धिक अन्तर्दृष्टि से युक्त है, जबकि

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् २-३-६ " अत्रायं पुरुष: स्वयं ज्योति: । "
२. वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट (एक्सट्रैक्ट्स) पृ० ३८

मनुष्य में इस प्रकार की क्षमता का सर्वथा अभाव है। इसी कारण कान्ट के दर्शन में ज्ञान का परिसीमन होना विश्वास की अपेक्षा का द्योतक है। शंकर के दर्शन में आत्मा एवं परमात्मा परमार्थत: दो नहीं हैं। अद्वैत ही परमार्थ है। अद्वैत में न कोई विभाजन है और न इसमें किसी भेद के लिए ही स्थान है। द्वैत तो व्यवहार की स्थिति में ही मान्य है। परमार्थ में द्वैत का लय ही विवक्षित है। द्वैत का आभास बुद्धि की विकृत क्रियाशीलता का चिह्न है। इस विकृत स्थिति की परिशुद्धि में द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं है जैसा कि 'दि हेरिटेज आफ़ शंकर' में श्री एस०एस० राय ने लक्षित किया है।[1] सम्मान्यता की स्थिति के अनुसार ज्ञान के एक प्रकार के रूप में तत्व-मीमांसा के प्रति कान्ट की विमुखता इस बात का द्योतक है कि एक संश्लेषणात्मक प्रागनुभव केवल दैशकालिक है और परिलक्षित संवेदनाओं तक ही सीमित है। संश्लेषणात्मक प्रागनुभव एक प्रतीकात्मक आयाम से भी युक्त है, यह आयाम त्रिकालीन एवं अतिदैशीय है और यह आत्मा या चेतना का आयाम है। इसका क्षेत्र विषय-विषयी के द्वैत पर व्यावहारिक रूप से समर्थित वस्तु-सत्ता के क्षेत्र से परे है।[2]

इस प्रकार जो कुछ भी हमने व्यक्त किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इस अनुशीलन में हमारा लक्ष्य युक्तियों के माध्यम से कान्ट तथा शंकर के दो आध्यात्मिक दर्शनों को प्रस्तुत करना है। एक दूसरे के विपरीत इन दर्शनों पर सन्देह प्रकट न करते हुए हमारा प्रस्ताव केवल यह है कि ये दो दर्शन, दो आध्यात्मिक-सांस्कृतिक चेतनाओं की अभिव्यक्तियां हैं। इनमें से प्रत्येक अपनी पूर्वमान्यता पर आधारित है तथा अपनी पूर्वमान्यता को एक निर्विवाद अप्रश्नित प्रतिज्ञा के रूप में ग्रहण करता है। कान्ट की दार्शनिक चेतना 'सीमावस्थित'[3] है जबकि शंकर की दार्शनिक चेतना 'अनन्तोन्मुखी'[4] है।

---

१. श्री एस०एस० राय, दि हेरिटेज ऑफ़ शंकर, पृ० १७६

२. वही, पृ० १८०-१८१

३. वही, पृ० १७७

४. इस सम्बन्ध में हमें श्री एस०एस० राय की 'दि हेरिटेज ऑफ़ शंकर' में

इस शोध-निबन्ध के प्रारम्भिक अध्याय में हमसे इस बात की अपेक्षा करना स्वाभाविक है कि हम कान्ट और शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय के कार्य को प्रस्तुत करने से पूर्व पाठकों को इस तथ्य से अवगत करावें कि द्वन्द्वन्याय क्या है,पूर्व तथा पाश्चात्य दर्शनों में यह किस प्रकार विकसित हुआ है ।

निम्नलिखित प्रकार का उल्लेख मिलता है,जिसे हम बिना हिन्दी में रूपान्तर किये इसलिए उद्धृत करते हैं जिससे भाषान्तर के कारण अर्थ परिवर्तित न हो जावे :--

"...Kant's agnostic pronouncement, in respect of the knowledge of the unconditioned, was more in consonance with his philosophical heritage than his claim that the unconditioned is realisable in moral practice. Even moral practice is a matter concerning the conditioned aspect of existence. If a claim is made on behalf of Kant that in moral life one is on way to the realization of the unconditioned, such a claim cannot be substantiated. The clinging on to the definite, the determinate and the coherent, is so great in Kant's metaphysic of existence, that any claim purporting to an actualization of the unconditioned, either at the level of knowledge, or at the level of moral practice, must remain a pseudo-claim only, for the simple reason that Kant's thinking, having in its make-up, the entire cultural heritage of the limit-riddled thinking of the West, makes it impossible for him to turn towards the indefinite and the limitless as the land of heart's desire. The indefinite is axiologically inferior to the definite in a cultural consciousness of this nature. How and why, then, does he at all talk of the unconditioned? Not because the unconditioned is, in any vital sense, the goal of either knowledge or moral practice, but because the unconditioned helps better to systematize knowledge and moral life. Metaphysics in Kant remains at best only a means to an end. Such an end, in the aspect of cognition, consists in the attainment of a consciousness that extends our knowledge, without losing the character of necessity, In the aspect of morality, it is the attainment of virtue wedded to happiness. And if this is so, the Kantian criticism of metaphysics stands more than well-explained. A reformulation of the Kantian critique of metaphysics would, therefore, need a reformulation of the entire motive for philosophizing. So long as philosophical thinking persists in what we have described as the objective attitude, there will be an irresistible or even a logically

पाश्चात्य चिन्तन में इसका प्रारम्भ ग्रीक दर्शन से होता है तथा कान्ट, हीगल और ब्रेडले के दर्शनों में यह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है। भारतीय दर्शन में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग केवल शंकर के अद्वैत दर्शन, शंकरोत्तर दर्शनों एवं अद्वैत
अपितु बौद्ध, जैन, मीमांसा, न्याय तथा नव्य-न्याय व अन्य शेष दर्शनों में भी किया गया है
अनुयायी दर्शनों में ही नहीं किया गया है। अपना विनम्र निवेदन यह है कि हमने द्वन्द्वन्याय का एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। यहां इसका विस्तृत विवेचन एक निरर्थक प्रयास होगा। अतः इस परिचयात्मक विवेचन में हमने निम्नलिखित समस्याओं का विवरण प्रस्तुत किया है।

---

inevitable tendency towards the cherishing and adoring of the definite and the limited, So long, indeed, metaphysics will only have a status, ancillary to science. Only in a consciousness, that has transcended the objective attitude, does metaphysics come to its own. In the Advaita, however, we come across an initial turning away from the limited and the determined. The preferential attitude, in which Advaitism is conceived, is disinclined towards a n adoring of the limited and the relational. No amount of systematization of the content af relational awareness, either in the cognitive or the conative situation, can reconstruct the fulness of the atmanic

पाठकों के समक्ष अपने प्रसंग विषय के एक प्रारम्भिक स्वरूप को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से हम निम्न अनुच्छेदकों पर ध्यान देने का प्रयत्न करेंगे --

(१) यह स्पष्ट करना कि द्वन्द्वन्याय का केन्द्रीभूत प्रयोजन क्या है तथा विभिन्न प्रकार के द्वन्द्वन्याय अपने इस प्रयोजन को किस प्रकार पूरा करते हैं ?

(२) द्वन्द्वन्याय की एक आदर्शात्मक या प्रातिमानिक स्थिति में क्या करना चाहिए,अर्थात् इस स्थिति में इससे क्या अपेक्षित है ?

---

experience. How can the limited and the determined be made to look like the limitless and the indefinite? And even if it is made to look like it, we should not forget that the mere factof 'looking like it' is not enought. ~~Is it~~ It is not yet that which, in its unlimited visage, absorbs and cancels all limits. It makes unerring sense to say that the limited implies the limitless as its basis, but it is puzzling indeed to think how the limitless could ever lapse into limit. Such a puzzlement is the ground of the metaphysical attitude, and in a really metaphysical attitude, there is no place for ever entertaining the notion of themeaninglessness of the metaphysical truth."

द्वन्द्वन्याय का केन्द्रीभूत महत्व :

द्वन्द्वन्याय जिसे हमने पाश्चात्य शब्द 'डायलैक्टिक' के पर्याय के रूप में स्वीकार किया है अपनी शब्द-व्युत्पत्ति के अनुसार 'संवाद' का सूचक है । यह संवाद किसी से भी हो सकता है । संवादकर्ता से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति से भी संवाद हो सकता है अथवा सन्देहों से युक्त होने के कारण संवादकर्ता अपने से भी संवाद कर सकता है । हो सकता है कि वह बाधा एवं कठिनाइयों से युक्त होकर स्वयं अपने दृष्टिकोणों को स्वीकार न कर पा रहा हो, फलस्वरूप अपने आपको ही वादी, प्रतिवादी बना लेता हो । इससे यह अनुमित होता है कि द्वन्द्वन्याय एक 'संवाद' या 'कथोपकथन' है जिसमें एक या अनेक विरोधपूर्ण स्थितियों की आलोचनात्मक परीक्षा की जाती है । इस संवाद-सम्बन्धी आलोचनात्मक परीक्षण का प्रमुख लक्ष्य एक विशिष्ट स्थिति में निहित विरोधों का निरूपण है । परन्तु यह अनिवार्य रूप से सत्य नहीं है कि द्वन्द्वन्याय एक विशिष्ट स्थिति का परीक्षण उसके विरोधों को अभिव्यक्त करने के लिए ही करता है । एक संवाद के रूप में विमर्शित द्वन्द्वन्याय समान आधार पर संवाद के लिए दो पक्षों द्वारा प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु यह समस्त सिद्धांतों को समग्र विचार रचनाओं तथा इस प्रकार की सम्पूर्ण स्थितियों की केवल आलोचना नहीं हो सकता है । सम्पूर्ण द्वन्द्वन्यायात्मक दर्शनों में यह तथ्य सामान्य है कि वे सब के सब अपने लक्ष्य में 'आलोचक' होते हैं । आलोचना के लिए एक प्रतिवादी अपेक्षित है । ऐसा भी संभव हो सकता है कि प्रतिवादी इस खण्डन की प्रवृत्ति पद्धति में समान रूप से दक्ष न हो, और इसलिए वह अपने विरोधी द्वारा प्रदर्शित आलोचना की आधीनता भी स्वीकार कर ले । परन्तु संवाद में यदि वह भी समान आधार पर भाग लेने वाला हो, तो वह भी अपने प्रतिसंवादी को अपने तर्कों द्वारा मात करने का प्रयत्न करेगा । विचार के अन्तर्भूत दोषों का एक पूर्ण साक्षात्कार किसी भी व्यक्ति का ध्यान इस ओर आकर्षित कर सकता है कि वह विचार-रचनाओं व कृतियों के रूप में प्राप्त सम्पूर्ण सिद्धान्तों पर संशय करने लगे और इस प्रकार द्वन्द्वन्याय आलोचना के लिए आलोचना के रूप में स्वीकृत दर्शन बन सकता है । इससे सिद्ध होता है कि द्वन्द्वन्याय अधोलिखित उद्देश्यों में से किसी एक उद्देश्य से युक्त हो सकता है :--

विजय की ओर बढ़ता है तथा दूसरा पराजय की ओर । यह विजय- पराजय वाक्-चातुर्य पर अधिक निर्भर है । किस कुशलता से शास्त्रार्थ हो रहा है,इसी पर यह संवाद-शैली आधारित है । किन्तु संवाद के इस प्रकार के शास्त्रार्थ में जय-पराजय के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है,क्योंकि इसमें भी मूलभूत पूर्वमान्यताएं अस्पृश्य रह जाती हैं । बुद्धिवाद ने अनुभववाद की आलोचना की तथा अनुभववाद ने बुद्धिवाद की । इस प्रकार सब की रुचि केवल अपनी-अपनी चिन्तन-परम्परा को पृथक्-पृथक् चिरस्थायी बनाये रखना था । एक दर्शन-व्यवस्था दूसरी दर्शन-व्यवस्था के विरुद्ध स्थापित होती है,या यों कहिए कि एक दर्शन-परम्परा का प्रतिपादन दूसरी परम्परा के विरुद्ध होता है । समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक जी०ई०मूर द्वारा की गयी `विज्ञानवाद` की समीक्षा भी यथार्थवाद के नाम की विजय पताका ही तो है ।

(स)ऐसा भी संभव हो सकता है कि एक तार्किक अपने प्रतिवादी पर विजय प्राप्त करके तथा उसे निरुत्तर कर देने के पश्चात् अपना कोई मण्डन पक्ष न रखता हो । इस प्रकार के तार्किक का लक्ष्य केवल सम्पूर्ण विचार दृष्टियाँ या सम्पूर्ण चिन्तन व्यवस्थाओं की एक आलोचनात्मक परीक्षा करना हो सकता है[2] । परन्तु ऐसा क्यों है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि विचार की समस्त कोटियां सामान्यरूप से संशयग्रस्त एवं अग्राह्य है,फलत: द्वन्द्वात्मक न्याय सभी दृष्टियों की आलोचना में परिवर्तित होकर उन पूर्वमान्यताओं का परीक्षण बन जाता है जो इन दृष्टियों का पोषण करती हैं । इसी प्रकार की आलोचना को माध्यमिक दार्शनिक `प्रसंगापत्ति` के नाम से प्रख्यात करते हैं । प्रसंगापत्ति का गन्तव्य तर्क द्वारा सभी दृष्टियों की शून्यता को प्रदर्शित करने में है[3] । इस प्रकार का द्वन्द्वन्याय हमें पाश्चात्य दर्शन में सैक्सटस एम्पिरीकस और कान्ट के दर्शन में मिलता है । कान्ट का कथन है कि ज्ञान का सम्बन्ध

---

१. जी०ई० मूर, `दि रिफ्यूटेशन ऑफ आइडियलिज्म, माइन्ड १६०३ ।

२. टी०आर०वी० मूर्ति,दि सेन्ट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म पृ० २६४

३. वही,पृ० १२६

गोचर जगत से है अत: वे सब तत्त्व-दर्शन त्रुटिपूर्ण धारणा के द्योतक हैं जो अतीन्द्रिय सत्ताओं का ज्ञान प्रदान करने का दावा करते हैं। अगोचर ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। तार्किक अनुभववादियों की तत्त्व-ज्ञान-सम्बन्धी समीक्षा भी सभी तत्त्व-दर्शनों पर कुछ इसी प्रकार से प्रयुक्त होती है। माध्यमिकों का द्वन्द्वन्याय भी सर्वदृष्टिशून्यता को ही दर्शन का चरम लक्ष्य उद्घोषित करता है। इन दर्शनों में द्वन्द्वन्याय किसी भी तात्त्विक सिद्धान्त की रक्षा करने का अभिप्राय नहीं रखता है क्योंकि तात्त्विक स्तर पर सभी सिद्धान्त विप्रतिषेधों से गरत हैं।[1] अत: यही मान्य होगा कि किसी भी सिद्धान्त के पोषण से हम अपने को अलग रखें। सभी दृष्टियों की शून्यता को ज्ञान लेना ही प्रज्ञा है।[2] दृष्टि-रिक्त होना ही दार्शनिक चेतना का लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति द्वन्द्वन्याय द्वारा ही हो सकती है। ब्रैडले के द्वन्द्वन्याय में भी यही प्रयोजन भलीभांति अभिव्यक्त होता है। महात्मा बुद्ध को भी इस प्रकार की स्थिति का वस्तुत: पूर्वज्ञान था :--

> "वच्छगोत्र पूछते हैं--" परन्तु क्या गौतम की अपनी कोई सिद्धान्त दृष्टि है
> महात्मा बुद्ध जी उत्तर देते हैं-- हे वच्छ। तथागत सम्पूर्ण सिद्धान्त-
> दृष्टियों से मुक्त हैं।[3]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि द्वन्द्वन्याय का गन्तव्य सम्पूर्ण दृष्टियों में अन्तर्निहित स्व-विरोधों को ही परिलक्षित कराना है।

(ब) कुछ ऐसे द्वन्द्वन्याय युक्त दर्शन भी हैं जिनका अभिप्राय उतना निषेधात्मक नहीं है जितना कान्ट, माध्यमिकों तथा ब्रैडले के दर्शनों का। विचार व्याघातपूर्ण हो सकते हैं, किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि विचार में वह क्षमता नहीं है, जिसके द्वारा यह परमार्थत: सत्य सिद्धान्तों का निर्माण कर सके। द्वन्द्वन्याय का उद्भव सत् और आभास के भेद करने में ही होता है। आभास केवल सत् की सीमित परिस्थिति है, इसी को दिखाने में द्वन्द्वन्याय का मुख्य अभिप्राय केन्द्रित है। अप्रतिबद्ध, जो परमार्थत: सत् है, इन सीमाओं की

---

१. टी०आर०वी० मूर्ति, दि सेन्ट्रल फ़िलासफ़ी ऑफ़ बुद्धिज़्म, पृ०-२६७ १३१-३२
२. वही, पृ० ७६५-७६७ -- १४२
३. जे०एन० जक्ब ने १९६५ में इंडियन फ़िलासॉफ़िकल कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में बुद्ध के इन वचनों को मज्झिमनिकाय से प्रस्तुत किया है, आमुख।

कोटि से परे है। इसी से यह परिलक्षित होता है कि विचार अप्रतिबद्ध को जानने में नितान्त ही असमर्थ है। परन्तु यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि विचार अपने स्व-निर्मित सिद्धान्तों में व्याघात किस प्रकार दिखा सकता है। जबकि उसे उस परिस्थिति का कोई भी ज्ञान नहीं है ?

दार्शनिक हीगल का द्वन्द्वन्याय सम्बन्धी दृष्टिकोण अपने स्वरूप में अधिक स्वीकारात्मक है।[1] हीगल के मतानुसार विचार अपने में निहित विरोधों से अकात होता है, किन्तु इसके साथ ही साथ यह आत्म-संशुद्धि की व्यवस्था से भी युक्त होता है। यह विचार प्रक्रिया पक्ष-विपक्ष तथा समन्वय की अपनी त्रिमुखी प्रवृत्तियों द्वारा सम्पूर्ण विरोधों का अतिक्रमण कर जाती है। हीगल का परम तत्व आत्मचेतना से एककल्पित होता है और यह चेतना विचार या प्रज्ञा है। अत: हीगल की दर्शन-व्यवस्था में द्वन्द्वन्याय आलोचना का एक साधन नहीं है वरन् ज्ञान का ही स्वरूप है। यहां स्पष्ट होता है कि हीगल के द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा ब्रैडले के दृष्टिकोण में आंशिक विरोध है। ब्रैडले के अनुसार विचार केवल सत् के स्वरूप का ज्ञान है,[2] यह ज्ञान भी अविरोध के रूप में सत् की कसौटी का ज्ञान है।[3] ब्रैडले के दर्शन का यह अंश पूर्णतया बौद्धिक है तथा हीगलवादी है।[4] किन्तु हीगल तथा ब्रैडले की यह समानता बाह्य है, क्योंकि ब्रैडले ज्ञान के लिए 'विचार के आत्म-हनन' की अपेक्षा[5] की मान्यता देते हैं। इनके अनुसार विचार की क्रिया विषयी-विषय (ज्ञान-ज्ञेय) की आवृत्ति में[6] सम्पन्न होती है इसलिए सत् विचार के माध्यम से ज्ञेय नहीं है। इस प्रकार ब्रैडले

---

१. फ़ाल्केनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न फिलासफी, पृ० ४६०
२. ब्रैडले, ऐपियरैन्स एण्ड रियलिटी पृ० १४३-१४५
३. एसेज़ ऑन ट्रूथ एण्ड रियलिटी, पृ० २१३
४. ब्रैडले, एसेज़ ऑन ट्रूथ एण्ड रियलिटी, पृ० ११७
५. वही, पृ० ११७
६. वही, पृ० १५०-१५१

का दर्शन आत्यन्तिक रूप से द्वन्द्वन्यायात्मक होते हुए भी विचार के नैराश्य में समाप्त हो जाता है और अपरोक्षता[1] द्वारा विशेषित निरपेक्ष ज्ञान के लिए एक दावा मात्र रह जाता है। ब्रैडले का 'परम तत्व' हीगल के परम की भांति एक 'बौद्धिक समष्टि' नहीं है। यह सवेदन समष्टि है जो निरपेक्ष तथा 'अपरोक्ष'[2] है। परन्तु वैचारिक स्तर पर स्वीकृत ब्रैडले का 'परम' आकारिक मात्र है अथवा इसमें सत्तामूलक सामग्री भी विद्यमान है। यहां केवल यह विज्ञाना हो पर्याप्त होगा कि सत् एक निरपेक्ष समष्टि है जो विषयी-विषय के द्वैत से परे है। आलोचक के रूप में ही ब्रैडले दर्शन के प्रति निष्ठा रखते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक वास्तविक सत्ता के निर्मित चित्र को बाधित बताते हैं। अत: इनके दर्शन में कोई भी 'सत्ता मीमांसा'[3] नहीं रह जाती है, प्रमुख रूप से केवल ज्ञानमीमांसा रह जाती है। यह ज्ञान मीमांसा ही यहां द्वन्द्वन्याय है। यह भी अधिकांश में निषेधात्मक है। अत: यह कहा जा सकता है कि विगत समकालीन पाश्चात्य दर्शन परम्परा में आशावादी दार्शनिक केवल हीगल ही हैं, जिनके अनुसार विचार द्विमुखी प्रक्रिया से युक्त है--आलोचनात्मक एवं रचनात्मक। हीगल की द्वन्द्व-न्यायात्मक दर्शन-व्यवस्था के विरुद्ध यही आक्षेप लगाया जा सकता है कि--जब द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अनुसार विचार की गतिशीलता ही इसका प्राण है तब सम्पूर्ण विरोधों के परम समन्वय में क्यों और किस प्रकार विचार की एक स्थायी स्थिति प्राप्त होती है? यह क्यों नहीं संभव होता कि तथाकथित परम की स्थिति भी विरोधयुक्त हो जाय[4]? कदाचित् इस सन्दर्भ निर्देश से ब्रैडले का विचार-पक्ष ही उचित प्रतीत होता है। विचार उस दिशा का निर्देश कर ~~सकताकिस~~ सकता है जिसमें उसके सन्तुष्टि की सामग्री उपलब्ध है। परन्तु उस 'सत्' के घटक विचार-निर्मित नहीं होते हैं जो उसे संतुष्टि प्रदान कर सकता है। कान्ट का

---

1. ब्रैडले, एसैज़ ऑन ट्रुथ एण्ड रियलिटी, पृ० १५०
2. ब्रैडले, ऐपियरैन्स एण्ड रियलिटी, पृ० ४०५
3. ब्रैडले, एसैज़ ऑन ट्रुथ एण्ड रियलिटी, पृ० ३३७
4. जी०आर०जी० म्यूर, ए स्टडी ऑफ हीगल्स लॉजिक, पृ० ३३२-३३
"the inherent duality of human experience is the rock on which Hegel's system, of all are any part of it pretends to flawless finality, suffers total shipwreck"

अभिप्राय यह है कि विचार को सत्य के आकृति की झलक मात्र ही मिलती है,वह सत्य को वस्तुतन्त्र स्थिति में नहीं जान सकता है । आभास केवल आभास है,इसे सत् में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता है[1] । आभास सापेक्ष होने के कारण सीमाग्रस्त है । इसे सत् में रूपान्तरित करना संभव नहीं है[2] । यह रूपांतरण एक असम्भाव्यता है । सत् पर असत् का तथा असत् का सत पर अध्यारोपण होता है,इसी व्यापार से सत के आभास से तादात्म्य भी प्रतीत होता है[3] । माया के द्वारा ही सत् असत् के रूप में असत् सत् के रूप में आभासित होता है । आभास का यथार्थ स्वरूप सत-असत से विलक्षण है,इसलिए यह अनिर्वचनीय है । शंकर की दर्शन-व्यवस्था में द्वन्द्वन्याय का लक्ष्य आभास के इसी स्वरूप को ही दिखाना है । तब सत् क्या है,क्या इसे द्वन्द्वन्याय बता सकता है,यदि नहीं तो सत् को कौन बतावेगा ? इसका निर्विवाद उत्तर है--`श्रुति` । सत् अभेद है,व्याघात-रहित है क्योंकि भेद तो विरोधों से परिपूर्ण है । परन्तु यह अभेद सत् क्या है , कहां है,और कौन है ? द्वन्द्वन्याय इन प्रश्नों को हमारी चेतना में अत्यन्त गहराई तक पहुंचा देता है । इसका प्रमुख कारण यह है कि इन प्रश्नों के उत्तर अप्रतिबद्ध के क्षेत्र में अवस्थित होते हैं और अप्रतिबद्ध तर्क का विषय नहीं है,यह अनुभूति एवं संराधन का विषय है । यह उस अपरोक्ष ज्ञान का विषय है जो अपौरुषेय श्रुतिवाक्यों के अर्थ के साथ सहविस्तृत होता है । उसी की मननात्मक अवतारणा सुतर्क में निवेशित है ।

तर्क तो केवल एक विचार-शैली है,और यह विचार शैली कई प्रकार की हो सकती है[4] । भारतीय न्याय में`कथा के प्रकारों`के रूप में इसका विवेचन

---

१. इस दृष्टिकोण के अनुसार कि सत् सीमायुक्त है तथा सम्पूर्ण आभास सीमाग्रस्त हैं,न तो हीगल का द्वन्द्वन्याय ही आभास को सत् में रूपान्तरित कर सकता है और न तो ब्रैडले के अनुसार आभासों का सम्पूरण एवं पुनर्गठन ही आभास को सत् में रूपान्तरित कर सकता है ।--एपियरेन्स एण्ड रियलिटी,ब्रैडले पृ० ३२५

२. वही,पृ० ३२३

३. वेदान्तसूत्र,जार्ज थीबु,वॉल्यूम (पृ० ६-८)

४. दैखिए,जे०एन०मोहन्ती कॉन्सैप्ट ऑफ फिलॉसफी इन दी प्रोसीडिंग्स ऑफ आल इंडिया फिलासफी सैमिनार,मार्च,१९६५,इसमें वे द्वन्द्वन्याय को तर्कशैली के रूप में परिभाषित करते हैं और इनके अनुसार कोई एक तर्कशैली नहीं है वरन् अनेक तर्कशैलियां हैं ।

मिलता है[1]। जैसा कि ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है,कथा के मुख्य रूप वाद,व जल्प एवं वितण्डा हैं। हम किस प्रकार की कथा को महत्त्व देंगे यह हमारी व्यक्तिगत रुचि एवं संस्कारों से निर्धारित होता है। कथा-चयन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि मनोनीत हो सकती है[2]। किन्तु इसका मनोनीत होना इसके औचित्य का प्रमाण नहीं है। केवल इतने से ही यह तर्कशैली युक्तियुक्त एवं विश्वासोत्पादक नहीं हो सकती है। अत: इस प्रकार की कोई भी तर्कशैली अवांछनीय एवं त्याज्य है जो जिज्ञासुओं को आश्वस्त करने के स्थान पर उन्हें सन्देहयुक्त बना देती है।

इस विषय में अपना विचार व्यक्त करते हुए हम कह सकते हैं कि भारतीय न्यायशास्त्र में विभिन्न कथा के प्रकारों में 'वाद' ही सर्वश्रेष्ठ है। वितण्डा एवं जल्प तर्क को किसी न किसी अर्थ में साध्य मान लेने का दुराग्रह करते हैं। ये दोनों ही तर्क के भ्रान्त स्वरूप हैं। भ्रान्त इसलिए हैं कि वितण्डा व जल्प दोनों ही तर्क शैलियों में तर्क करने वाला दार्शनिक सर्वथा ही इस भ्रम से ग्रस्त होता है कि केवल उसका तर्क ही सत्योत्पादन की क्षमता से युक्त युक्त है। किन्तु उनका यह सोचना अर्थहीन है। अन्तिम विश्लेषण में तार्किक द्वन्द्वन्याय का एक ही सिद्ध साध्य हो सकता है,अन्य सब साध्य असिद्ध हैं। यह सिद्ध साध्य केवल अविद्या को दूर करने में ही लक्षित हो सकता है,क्योंकि एक अविद्याग्रस्त तार्किक ही यह सोच सकता है कि केवल उसी का तर्क अपने में साध्य है और वह अपने ही तर्क द्वारा सत्य का सृजन कर सकता है। यह स्पष्ट है कि तर्क में सत्योत्पत्ति की क्षमता नहीं है,अत: द्वन्द्वन्याय अपने सर्वोत्तम व सर्वग्राही स्वरूप में सत्य का उत्पादक नहीं हो सकता है[3]। सत्य तो सभी चिन्तनों का प्रस्थानबिन्दु है और गन्तव्य भी है। जो त्रिकालाबाधित नहीं है,वह दैशिकालिक स

---

१. देखिए,दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया,वॉल्यूम-३,अध्याय : दि आर्ट ऑफ-फिलॉसॉफिकल डिसप्युटेशन,पृ० ५६२-५६५

२. किसी का स्वीकृत द्वन्द्वन्याय उसकी अपनी अतितार्किक प्रतिभा पर आश्रित होता है

३. देखिए,जे०एन० चब्ब,अध्यक्षीय भाषण,इण्डियन फिलॉसॉफिकल कांग्रेस,१९६६, जिसमें निम्नलिखित कथन हमारी धारणा को पुष्ट करता है :- All thinking in philosophy at the constructive level is the slow and persistent maturation of a basic criterion-concept which is alogical.

है ,इसी का दूसरा नाम मिथ्यात्व है । यदि तर्क सत्य का सृजन कर सकता है तो इससे यही सिद्ध होगा कि ऐसी सृजनात्मक तर्कक्रिया के पूर्व सत्य का अभाव था । किन्तु,जिसका अभाव था उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है,क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती है । अत: सत्य को अनादि, अनन्त,अतिदैशिक व अतिकालिक मान कर ही चलना होगा । सत्य तर्क से सीमित नहीं है । तर्क तो केवल इसी अनादि अनन्त सत्य को एक तार्किक ढांचे में ही पैठने की क्रिया का नाम है[1] । किसी भी तर्क की प्रामाणिकता को यह अनन्त सत्य ही सत्यापित करता है । सभी प्रमाणों का प्रमाण यह अनन्त सत्य ही है । सभी तर्कों का रूप प्रतिबद्धता का द्योतक है अत: यही तर्क सत्य के रूप की बौद्धिक माध्यम में फलक्रियां ही दे सकता है जो अपनी सीमाग्रस्तता के चिन्तन का द्योतक हो । पाश्चात्य दार्शनिक एफ०एच० ब्रैडले ने अपनी पुस्तक `आभास और सत्` में एक बड़े मार्मिक तथ्य का निर्देश किया है । वह कहते हैं कि विचार अपनी अपूर्णता को जानने में उस अनन्त सत् की आहट पाता है जिसमें उसके सभी संशयों का लय और साथ ही साथ उसका भी लय संकेतित है[2] । ब्रैडले के उस कथन का भी यही अर्थ है जिसमें वह सत् की ज्ञानोपलब्धि में विचार के आत्मघात् को वांछनीय बताते हैं । इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि हम तर्क के उस वास्तविक स्वरूप को जानें व समझें जो आभासों के चिन्तन से परे है अर्थात् जो न आभासग्रस्त है और न आभासों की सृष्टि करता है । तर्क का मन्तव्य किसी भी आस्था का परिवर्तन करना नहीं है,उसका प्रयोजन केवल भ्रान्ति का निराकरण करना है ।

---

१. इस कथन का अर्थ यह है कि तर्क द्वारा सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती है । तर्क की प्रामाणिकता अपरोक्षानुभूति या प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध होती है । अत: चिन्तन में एक अतितार्किक दृष्टि का स्पष्टीकरण ही तर्क है । देखिए,श्री अरविन्द, `लाइफ डिवाइन,पृ० ४४०-४४१

२. एफ०एच० ब्रैडले,आभास और सत्,पृ० १४६ ; अनुवादक,डा० फतहसिंह

किन्तु यह तभी संभव हो सकेगा जब बुद्धि अपने विकल्पों की सीमाग्रस्तता को समझ ले।

इस अपर्याप्त भूमिका के अन्त में हमारे लिए यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि हम एक अति संक्षिप्त रूप में अपने तुलनात्मक अध्ययन का प्रयोजन स्पष्ट कर दें। यह तुलनात्मक अध्ययन कान्ट एवं शंकर की द्वन्द्वात्मक तर्क शैलियों का अध्ययन है। वैसे तो इस अध्ययन का प्रयोजन प्रत्येक परिच्छेद में न्यूनाधिक रूप से समापन्न है, परन्तु यहां हमें इन्हीं दो तथ्यों पर प्रकाश डालना है--
(१) शंकर और कान्ट की दार्शनिक तर्कशैलियाँ के मूल आधार दो भिन्न आध्यात्मिक सांस्कृतिक मूल्यों में हैं। इसलिए उनकी तर्कशैलियां दो भिन्न दिशाओं में विकेन्द्रित होती हैं। कान्ट अपनी दार्शनिक मीमांसा का प्रारम्भ ज्ञान के विश्लेषण से करते हैं। ज्ञान को वे सदैव ही 'गोचर की चेतना' के अर्थ में लेते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनके अनुसार विषय-विषयी द्वैत ही ज्ञान का अंतिम सांचा है। जो इस सांचे में नहीं समाता वह ज्ञान के बाहर है। ज्ञान की कमी किसी ऐसी क्रिया या अनुभव में ही पूरी हो सकती है जो ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान की इसी कमी की पूर्ति के लिए शुद्ध-बुद्धि-मीमांसा के बाद कान्ट को व्यावहारिक बुद्धि व निर्णय बुद्धि की अपेक्षा होती है। इसके विपरीत शंकर अपने दर्शन का प्रारम्भ ज्ञान की किसी एक प्रागनुभवी परिभाषा से युक्त होकर नहीं करते हैं। उनके दर्शन का प्रारम्भ ज्ञान के विश्लेषण से नहीं होता, वरन् वह अपनी दार्शनिक मीमांसा को अध्यास के विवेचन से प्रारम्भ करते हैं। यह अध्यास विवेचन ही ब्रह्म-जिज्ञासा को एक ऐसी दिशा प्रदान करता है जिसमें अनेकानेक श्रुतियों के विरोधों का आभास समाप्त हो जाता है। विषय-विषयी द्वैत को स्वीकार करके कान्ट अप्रतिबद्ध के सम्बन्ध में ज्ञान के नैराश्य से ग्रस्त हो जाते हैं। केवल अप्रतिबद्ध में ही प्रतिबद्ध चेतना के नैराश्य एवं निष्फल प्रयत्नों को शांति मिल सकती है। चूंकि कान्ट ने विषय-विषयी द्वैत को ज्ञान के अन्तिम आकार के रूप में स्वीकार कर लिया है, इसलिए वह गोचर के व्यूह से बाहर निकलने के मार्ग का संकेत केवल व्यावहारिक-बुद्धि मीमांसा व निर्णय-बुद्धि मीमांसा में ही देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कान्ट की दार्शनिक चेतना में ज्ञान एवं अप्रतिबद्ध के बीच ऐसी खाई खुदी हुई है जो ज्ञान द्वारा पाटी नहीं

जा सकती है । कान्ट उसे पाटने का मार्ग नैतिक आचरण द्वारा निर्मित करते हैं । यदि कान्ट तार्किक हैं तो उनका ग्रन्थन्याय केवल इसी अभिप्राय से प्रेरित है कि वह यह दिखला सकें कि ज्ञान कितना सीमित है और प्रतिगोचर कितना विशाल एवं असीम है कि वह ज्ञान द्वारा ग्राह्य नहीं है ? यह सम्भव हो सकता है कि ज्ञान के सम्पूर्ण कथन उनके उस आध्यात्मिक सांस्कृतिक चेतना में सिद्ध माना जाये जिसमें कान्ट का दर्शन केन्द्रित है । परन्तु यह अन्तिम सत्य नहीं है किन्तु उसकी अभिव्यक्तियां अनेक हैं । शंकर की वह तर्कशैली और उनका दार्शनिक विवेचन, जिसका प्रारम्भ अध्यास के रूप में विश्लेषण में होता है, भेद दृष्टि के खण्डन से अभिप्रेरित है । हमने अपने शोध-प्रबन्ध में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि शंकर की तर्कशैली एक ऐसी दार्शनिक चेतना को पुष्ट करती है जिसमें ज्ञान और नैतिकता का विरोध समाप्त हो जाता है[१]। यद्यपि भारतीय दर्शनों में भी इस प्रकार का विरोध दृष्टिगत होता है, परन्तु फिर भी हमारी दृष्टि में ये दर्शन शंकर के समीप और कान्ट से दूरस्थ हैं । विविध तार्किक शैलियां विविध तात्त्विक धारणाओं में केन्द्रित हैं, और ये तात्त्विक धारणाएं विभिन्न आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक अनुभूतियों में आश्रित हैं ।

---

१. यदि अपूर्णत्व अशुभ है और पूर्णत्व सर्वोच्च शुभ है तो पूर्णत्व की उपलब्धि ज्ञान के परे नहीं है । अद्वैत वेदान्त के अनुसार अपूर्णत्व अविद्या के कारण है, इसलिए अविद्या का प्रहाण ही पूर्णत्व है । अविद्या की निवृत्ति ही ज्ञान है अत: अद्वैत दार्शनिक परम्परा में नि:श्रेयस् और ज्ञान के बीच कोई विरोध नहीं है ।

अध्याय--२



कान्ट के दर्शन में द्वन्द्वन्याय: शुद्ध बुद्धि मीमांसा

कान्ट के द्वन्द्वन्याय का अपनी भूमिका में परिचय देने के पश्चात् अब हमारा प्रस्तुत विचारणीय विषय यह है कि अनुभवातीत सत्ताओं के क्षेत्र के ज्ञान की अन्तिम तथा सुनिश्चित स्थापना के लिए तत्व-दार्शनिकों द्वारा विकसित व स्वीकृत युक्तियों के पुन: परीक्षण हेतु द्वन्द्वन्याय का प्रयोग क्या है ? जैसा कि कान्ट का कथन है ये अनुभवातीत सत्तारं केवल `प्रज्ञा के प्रत्यय` नामक एक शीर्षक के अन्तर्गत आती हैं[1]। यदि दार्शनिक कान्ट की `वर्गीकरण की योजना` के अनुसार विभिन्न प्रत्ययों का वर्गीकरण किया जाय तो हम उन्हें सुगमता से इन तीन प्रमुख विभागों के अन्तर्गत रख सकेंगे :--

(१) आनुभविक -- हम कह सकते हैं कि ये प्रत्यय अनुभव-प्रसूत सामान्यीकरण के रूप में प्राप्त होते हैं,उदाहरण स्वरूप--श्वेतपन,लालपन आदि ।

(२) अनुभवातीत प्रत्यय-- इनका उद्गम पूर्ण रूप से अनुभव-निरपेक्ष है और ये स्वयं में हमारे लिए अनुभव को संभव बनाने के हेतु एक अतीन्द्रिय पूर्वमान्यतारं है, जैसे--कारणता,द्रव्य इत्यादि ।

(३) अति-अनुभवातीत-- ये न तो अनुभवजन्य सामान्यीकरण रूप हैं और न तो अनुभव को सम्भव बनाने के लिए अनुभवातीत पूर्वमान्यतारं ही हैं[2] । ये ससीम से असीम की ओर तथा सान्त से अनन्त की ओर विचार की कोटियों के विस्तार ही हैं । कान्ट यही विचार करने के लिए प्रवृत्त हैं कि केवल इतना ही युक्तिसंगत है कि `प्रज्ञा के प्रत्ययों` के विषय में,जैसे कि वे हैं,हमें यही कहना होगा कि विश्वास में ही उनका स्थान है[3] । परन्तु जब हम चिन्तन द्वारा इन्हें सिद्ध करने का प्रयास करते हैं तब हमारा यह लक्ष्य एक ऐसा साहसिक कार्य हो जाता है,

---

१. इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न (अंग्रेज़ी अनुवाद एन०के० स्मिथ) पृ० ४८५

२. वही,पृ० २६६

३. ,देखिए,लैविस ह्वाइट बैक,इमैनुअल कान्ट, क्रिटीक् ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ०१३

जिसमें हम इतनी बड़ी पूर्वधारणाओं को अनधिकृत रूप से अपनाते हैं जिनका कोई दृढ़ सम्बल नहीं है[1]। कान्ट द्वन्द्वन्याय का प्रयोग केवल यही दर्शाने के लिए करते हैं कि हमारी प्रज्ञा अप्रतिबद्ध सत्ताओं को व्यावहारिक स्तर पर उपस्थित करने का जो दावा रखती है, वह असत्य है, प्रवंचनापूर्ण है[2]। उपरोक्त विवरण के प्रसंग में हम निम्न विषयों पर विचार प्रस्तुत करेंगे :--

(१) अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ केवल विशुद्ध प्रज्ञा के दावों की व्याख्या करने के उद्देश्य हेतु कान्ट की युक्तियों को संक्षिप्त तथा प्रत्यक्षतया स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना। ये दावे हैं-- (अ) प्रज्ञा का हमें यथार्थ रूप में विषयों का युक्ति-संगत ज्ञान प्रदान करना करना, अर्थात् चैतन्य की एकता का ज्ञान जिसे अनुभव की व्याख्या के लिए स्पष्टतया अनिवार्य तार्किक एकता के ही रूप में नहीं जाना गया है वरन् उसे उस तात्त्विक संज्ञा के रूप में भी समझने की अवश्यम्भावी भ्रान्ति की गयी है जिसे दार्शनिकों ने आत्मन् कहा है[3]।

(ब) हमें ईश्वर-मीमांसा की पद्धति प्रदान करना, जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार निःसन्देह ही तर्क-संगत विचार-विमर्श में है अथवा चिन्तनात्मक शुद्ध बुद्धि में है। स्वाभाविक ईश्वर-मीमांसा का यह दावा हमारे सम्पूर्ण ईश्वर-विषयक ज्ञान एवं खोज को विचार के माध्यम से निर्मित करने की चेष्टा करता है[4]। कान्ट एक निष्पक्ष तथा कड़े आलोचक हैं, विशेष रूप से ईश्वर के स्वरूप तथा सृष्टि से उनके सम्बन्ध को उपस्थितकरने के लिए तर्कना की सामान्य प्रकृति का जो विस्तार है और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तत्त्व-दार्शनिकों

---

१. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ४८५

२. वही, पृ० ४८७

३. वही, पृ० ३७०

४. वही, पृ० ५०६

ने जो विभिन्न युक्तियां निष्पादित की है उनको दृष्टिकोण में रखते हुए कान्ट द्वारा की गयी ` युक्तियुक्त ईश्वर मीमांसा` की समीक्षा को समझना होगा ।

(स) अति सामान्य तथा समष्टि के रूप में सृष्टि का एक समग्र ज्ञान प्रदान करना, जो अति प्राचीन काल से कान्ट के समकालीन समय तक में प्राप्त होता है ।

(२) अब हमें उन युक्तियों की उस प्रकृति को निरूपित एवं निर्दिष्ट करना है जिस रूप में ये कान्ट के द्वन्द्वन्याय को संस्थापित करती हैं और दर्शन के स्वयं के साक्ष्यपूर्ण कार्य के सम्बन्ध में स्थान ग्रहण करती हैं । इसी सम्बन्ध में हम इस प्रश्न पर भी विचार करेंगे कि क्या द्वन्द्वन्याय दर्शन शास्त्र में कुछ पोषित सिद्धान्त की स्थापना करने के हेतु एक साधन है अथवा यह प्रज्ञा का स्वयं पर ही एक समीक्षात्मक पुनर्विचार है, जिसमें प्रज्ञा स्वयं से अतीत किसी प्रयोजन को आगे नहीं बढ़ाती अर्थात् यह केवल अपनी सीमाओं के बारे में ज्ञान देने वाले तर्कों को निर्मित करने का कार्य सम्पादित करती है, इसके परे नहीं जाती है । अत: यहां एक अति विस्तृत दार्शनिक विवेचन[1] की आवश्यकता है । कान्ट के द्वन्द्वन्याय का लक्ष्य दर्शन में सभी रचनात्मक प्रयत्नों की पूर्वमान्यता की आलोचनात्मक परीक्षा ही है । इन विषयों का मनन दार्शनिक युक्तियों की क्षमता तथा प्रामाणिकता से सम्बन्धित विवेचन के मांग की अपेक्षा करता है ।

(३) कान्ट के दर्शन में उनके द्वन्द्वन्याय के उपयोग एवं लक्ष्य के मूल्यांकन का प्रयास करना । यह मूल्यांकन ही पुन: कान्ट के निर्मोक प्रयत्न पर एक सामान्य निरूपण की अपेक्षा करेगा ।

(१) युक्तियुक्त मनोविज्ञान

युक्तियुक्त मनोविज्ञान के दावे की एक तार्किक परीक्षा :

यहां हमें यह जानने का सुअवसर प्राप्त हुआ है कि कान्ट के दर्शन में 'द्वन्द्व-न्याय' और ' समीक्षा' समानार्थक पद हैं । अन्तिम एवं स्वीकृत रूप से किसी तार्कि.

---

१. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ४२२

स्थिति को बिना अपनाये हुए ही कान्ट का प्रमुख लक्ष्य प्रत्येक सम्भव तत्त्व-मीमांसा की पूर्वधारणा की आलोचना करना है।[1] वे तत्त्व-मीमांसा को एक बने-बनाये तैयार तत्त्व-दार्शनिक सिद्धान्त की उपस्थिति के लिए ही एक दावे के रूप में स्वीकार करते हैं और 'अनुभवातीत द्वन्द्वन्याय' में उनका लक्ष्य ही तत्त्व-दार्शनिक स्थिति की असंगतता या अनौचित्यता को ही दिग्दर्शित करना है। कान्ट के पूर्वदर्शन के दावे में से सर्वप्रमुख दृष्टान्त हमें 'युक्ति-युक्त मनोविज्ञान' के सिद्धान्त के प्रतिपादन से ही प्राप्त होता है, जिसकी कान्ट ने सर्वप्रथम परीक्षा की है और उस पर प्रहार भी किया है।[2] आधुनिक दर्शन में इस विचार के उद्गम के ज्ञान के लिए डेकार्ट, लाइबनीज़ तथा बामगार्टेन आदि दार्शनिकों की ओर दृष्टिपात करना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, क्योंकि प्रथम तो ये कान्ट के पूर्व के विचारक हैं और इन्हीं के द्वारा प्रतिपादित 'चिन्तये'-- मैं सोचता हूं' नामक पद की युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के सिद्धान्त की आधारशिला है।[3] 'चिन्तये' का अर्थ है- 'मैं विचार करता हूं।' यही सूत्र कि 'मैं विचार करता हूं' प्रत्येक ज्ञान या बोध की पूर्व-मान्यता है चाहे वह बोध किसी सत्य ज्ञान से प्राप्त हो अथवा किसी सन्देह एवं अविश्वास से प्राप्त हो। कारण कि 'मैं चिन्तन करता हूं' यह सभी प्रकार के बौद्धिक ज्ञान के साथ-साथ अनिवार्यसहवर्तित रूप में कार्य करता है। इससे अपेक्षित रूप में यह भी निगमित होता है कि विचार के अन्तर्वस्तु के संघटक-तत्त्व से 'मैं' जो चिन्तनकर्ता है, उसका एक पृथक् एवं स्वतंत्र अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। यदि चिन्तन करना सचेतन होना है और यदि यह 'सचेतन' होना ही सभी ज्ञान या प्रत्येक ज्ञेय वस्तु की आवश्यक पूर्व-मान्यता है तो यह चिन्तन की प्रक्रिया अपने आप में भी कुछ समझी जानी चाहिए, अर्थात् जो कुछ यह चिन्तन करती अथवा जानती है उससे अलग भी इसका एक अपना अस्तित्व होना चाहिए। इसका तात्पर्य

---

१. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ०६२ ६८-६६

२. वही, पृ० ३२३

३. वही, पृ० ३३०

यह है कि जिन विषयों का यह मनन करती है उनसे स्वतंत्र इसका एक अस्तित्व है। यदि "मैं सोचता हूं; यह 'विषयी' है, और यदि यह सभी वस्तुओं या विषयों की ज्ञातव्यता और बोधगम्यता की अनिवार्य पूर्व-मान्यता है तो इसे किसी निश्चित रूप में अस्तित्वयुक्त होना चाहिए। हम कह सकते हैं कि जिसे यह जानता है, जिसे यह समझता है तथा जिसका यह विचार करता है उनसे पृथक् स्वतंत्र तथा निरपेक्ष रूप में इसका अपना अस्तित्व है। इस प्रकार वह सब जिसे विषयी जानता है उसके अतिरिक्त द्रव्य के रूप में विषयी के अस्तित्व को स्वीकार करना तथा स्थापित करना ही युक्ति-युक्त मनोविज्ञान का दावा है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है, यह युक्तियुक्त मनोविज्ञान विषयी को उन गुणों के साथ प्रतिष्ठित करने का दावा रखता है जिनके कारण एक तत्व सामान्यतया विशेषित एक द्रव्य के रूप में समझा जाय। द्रव्यत्व, गुण, परिमाण तथा सम्बन्ध के पहलुओं में ही विषयी अपनी ऐक्यता को अधिष्ठित करता है। इन कोटियों के अन्तर्गत विषयी को (१) द्रव्य (२) सरल या अमिश्रित (३) एकता (४) सम्बन्ध— (देशगत सम्भाव्य विषयों के साथ इसका सम्बन्ध) के रूप में स्वीकार किया जाता है।[१]

युक्तियुक्त मनोविज्ञान का अधिकृत विषय, जो लाइबनीज़ के पश्चात् एक सिद्धान्त के रूप में विकसित हुआ, यह "मैं विचार करता हूं" इस प्रस्थापना को सामान्यतया चेतना के रूप में स्वीकार करता है। परन्तु यह इसे केवल तार्किक इकाई के रूप में ही पाकर सन्तुष्ट नहीं है जो ज्ञान और ज्ञान की संभावना की व्याख्या के लिए अनिवार्य है वरन् यह मनोविज्ञान द्रव्य के रूप में विषयी के यथार्थ अस्तित्व को प्रतिपादित करता है, और यह विषयी सभी अनुभव से अतीत स्वतंत्र रूप से अस्तित्ववान है। संक्षेप में युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के अनुसार आत्मा या चेतना की एकता केवल एक ज्ञानमीमांसा-सम्बन्धी पूर्वमान्यता ही नहीं है, बल्कि एक आत्म द्रव्य है, वास्तविक है, अस्तित्ववान् है और ऐसे तत्वों से पृथक्

---

१. दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड, जोन वाट्सन, पृ० २४३, एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ३३०

एवं स्वतंत्र है ,जो एक विषय को स्वरूप देने के लिए महत्वपूर्ण है तथा जिसके लिए यह विषयी के रूप में स्थित होता है[१]। यह विषयी यथार्थ एवं सत्य तत्व है। स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि विषयी केवल एक तार्किक पूर्वमान्यता ही नहीं है वरन् यह एक ऐसी सत्ता है जिसका कालगत एवं देशगत अस्तित्व नहीं है। यह कालातीत है,देशातीत है तथा यह विशुद्ध चेतना है,एक ऐसा तत्व है जो निराकार व अरूपम् है अर्थात् जिसकी किसी आकृति में कल्पना नहीं की जा सकती, तथापि यह सत्य एवं वास्तविक है। अत: आज की दार्शनिक भाषा में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि आत्मा की तात्विक स्थिति भावरूपा है। कान्ट के विचारानुसार युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के प्रतिपादक तथा प्रस्तावक विशेष रूप से लाइबनीज़ और वुल्फ़ यह प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं कि ' मैं विचार करता हूं,इस सूत्र से आत्म द्रव्य के वास्तविक अस्तित्व का अनुगमन होता है और जो कुछ भी ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से कहा जाता है वह' चेतना की अतीन्द्रिय अद्वैत एकता ' का विषयगत प्रतिरूप है।

इस प्रसंग के सम्बन्ध में कान्ट अपने द्वन्द्वन्याय द्वारा यही दिग्दर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि यदि विशुद्ध ज्ञाता का अभिप्राय सदैव अहम् को आत्म द्रव्य के रूप में सूचित करना है तो यह तभी संभव हो सकेगा जबकि हम चेतना के इस ऐक्य या अभेद के विषय में प्रागनुभवी संश्लेषणात्मक विभावनाओं की प्राप्ति[२] करेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि चेतना के ऐक्य को,जिसे द्रव्य के रूप में जाना गया है, इन दो प्रतीयमान असंभव मांगों की पूर्ति करनी चाहिए --(१) इसकी अपनी रचना में किसी अनुभव के तत्व का भाव नहीं होना चाहिए। (२) इसके अस्तित्व को ' मैं चिन्तन करता हूं ' इस सत्ता द्वारा अनन्तर रूप में अनुगमित होना चाहिए। जहां तक स्वरूप का प्रश्न है नि:सन्देह ही ' मैं सोचता हूं ' यह एक अनुभव-निरपेक्ष विश्लेषणात्मक वाक्य है और क्योंकि सब अनुभव इसी पर निर्भर रहते हैं इसलिए यह स्वयं अनुभव में या अनुभव द्वारा नहीं प्रस्तुत किया जा सकता[३]। इससे निष्कर्ष

---

१. कान्ट्स फ़र्स्ट क्रिटीक्,एच०डब्लू० कैसिरर,पृ० २४६

२. वही,पृ० ३५३

३. दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट्स एक्सप्लेण्ड,जे० वाट्सन,पृ० २४३
एन०के० स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न पृ० ३६६

स्वरूप यही ज्ञात होता है कि जब इस विषयों के बारे में प्रागनुभवी संश्लेषणात्मक वाक्य संभव होंगे तभी यथार्थ ऐक्य के रूप में हम इसे प्राप्त कर सकेंगे । परन्तु युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के प्रतिपादक एवं अनुभवों से जो इसका पृथक्करण है उसी पर बल देते हैं । केवल यही एक कारण है कि चेतना के ऐक्य में काल तत्त्व से अवरोध करने पर वे ज़ोर देते हैं । शुद्ध आत्मा कालान्तर्गत नहीं है या काल सापेक्ष नहीं है, परिवर्तनशील नहीं है अथवा क्षणिक नहीं है, यह स्वयं ही अपने में सब परिवर्तनों को चिरस्थायी रखता है । काल को इससे पृथक किया गया है । यह सत्य है कि यदि विशुद्ध आत्मा जैसा कोई तत्त्व है तो वह कालातीत ही होगा, काल-सापेक्ष नहीं । चेतना की `तार्किक एकता` जो बोधगम्य रूप में अनुभव के प्रत्येक मनोगम्य या प्रत्यक्ष आधार-सामग्री को प्रतिष्ठित करता है, वह कालरहित है । इस कालातीत या कालरहित तार्किक एकता को एक `तात्त्विक एकता` में कभी भी रूपान्तरित नहीं किया जा सकता । काल से अप्रत्यक्ष होने के ही कारण यह इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता और जो इन्द्रियगम्य नहीं है वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है, और जो ऐसा है उसे तार्किक एकता के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में नहीं जाना जा सकता है[१] । यह केवल एक ज्ञानमीमांसात्मक पूर्वकल्पना ही है। जो ज्ञान-मीमांसा के लिए अनिवार्य है, ऐसे तत्त्व को इस ज्ञान-मीमांसा शास्त्र में एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व के न्याय-असंगत परिचय के बिना अस्तित्वयुक्त रूप में नहीं समझा जा सकता है ।

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान स्वाभाविक रूप से एक भ्रम पर निर्भर है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस युक्ति-युक्त मनोविज्ञान का इन चार तर्कवाक्यों के अनुरूप चार तर्काभासों में लय हो जाता है--(१) आत्मा द्रव्य है । (२) यह अमिश्रित या असंहत् है (३) यह एक या अद्वैत है । (४) अनुभव के सभी सम्भाव्य विषयों के सम्बन्ध में यह अवस्थित है[२] । युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के सब

---

१. दि फ़िलासफी ऑफ़ कान्ट्स एक्सप्लेण्ड, जे० वाट्सन, पृ० ३३७

२. दि क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न (अंग्रेज़ी अनुवाद, एन०के० स्मिथ) पृ० ३३०

अनुमान इस मान्यता पर आधारित है कि चिन्तनकर्ता विषयी ज्ञान का एक विषय बनाया जा सकता है। इसीलिए उनको जानने के लिए शुद्ध सम्प्रत्ययों और बुद्धि-कोटियों का प्रयोग किया जा सकता है।[1] यह अभिहित भाव 'अहम्' या 'मैं' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जिसके लिए बुद्धि-कोटियों का प्रयोग किया जा सके। यह 'मैं' सब अन्तर्वस्तुओं से शून्य है इसीलिए यह किसी अतिरिक्त संकल्प या ज्ञता को स्वीकार नहीं करता। सम्भवतः इस 'मैं' को जाना नहीं जा सकता है, क्योंकि इसे उस विचार से पृथक् प्रदत्त नहीं किया जा सकता जिसके द्वारा यह वस्तु-विषयों को निर्धारित करता है और जिसके अभाव में इसका विचार नहीं किया जा सकता है। यदि इस 'मैं' के सुस्पष्ट स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा जाय तो इसके उत्तर में कोई यही कह सकेगा कि यह सब प्रत्ययों या भावों का सामान्य आकार है जिससे वस्तु-विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। परन्तु अनुभव की इस सामान्य आकृति को ऐसे विषय के रूप में ग्रहण करना, जो विषय अस्तित्वयुक्त हो तथा अनुभव से स्वतंत्र जाना जा सकता हो, केवल विचार की भ्रान्ति अथवा तर्काभास ही है। किसी वास्तविक संश्लेषणात्मक प्रागनुभवी निर्णय को स्वीकार करने के लिए "मैं विचार करता हूं" इस तर्कवाक्य को नहीं निर्मित किया जा सकता।[2] शुद्ध सम्प्रत्ययों या केवल आत्म-चेतना से ही इस प्रकार के निर्णयों को व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता है। केवल प्रत्यक्षलभ्य का ही ज्ञान संभव है। जब सभी अनुभवों का व्यापार प्रतिफलित होता है तो शुद्ध भाव के आधार पर सत्ता को निगमित करने के प्रयत्न में हमें आशातीत सफलता नहीं प्राप्त होती।

अब प्रश्न है कि कान्ट के युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की मीमांसा का अन्तिम अभिप्राय और वास्तविक निष्कर्ष क्या है। वास्तव में कान्ट चेतना की एकता के सम्बन्ध में यह विश्वास करना नहीं पसन्द करते कि आत्मा को सब अनुभवों की अतीन्द्रिय अनिवार्य अवस्था के रूप में समझा जाय। कान्ट ने सत्ताओं का वर्गीकरण

---

१. कान्ट, कारनर, पृ० ११२

२. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ०२४३

(१) परमार्थ (२) गोचर--दो भागों में किया है। अब हमें यह देखना है कि युक्ति-युक्त मनोवैज्ञानिकों के आत्मा का स्थान कान्ट के उपर्युक्त परमार्थ यानी स्वलक्षण और गोचर यानी आभास सत्ताओं में से कहां होता है ? वस्तुत: यह समस्या अत्यन्त जटिल एवं दुरूह है, परन्तु एक बार इसका समाधान कर लेना एक ऐसा प्रयत्न होगा जो युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के विचारकों के दृष्टिकोणों के खण्डन में निहित आवश्यक प्रेरणा को समझने और उसकी मीमांसा के गहन एवं सुस्पष्ट विचारों को समझने में हमारा नेतृत्व करेगा।[1]

यदि हमसे आत्मा या विषयी के बारे में कान्ट की विचारधारा को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त करने के लिए कहा जाय तो हम केवल यही कहेंगे कि कान्ट के विचारानुसार आत्मा का कोई भी तत्त्व-दर्शन नहीं है।[2] युक्ति-युक्त मनोवैज्ञानिक चिन्तकों ने अपने सिद्धान्त में जो भूल की है, वह उस आस्था और विश्वास की एक दुराग्रहयुक्त पुनरावृत्ति है कि--"मैं सोचता हूं" यह विशुद्ध ज्ञाता अनुभव के क्षेत्र में केवल एक तार्किक अतीन्द्रिय अनिवार्यता नहीं है बल्कि यह एक पूर्णतया वियोज्य तत्त्व है। यद्यपि यह प्रत्येक प्रकार से विलक्षण या अद्वितीय है और अनुभव के अत्यधिक बहुसंख्यक अन्तर्वस्तुओं से सम्पूर्णत: भिन्न है, फिर भी निश्चय ही यह एक अनिवार्य तार्किक सिद्धान्त के रूप में नहीं बल्कि स्वयं अपने आप ही अस्तित्वयुक्त सत्ता के रूप में यथायोग्य स्थान रखता है। भौतिक जगत में यह ज्ञाता किसी भी वस्तु से पूर्णतया असमान है यानी वस्तुओं या विषयों का जगत इसके द्वारा जाना जाता है परन्तु उस जगत में यह ज्ञाता सर्वथा अनुपस्थित रहता है। यह विशुद्ध ज्ञाता शून्य में अनिश्चित रूप से ही केवल नहीं स्थित है वरन् युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के समर्थकों के अनुसार यह चिन्तनकर्ता आत्मन् ऐसे विशिष्ट लक्षणों और धर्मों से भी युक्त है जो अनुभव की आधार सम्बन्धी सामग्री या वस्तुओं के उन गुणों से इतर है जो देश-काल में घटित होते हैं तथा बुद्धि के आकारों में

---

१. एन०के० स्मिथ अंग्रेजी अनुवाद, दि क्रिटीक् ऑफ् प्योर रीज़न, पृ० २६५-६६.
२. वही, पृ० ६६४

कोटि विमर्शित होते हैं और बुद्धि के आकार भी चेतना के इस विलक्षण एकता की पूर्व-अपेक्षा रखते हैं[१]। अभिधितता और उभयत्व चेतना की एकता के तार्किक अर्थ में प्रयुक्त होने चाहिए और 'चेतना की एकता' ही 'आत्मन्' है तथा सब अनुभव की अतीन्द्रिय पूर्वमान्यता है। परन्तु कान्ट जो प्रश्न उठाते हैं वह इस तार्किक अर्थ के रूप में ही अनुमानित होने वाले गुणों को आत्मा पर आरोपित करने की प्रासंगिकता तथा तर्क-संगतता के विषय में भी है। युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के विरुद्ध कान्ट द्वारा सुव्यवस्थित एवं स्थापित सम्पूर्ण तर्क इतना अकाट्य और अनिवार्य रूप से वांछित प्रतीत होता है कि कोई भी व्यक्ति कान्ट को तथा युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की आलोचना के प्रति उनकी प्रेरणा को बड़ी सुगमता से समझ सकता है। परन्तु कान्ट के प्रमुख दावे अथवा विवाद को समझ लेने से युक्ति-युक्त मनोवैज्ञानिक चिन्तकों के विषय को समाप्त करने में केवल कोई कठिनाई नहीं होती बल्कि उनके विषय को स्वीकार करने में एक सुस्पष्ट विवेकयुक्त स्वेच्छाचारी झुकाव होता है। युक्ति-युक्त मनोवैज्ञानिक विचारकों की विचार-स्थिति में एक आन्वीक्षात्मक भ्रम निहित है। यह सम्मत है कि 'चेतना की एकता' की मान्यता के अभाव में ज्ञान का कोई भी विवरण तथा स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, परन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें इस 'विशुद्ध तार्किक एकता' अथवा इस ज्ञानमीमांसात्मक रूप-रेखा को एक तात्त्विक स्तर के साथ प्रतिष्ठित करने के लिए एक नियंत्रण में होना चाहिए। इस स्वरूप के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के तरीके में जो प्रमुख व विशिष्ट कठिनाई है वह 'चेतना के एकता' की आकृतिहीनता में निहित है क्योंकि यह 'चेतना' देश व काल से अतीत है, इसीलिए यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान में अप्रवृत्त है। जब युक्ति-युक्त मनोविज्ञान' चेतना के अभेद' को स्थापित करने का दावा करता है तो वह निःसंदेह इसमें भी विश्वास करता है कि यह 'चेतना की एकता' किसी तरह से ज्ञान का विषय बन सकता है। यदि ऐसा है तो वह मनोविज्ञान अप्रत्यक्ष रूप से तथा

---

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ० २४१

अकथनीय रूप में यह भी प्रतिपादित करता है कि ' चेतना की एकता ' आभासित होने योग्य है । कम से कम इसके एक आभास होने में विश्वास किया जाता है । परन्तु यहां एक आभास होने से जिसका केवल विश्वास किया जाता है उसमें हम भेद कर सकते हैं । इस प्रकार युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की भांति किसी भी दार्शनिक विधान में एक भ्रान्ति का होना अनिवार्यतया वांछित हो जाता है । यह भ्रान्ति भी एक आभास के अस्तित्व के रूप में किसी वस्तु पर विश्वास करने में निहित है । विश्वास को ज्ञान से पृथक् नहीं किया जाता है और इसीलिए यहां एक भ्रम उत्पन्न होता है अर्थात् एक भ्रान्ति की स्थिति खड़ी हो जाती है और यह भ्रान्ति अत्यधिक विकृत रूप में अस्त-व्यस्त हो जाती है जबकि ' चेतना की एक तार्किक एकता ' को वस्तु-सत् या स्वलक्षण से समीकृत कर दिया जाता है[१] । स्वलक्षण ही ऐन्द्रिय राशि का अधिष्ठान है जिसकी स्थिति देश-काल को प्रतिच्छेदित करने वाले अक्षांश के पार अंकित की गयी है, और एक ऐसे प्रतिच्छेदन-बिन्दु पर जो वस्तु पायी जाती है वही पुद्गल है । बुद्धि की कोटियों द्वारा स्थापित एवं विमर्शित यह पुद्गल वस्तु पूर्णतया चेतना की एकता के विरुद्ध ज्ञान के विषय अर्थात् आभास के रूप में स्थित होती है । यद्यपि आत्मन् पूर्णरूपेण अप्रत्यक्ष रूप है परन्तु फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि इसका किसी अतीन्द्रिय तरीके से प्रत्यक्ष होता है । क्योंकि विश्वस्त रूप से यह ज्ञात होता है, कि इसीलिए यह एक आभास की अपेक्षा अन्य कुछ नहीं हो सकेगा । यह आत्मन् आभास की कोटि से ही सम्बन्ध रख सकेगा, परन्तु प्रश्न यह है कि यह आभास किस प्रकार का है ? किसी भी प्रकार से इस प्रश्न का उत्तर देने में हमें अलंघ्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा । यदि यह आत्मन् ज्ञान का एक विषय है तो इसे अवश्य ही एक आभास होना चाहिए । परन्तु यह एक आभास नहीं हो सकता, क्योंकि न तो यह अनुभव में प्रस्तुत किया जाता है और न तो इसे अनुभव में प्रस्तुत करने की सम्भावना ही है । पुद्गल वस्तु का अधिष्ठान न हो सकने के कारण यह पारमार्थिक नहीं हो सकता और इन्द्रियनिष्ठ रूप में उपस्थित होने की कठिनाई के कारण यह केवल एक काल्पनिक या छलपूर्ण आभास है । जो न तो एक आभास है और न तो एक सत् है वह केवल

---

१. एम० के० स्मिथ, क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ३२६, ३३०, ३३२

एक तार्किक पूर्वमान्यता ही है । कान्ट के अनुसार आत्मा जो कि अनुभव की सम्भाव्यता का सुदृढ़ आधार है,अपने में अनुभवगम्य नहीं है और न तो यह ऐसी दर्शनीय वस्तु सामग्रियों को उत्पन्न करने में समर्थ है जो कोटिविमर्शणीय है[1] । अत: यह न तो पारिमार्थिक है और न व्यावहारिक या गोचर है परन् केवल तार्किक है[2] । पुन: यह केवल विश्वास का विषय नहीं है बल्कि इसकी तार्किक अनुपस्थिति में अनुभव की असम्भाव्यता के स्पष्ट होने के कारण यह स्वरूप में अतीन्द्रिय है[3] ।

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान प्रमुख रूप में एक यह निष्कर्ष दिग्दर्शित करता है कि इस आत्म-विषयक चिन्तन में अमिश्रित,अद्वैत तथा वस्तुत: अस्तित्वयुक्त किसी भी पदार्थ के रूप में एक आत्मन् की मान्यता की अपेक्षा कुछ भी अधिक निरर्थक और असमर्थनीय नहीं हो सकता । बुद्धिवादी दार्शनिक आत्मा के एक तत्व-दार्शनिक सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करते हैं और चूंकि इस स्वरूप का आत्मन् एक यथार्थ तत्व है इसकारण वस्तुओं में से एक वस्तु की भांति चेतना की यह एकता अनुभव के क्षेत्र में एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति का सामना करती है जो हमें प्रदान की जा सकी है,यद्यपि यह मनोवैज्ञानिक स्थिति आनुभविक स्तर पर मनोवैज्ञानिक तत्वों की प्राप्त स्थिति से मूलत: पृथक् एवं परिवर्तित है । अत: कान्ट के विचारानुसार आत्मा का कोई भी तत्व-दर्शन नहीं हो सकता[4] । यदि वर्ग युक्ति-युक्त मनोवैज्ञानिक चिन्तक कान्ट की उपर्युक्त उक्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे आत्मा का एक समुचित मनोविज्ञान प्राप्त करते हैं और इस मनोविज्ञान के संघटक तत्व आनुभविक रूप से प्रदत्त न होंगे वरन् अनुभव-निरपेक्ष होंगे, तो कान्ट के मतानुसार ऐसा आत्म-मनोविज्ञान केवल एक अति सन्देहपूर्ण स्थिति

---

१. डी०पी० डायर,कान्ट्स सॉल्यूशन फॉर वेरिफिकेशन इन मैटाफिजिक्स,पृ०५०४
२. एन०के० स्मिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न,पृ० ३७०
३. वही,पृ० १३५-३६
४. वही,पृ० ३६६-६७ एवं ३७१

से युक्त होगा, क्योंकि यह एक परिस्थिति को अपरिहार्य बना देता है जिसमें 'मैं सोचता हूं' इस उक्ति द्वारा अभिव्यक्त एक प्रत्यय को स्वयं से परे जाना होगा तथा स्वयं को एक ऐसे विधेय से सम्बन्धित करना होगा जो अनुभव द्वारा प्रदत्त न होकर अनुभव-निरपेक्ष रूप से उत्पन्न होगा। इस प्रकार यह वस्तुतः शब्दों में भी एक व्याघात है। किसी अन्य संक्षिप्त विवरण की अपेक्षा कान्ट की शुद्ध-बुद्धि मीमांसा का निम्न उद्धरण युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की समीक्षा को अधिक स्पष्ट कर देता है--"इस प्रकार विचार में सामान्यरूपेण मेरी आत्मा की चेतना का विश्लेषण, विषय के रूप में मेरी आत्मा के ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ भी प्रकाश प्रदान नहीं करता। विचारसामान्य के सर्वसाधारणीय विवरण को भ्रान्तिवश विषय का परा विद्या सम्बन्धी निर्धारण मान लिया गया है।

यदि प्रागनुभवात्मकतया इस बात को सिद्ध करने की सम्भावना होती कि सब विचार करने वाली सत्ताएं अपने आप में अमिश्रित सरल द्रव्य हैं, और परिणामतः (जैसा उपपत्ति से इसी प्रकार निष्कर्ष निकलता है) व्यक्तित्व उनसे अवियोज्य है, तथा वे समस्त भौतिक तत्त्व से पृथक् अपने अस्तित्व के विषय में चेतना समन्वित हैं तो यह सचमुच ही हमारी समग्र मीमांसा के मार्ग में एक बड़ा भारी रोड़ा होता या इससे भी बढ़ कर एक अनुल्लंघनीय बाधा होती। क्योंकि इस प्रकार से तो हमने ऐन्द्रिय जगत से परे पदार्पण कर दिया होता, हम अतीन्द्रिय तत्त्व के क्षेत्र में प्रविष्ट हो गये होते, और अब इस क्षेत्र में और भी आगे बढ़ते जाने अथवा अ. जाने के हमारे अधिकार का कोई भी विरोध न कर सकता, और जैसे-जैसे प्रत्येक के प्रति उसका भाग्य-नक्षत्र अनुकूल होता जाता तो उस क्षेत्र पर अधिकार करने के विषय में भी ऐसा ही होता। यह प्रस्थापना कि प्रत्येक विचार करने वाली सत्ता, स्वरूपतः एक अमिश्रित सरल द्रव्य है, एक सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक प्रस्थापना है, क्योंकि प्रथम तो वह अपने आधारभूत सम्बोध का अतिक्रमण करता है और विचारणा सामान्य के साथ अस्तित्व के प्रकार को जोड़ देता है, और दूसरे वह इस सम्बोध के साथ एक विधेय (अमिश्रितता) को जोड़ देता है, जो किसी भी अनुभव में दिया हुआ नहीं हो सकता। इस प्रकार सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाएं न केवल (जैसा कि हमारा दावा है) संभाव्य

अनुभव के विषयों के सम्बन्ध में,और वास्तव में इस अनुभव की संभावना के सिद्धान्त के रूप में व्यवहार्य और स्वीकार्य हैं,प्रत्युत वे वस्तु सामान्य और स्वरूपत: सद् वस्तुओं के प्रति भी लागू होती हैं--यह ऐसा परिणाम है जो हमारी समस्त मीमांसा को समाप्त कर देगा और हमको पुरातन पद्धति को स्वीकार करने के लिए विवश कर देगा[१]।"

इस सम्बन्ध में कान्ट के निष्कर्ष को निम्नलिखित विवरण द्वारा स्पष्ट होना चाहिए और उनके निषेधात्मक द्वन्द्वन्याय को यह स्वीकार करके समुचित रूप से आश्वस्त हो जाना चाहिए कि :-

(१) सामान्यतया चेतना स्वयं के द्वारा किसी ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती ।

(२) यद्यपि सामान्य रूप में चेतना ही सब ज्ञान की एक अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकृत की गयी है तथापि इससे सम्बन्धित किसी अन्य विशेष मान्यता या दावे को अस्वीकार करना असम्भव है । यह स्पष्ट रूप से सत्य है कि ऐसी चेतना से पृथक् जिसे हम यथार्थत: सत्तायुक्त जानते हैं,उस रूप में कुछ भी जाना नहीं जा सकता ,यद्यपि यह स्वयं किसी सत्ता की स्थिति के लिए स्वीकार नहीं की जा सकती ।

(३) सामान्यतया चेतना न तो एक प्रतीति या आभास की स्थिति से युक्त है और न तो स्वलक्षण या परमार्थ की स्थिति से युक्त है ।

(४) जब हम अपने आप के ज्ञान अथवा अनुभव से युक्त होते हैं तो हमें प्रकट होने वाला वस्तु-विषय,किसी भी माध्यम से सभी ज्ञान अथवा अनुभव में निहित शुद्ध चेतना के तत्व के समरूप नहीं हो सकता ।

जहां तक प्रथम का सम्बन्ध है वस्तुत: उसे अस्वीकार करना असम्भव है । अन्तिम विश्लेषण में यही कहा जा सकता है कि यह केवल एक प्रतीति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है उपस्थिति करता अर्थात् यह केवल प्रतीति मात्र[२] है ।

---

१. शुद्ध बुद्धि मीमांसा,पृ० ३११-३१२--अनुवादक--भोलानाथ शर्मा

२. एन०के० स्मिथ,दि क्रिटीक आफ प्योर रीज़न,पृ० ३८१

हमने पहले ही आत्म-ज्ञान के सम्बन्ध में कान्ट की स्थिति का विवेचन और विस्तार किया है तथा यह भी देख लिया है कि किस प्रकार 'चेतना की एकता' केवल एक तार्किक इकाई है,इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्त्व नहीं है और ज्ञान की सम्भाव्यता के लिए और ज्ञान के हित में ही इसे उचित रूप से मान्यता भी दी गयी है,परन्तु फिर भी 'अमिश्रितता' तथा अन्य ऐसे गुणों एवं विशेषताओं को प्रदर्शित करते हुए इस चेतना को एक तत्त्व-दार्शनिक द्रव्य के रूप में स्वीकार व प्रतिपादित करना अतर्कसंगत बात होगी। युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के द्वारा दार्शनिक कान्ट जो कुछ भी समझते व प्रतिपादित करते हैं उसके विरुद्ध आज कोई भी दर्शन का विद्यार्थी व गंभीर चिन्तक चाहे वह तत्त्व-दार्शनिक परम्परा में हो अथवा अ-तत्त्वदार्शनिक में हो,किसी मत को स्थापित करने का अथक परिश्रम नहीं करेगा। परन्तु क्योंकि कान्ट स्वयं ही युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के अभिच्छिन्न चिन्तन विषय के नैतिक स्तर पर पुनर्जीवित करने के लिए एक प्रकार की उत्सुकता प्रदर्शित करते हैं, इसलिए कान्ट के सम्पूर्ण विषय पर पुनर्विचार व विवेचन करना तथा यह कहना पूर्णतया अनिवार्य हो जाता है कि आत्मा के तत्त्व-दर्शन जैसी कोई वस्तु नहीं है या अतीन्द्रिय मनोविज्ञान नहीं है जो चेतना की एकता को केवल एक ज्ञानात्मक पूर्वमान्यता के रूप में ही नहीं स्वीकार करता वरन् उसे स्वतंत्रता की अनुभूति और नैतिक अनुभव के नींव और सुदृढ़ आधार के रूप में स्वीकार करता है,जो चेतन तत्त्व नैतिकता का केन्द्रक है।

अतः इस प्रकार अब प्रमुख समस्या युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के अन्तर्गत नहीं है कि कान्ट ने इसे अप्रसिद्ध की तथा सफलतापूर्वक इसका खण्डन किया,बल्कि समस्या उनके युक्ति-युक्त मनोविज्ञान मीमांसा और व्यावहारिक बुद्धि-मीमांसा में इस विषय के बीच निहित है कि आत्मन्,जो नैतिक अनुभूति का आधार है और स्वतंत्रता का एक प्रमुख प्रतीक है,वह केवल एक तार्किक इकाई ही नहीं है वरन् एक सत्तात्मक तत्त्व है।[१]

---

१. जॉन वाट्सन,दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड ,पृ० ३०६

द्वन्द्वन्याय के अन्तर्गत आत्मा की समस्या के कान्ट के प्रतिपादन में एक प्रवंचनापूर्ण उभयभाविता की स्थिति निहित है यानी दो प्रत्यक्षतः परस्पर-विरोधी स्थितियों को समाविष्ट करने वाले एक द्वैत स्वरूप की अनुभूति इस द्वन्द्व-न्याय में प्राप्त होती है --(१) आत्मा कभी भी केवल एक तार्किक सिद्धान्त के अतिरिक्त इससे अधिक कुछ भी नहीं हो सकता, तार्किक सिद्धान्त जैसे-- कारण-कार्य का सिद्धान्त या तादात्म्य का सिद्धान्त, जो विचार की अन्तर्वस्तुओं की व्याख्या तथा उनको अर्थपूर्ण एवं महत्वपूर्ण बनाने के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। (२) और यह आत्मन् एक ऐसी सत्ता के साथ प्रतिष्ठित होने की अपेक्षा रखता है जो अप्रतिबद्ध है तथा इस कारण सर्वथा पूर्ण मुक्त भी है। परिणामस्वरूप विदित होता है कि ये दो प्रतीयमानतः व्याघातपूर्ण स्थितियां एक ओर तो `ज्ञान की समस्या` तथा दूसरी ओर `नैतिकता की समस्या` के कान्ट के प्रतिपादन के बीच एक गहन गर्त या खाई उत्पन्न कर देती हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या हम `शुद्ध-बुद्धि मीमांसा` में आत्मा की समस्या के प्रतिपादन की `व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा में आत्मा की समस्या` के साथ अविच्छिन्न रूप में ग्रहण करते हैं? इन दो परिस्थितियों में कान्ट का निष्कर्ष इस प्रकार का है--(१) निःसन्देह आत्मा एक `चेतना की एकता` है परन्तु क्योंकि यह शुद्ध स्वरूप के अतिरिक्त किसी भी वस्तुरूप में अज्ञेय है इसलिए एक तात्त्विक सत्ता की भांति किसी भी वस्तु रूप में इसको परिकल्पित एवं स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। यदि यह एक तात्त्विक सत्ता हो सकती तो इसे एक वस्तुगत सामग्री के रूप में प्रदेय होना चाहिए। परन्तु जिस क्षण यह इस वस्तुगत सामग्री के रूप में समझा जाता है उसी क्षण यह बुद्धि-कोटियों द्वारा निर्धारित विषय बन जाता है। यदि यह आत्मन् ऐसा ही है तो `आत्म-चेतना की एकता` अपने उस अतीन्द्रियात्मक गुण को खो देता है, जिससे बुद्धि-कोटि प्रवाहित व निर्धारित होते हैं और ऐसी दशा में यह `चेतना की अतीन्द्रियात्मक एकता` सापेक्ष और प्रतिबद्ध बन जायेगी। यदि यह अतीन्द्रिय ही रहती है तो इसे अनिर्धारित होना चाहिए। इस प्रकार कान्ट `चेतना की एकता` को `तार्किक एकता` की अपेक्षा किसी अन्य स्थिति के साथ प्रतिष्ठित करने में एक कठिनाई का अनुभव करते हुए अपने को असमर्थ पाते हैं। परन्तु फिर भी यह एक अन्तिम स्वरूप नहीं है जिसमें आत्मा की समस्या अपने आपको `अतीन्द्रिय एकता`

के रूप में कान्ट के समक्ष उपस्थित करती है । ज्ञान के स्तर पर जो कुछ पाना असंभव है उसी को नैतिकता के स्तर पर या नैतिक अनुभव में सम्भव तथा व्यवहार्य दिखाया[१] है। यही कारण है कि कान्ट 'चेतना की एकता' का 'शक्ति' के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं, जिसका 'प्रथम ज्ञान-मीमांसा' में अभाव है । यह शक्ति इच्छा-शक्ति है । इस पहलू में चेतना की एकता शुद्ध बुद्धि के साथ एकरूपित नहीं की गयी है । इसे 'व्यावहारिक बुद्धि' अथवा 'नैतिक इच्छा-शक्ति' के साथ एक-रूपित करना है जो अन्तिम विश्लेषण में अनिर्धारित है । निर्धारित इच्छा-शक्ति नैतिक इच्छा-शक्ति नहीं है, इसीलिए कान्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि मुक्त रूप में आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप है तथा विशुद्ध इच्छा-शक्ति से अभिन्न[२] है । अनैतिकता ही अपूर्णता है । यह एक अत्यन्त अनिवार्य मूल्य 'मुक्ति' के विनाश का निर्देश करता है । किसी प्रकार की सीमा से स्वतंत्रता ही 'मुक्ति' है ।'मुक्ति' एक निरपेक्ष अथवा परम अनिर्धारण है । नैतिक इच्छा-शक्ति के अभ्यास द्वारा इस अपूर्णता को विजित करना है एवं समाप्त कर देना है ।

यदि हमें आत्मा के स्वरूप और स्थिति के सम्बन्ध में कान्ट द्वारा प्रस्तुत प्रथम मीमांसा के निराशाजनक निष्कर्ष और द्वितीय मीमांसा के अति उत्साहवर्धक उत्साही व आशाजनक निष्कर्ष के बीच की खाई को पाटना ही है तो इसके लिए कान्ट को सम्पूर्ण समस्या एक पुनर्स्थिति-निर्धारण की अपेक्षा रखती है । ऐसा ज्ञात होता है कि प्रथम मीमांसा में विशेष रूप से द्वन्द्वन्याय में कान्ट लाइबनीज़ के युक्ति-युक्त मनोविज्ञान से छुटकारा पाने का अथक एवं उद्वेलित प्रयास करते हैं । द्वन्द्वन्याय में जिन बुद्धि-कोटियों को आत्मा से छीन लिया गया था, कान्ट उन्हीं नैतिक बुद्धि-कोटियों को पुन: आत्मा को वापस करने का प्रयत्न करते हैं । हमारे विचार में वह 'ज्ञान की समस्या' का 'नैतिकता की समस्या' के साथ सामंजस्य स्थापित करने में असफल एवं असमर्थ रहे । नैतिकता केवल एक स्वीकारात्मक स्तर पर ही आधारित है । ज्ञान की समाप्ति हमारे जानने की सीमा की चेतना के

---

१. लैविस ह्वाइट बैक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० १४ .
२. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लैण्ड पृ० ३०८-३१३

साथ ही हो जाती है । कान्ट की विचारधारा के पुनर्निर्माण और पुनर्व्याख्या के ही आधार पर हम एक नवीन स्थिति निर्धारित कर सकते हैं,यह नवीन स्थिति निर्धारण ही सच्चा मनोविज्ञान भी होगा,परन्तु यह मनोविज्ञान न तो आनुभविक मनोविज्ञान होगा और न तो बौद्धिक मनोविज्ञान होगा । यह अतीन्द्रिय मनोविज्ञान अथवा आध्यात्मिक मनोविज्ञान होगा[१] । ज्ञान एवं नैतिकता के मिलन-बिन्दु अथवा केन्द्र में एक ऐसा संघृतिशास्त्र है जिसका वस्तु-विषय एक 'अस्तित्वयुक्त सप्राण चेतना' है । यह सप्राण तथा सक्रिय चेतना ही आत्मा है जिसे नैतिक अनुभव के यथार्थ रूप में परिणित नहीं किया गया है अर्थात् जो केवल नैतिक अनुभूति में ही कार्यान्वित नहीं है वरन् यह स्वयं ही ज्ञान है । एक ऐसा ज्ञान है जो सब विषयी और वस्तु-विषयों के सम्बन्धों का अतिक्रमण कर देता है और जो बिना किसी अभाव तथा विनाश के ही परिपूर्ण है तथा स्वयं-प्रकाश है । उनका यह 'आत्मन्' उपनिषदों का आत्मन् है,जैसा कि कान्ट का विचार है यह केवल एक 'तार्किक एकता' नहीं है वरन् अनुभव का एक परम आधार है । आत्मा की प्रत्येक अवस्था के लिए हम मांडूक्य उपनिषद् में एक विस्तृत विवेचन पाते हैं । इस 'आत्मा' को एक रहस्यवादी (वर्ण) ' ॐ ' के द्वारा प्रतीक रूप में वर्णित किया गया है जो चेतना की जागृत,स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में व्याप्त है तथा इन तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण भी कर जाता है[२] । यह 'विशुद्ध-चैतन्य' है और जो कुछ यह जानता एवं अनुभव करता है उससे पृथक् यह अपना अस्तित्व रखता है । यह अपने अनुभव-योग्य एवं ज्ञेय वस्तुओं में से एक वस्तु नहीं है । इसे यह कह कर भी वस्तु-रूपित नहीं किया जा सकता कि यह केवल ऐसा नहीं है । अपने यथार्थ होने के लिए भी यह वस्तु-रूपित होने की अपेक्षा नहीं रखता । कान्ट ने ज्ञान और

---

१. के०सी०भट्टाचार्या,स्टडीज़ इन फिलासफी,वॉल्यूम-२,पृ० २४,२८-२६

२. श्री०एस०एस० राय,दि हैरिटेज ऑफ शंकर,पृ० ५०-५१,तथा माण्डूक्य उपनिषद्, गौणपादीय कारिका,शांकरभाष्य,आगम प्रकरण ' ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ।।१।। इसके अतिरिक्त इसी प्रकरण का दूसरा श्लोक भी देखिए ।

नैतिकता के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न आत्माओं की स्थितियों की स्थापना करके जिस खाई की कल्पना को है उसे आध्यात्मिक मनोविज्ञान रूपी सेतु द्वारा ही पाटा जा सकता है।[१] इस पाटने के सम्पूर्ण कार्यों से हम विस्तृत रूप में निम्न प्रकार के विश्लेषण द्वारा अवगत होंगे ।

(१) चेतना के स्वरूप के विश्लेषण से (२) नैतिकता के स्वरूप के एक विश्लेषण से,जिसमें हमारा सम्पूर्ण अभिप्राय यही प्रमाणित करना होगा कि नैतिकता की समस्या ज्ञान की समस्या से पूर्णतया अभिन्न है । अब पूर्णतया परिलक्षित हो जाता है कि युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की आलोचना का जो उलझनयुक्त तथा रहस्यपूर्ण निष्कर्ष है वह इस बात में निहित है कि कान्ट इस समस्या का समाधान केवल शुद्ध ज्ञानात्मक अथवा अनुभवात्मक स्तर पर करने में सर्वथा असमर्थ रहे । समस्या यह है कि अनुभव में ' चेतना की एकता ' नामक एक ऐसे तत्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता,जो अनुभव-निर्मित नहीं है तथा जो ज्ञान-मीमांसात्मक रूप से एक अतीन्द्रिय तत्व है,क्योंकि इस तत्व की अस्वीकृति ज्ञान को ही असम्भव बना देती है । परन्तु उसी समय 'चेतना की एकता' को तार्किक स्तर से उच्च किसी अन्य स्तर पर प्रतिष्ठित करना उसी युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के दल-दल में कूद जाना होगा,जो वास्तविक सत्तायुक्त आत्मा के अस्तित्व को ' मैं सोचता हूं ' ज्ञान की इस अनिवार्य स्थिति से भ्रमित कर देता है । परन्तु यहां यह विषय समाप्त हो जाता है,जबतक हम कान्ट के प्रयत्नों को विशुद्ध निषेधात्मक रूप में ही स्पष्ट कर सके । कान्ट युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के दोषयुक्त विवरण के जो परिणाम निश्चित करते हैं,वह इस प्रकार के हैं :--

(१) यथार्थ या सत्य होने के क्रम में ' आत्म-चेतन युक्त एकता ' को अवश्य ही अप्रतिबद्ध होना चाहिए और अप्रतिबद्ध होने के क्रम में उसे अवश्य ही मुक्त एवं अनिर्धारित होना चाहिए ।[२]

---

१. के०सी० भट्टाचार्या,दि स्टडीज़ इन फिलासफी,पृ० ३३

२. एन०के० स्मिथ,कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न,पृ० ३६५

(२) ज्ञान की स्थिति का एक विश्लेषण सब सन्देहों के परे यह प्रकट करता है कि 'आत्म-चेतना की एकता' जो आवश्यक एवं निर्विवाद रूप में स्वीकृत है उसे सभी वस्तुगत अन्तर्वस्तुओं से पृथक एक यथार्थ अस्तित्वयुक्त रूप में नहीं स्पष्ट किया जा सकता है। अत: उसे सक्रिय एवं जीवित रहने के लिए विषय-जगत को ग्रहण करना अत्यन्त अनिवार्य है। चेतना की मुक्त एकता एक अभिच्छिन्न वस्तु है, यद्यपि ज्ञान की स्थिति में इसे वस्तुगत अन्तर्वस्तु से पृथक् करना असंभव है। अत: यहां ये दो पक्षान्तर हैं-- (१) या यह प्रतिपादित करना कि 'चेतना की एकता' अत्यन्त अर्थहीन है (२) या किसी अन्य स्थिति का विचार करना जिसमें यह आत्मन मुक्त एवं सत्य दृष्टिगत होता है। यह केवल एक अनुमानित वस्तु या केवल एक परिकल्पना अथवा एक 'तार्किक एकता' ही नहीं है जिसे ज्ञान की संभाव्यता के लिए निर्मित किया गया है। कान्ट इन दोनों में से द्वितीय पक्षान्तर को किसी भी प्रकार व्यक्त रूप से बहिष्कार नहीं करते और न तो अव्यक्त रूप से उसे बहिष्कार करने का कोई संकेत ही देते हैं। कान्ट ने युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की आलोचना पर अत्यधिक बल देने के कारण आत्मन् को एक 'तार्किक एकता' के रूप में प्रतिष्ठित किया है, इसलिए नहीं कि वह 'अप्रतिबद्ध आत्मन्' या शुद्ध बुद्धि के वस्तुत: मुक्त केन्द्र तत्व के निरर्थक स्वरूप के सम्बन्ध में एक निषेधात्मक कथन प्रस्तुत करना चाहते हैं वरन् उनका विश्वास है कि ऐसा आत्मन अवश्य अस्तित्वयुक्त है और 'इस आत्मन' को वह उन्मुक्त या निर्बंध बुद्धि के रूप में स्वीकार करते हैं। नैतिक इच्छा-शक्ति में ही हमें आत्मा के सत्य अस्तित्व की अनुभूति होती है तथा यह चेतना भी प्राप्त होती है कि आत्मा निरपेक्ष एवं अप्रतिबद्ध रूप से स्थापित एक ऐसे सिद्धान्त के अनुसार क्रियाशील होता है जो सार्वभौमिक नियम के अनुरूप होता है[१]। इसीलिए यह कहा जाता है कि नैतिक इच्छा-शक्ति में तथा नैतिक पहलू में ही हम 'अप्रतिबद्ध' बौद्धिक केन्द्र से परिचित हो सकते हैं। इस नैतिक साध्य के चुनाव में ही व्यक्ति ऐसे आत्मन का परिचय

---

१. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट्स एक्सप्लेण्ड, पृ० ३३१-३३

प्राप्त करता है,जो स्वयं अस्तित्ववान् है,स्वयं अभिव्यक्त है,स्वयं सत्य है,सापेक्ष सत्य नहीं है। यह इस या उस लक्ष्य के हेतु क्रियाशील नहीं है वरन् प्रज्ञा के विशेष नियम के लिए क्रियाशील होता है। यह प्रज्ञा भी किसी अन्य तत्त्व द्वारा प्रमाणित न होकर स्वयं-प्रमाणित है। कान्ट के अनुसार एक व्यक्ति अपने आत्मा की मौलिक शुद्धता की अनुभूति अपनी नैतिक इच्छा-शक्ति में ही कर सकता है। यह नैतिक इच्छा-शक्ति परमशुभ है,निरपेक्षतया शुभ है तथा अपने आप में शुभ है,क्योंकि यह सत् है और सत् से उच्च कुछ भी नहीं है।[१] इस प्रकार कान्ट के दार्शनिक निबन्ध में ज्ञाता आत्मन् और कर्ता आत्मन् यानि शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि से सम्बन्धित एक यथार्थ द्वैत का साक्षात्कार होता है । व्यावहारिक बुद्धि की प्राथमिकता और शुद्ध-बुद्धि का सापेक्षिक स्वरूप--दोनों ज्ञान और नैतिकता के बीच एक खाई उत्पन्न कर देते हैं। यह सत्य हो सकता है कि कान्ट द्वारा की गयी युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की आलोचना तर्कसंगत हो परन्तु यह भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आज समकालीन योरोपीय दर्शन,भारतीय दर्शन तथा विशेषरूप से अद्वैत दर्शन में इस दृष्टिकोण को किसी ने भी नहीं अपनाया है,जिसकी आलोचना कान्ट युक्ति-युक्त मनोविज्ञान का खण्डन करने के लिए स्वीकृत एवं इच्छित रूप से करते हैं। आज यह युक्ति-युक्त मनोविज्ञान एक ऐसा काल्पनिक कथन बन गया है कि कोई भी विचारशील दार्शनिक इस विषय को स्वीकार नहीं करते। वेदान्त दर्शन के लिए भी यह एक काल्पनिक विषय बन गया है,वह भी इसे एक गम्भीर चिन्तन के रूप में नहीं अपनाते हैं।

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान पर कान्ट की मीमांसा की अपनी आलोचना के परिणामों में हम जो कुछ भी दिग्दर्शित करना चाहते हैं,वह यही है कि हम निम्न दावों को प्रतिपादित करने में बहुत उत्सुक हैं :--

(१) आत्म-चेतना की एकता केवल एक 'तार्किक एकता' ही नहीं है,यद्यपि इसका स्वरूप अतीन्द्रिय है परन्तु फिर भी एक मनोवैज्ञानिक स्थिति में इसका

---

१. जॉन वाट्सन,दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेण्ड,पृ० ३८५, लैविस व्हाइट बैक,इमैनुअल कान्ट,क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न एण्ड अदर राइटिंग्स इन मॉरल फिलासफी,पृ० २३२

साक्षात्कार होना असंभव नहीं है,इसकी अनुभूति विषय-कोटि की नहीं है , पूर्ण रूप से विशुद्ध अतीन्द्रिय प्रकार की है जैसा कि श्रीकृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने अपने निबन्ध ` सब्जैक्ट ऐज फ्रीडम ` में कहते हैं ।[1]

(२) नैतिक स्थिति में `चेतना की एकता ` की वास्तविकता से (सम्बन्धित) कान्ट का विषय पूर्णतया एक उचित आधार हो सकता है,जबकि हम इसमें इस विशेषता की वृद्धि कर दें कि कान्ट ने ` नैतिक साध्य ` के स्वरूप का त्रुटिपूर्ण अर्थ समझा है और यदि नैतिक रूप में पतित होना अपूर्ण होना है तो अपूर्णता की समस्या उचित रूप में ठीक अज्ञानता की समस्या के समान है और अज्ञान का बाधित हो जाना तथा नैतिक इच्छा-शक्ति का क्रियात्मक होना दो वस्तुएं नहीं हैं ।

यहां हमें निम्न प्रसंगों को भी दर्शाना होगा---

(१) कि ज्ञान की स्थिति में ` चेतना की एकता ` को बिना किसी क्षति के विषय-अन्तर्वस्तु से पृथक् किया जा सकता है । यह एक पूर्ण तत्व है अत: इसमें कुछ भी वृद्धि नहीं की जा सकती और न तो इसमें से कुछ कम ही किया जा सकता है ।

(२) कोई भी नैतिक सिद्धान्त जो नैतिकता या ` नैतिक अपूर्णता ` की समस्या का अज्ञान की समस्या के साथ तादात्म्य स्थापित करना अस्वीकार कर देता है,अपने आपको ` अनन्त सक्रियतावाद ` के ` अनवस्था-दोष ` में फंसा देने के लिए बाध्य हो जाता है ।[2] ` नैतिक सक्रियतावाद ` सब अन्तर्वस्तुओं से विच्छेदित

---

१. कै०सी० भट्टाचार्य,दी सब्जेक्ट ऐज़ फ्रीडम,पृ० ७० से ९६, देखिए,कै०सी० भट्टाचार्य, दि स्टडीज़ इन फ़िलासफ़ी,पृ० ३०-३३ ।

२. यहां हम यह बतलाना चाहते हैं कि अद्वैत तत्व ही परमार्थ है,उसमें द्वैत का सर्वथा ही अभाव वांछित है तथा द्वैत में ही उपलब्धि और आचार के भेद दृष्टिगत होते हैं यदि हम भेद को मान कर चलें तो लक्ष्य अर्थात् मोक्ष सदैव ही दूर बना रहेगा और हमें यह भी भ्रान्ति बनी रहेगी कि हम उसे कभी-न-कभी पूर्णरूपेण प्राप्त कर लें । द्वैत-जनित आचार की स्थिति आपेक्षित नि:श्रेयस् के सम्बन्ध में अनवस्था दोष से व्यभिचरित है ।

एक इच्छा-शक्ति से शून्य नहीं है। आत्म-तत्व की पूर्णता के साथ ही यह सह-विस्तारित है।

'चेतना की एकता' के विषय में कान्ट की विचारधारा का हम आंशिक समर्थन करते हैं एवं आंशिक विरोध भी करते हैं। चेतना की एकताकेयुक्ति-युक्त मनोविज्ञान की तर्कसंगतता से सम्बन्धित उनके दावों के विरुद्ध हमें केवल यही कहना है कि एक 'अस्तित्वयुक्त सत्ता' के साथ 'चेतना की एकता' को प्रतिष्ठित करने के क्रम में हमें एक युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि एक अतीन्द्रिय या आध्यात्मिक मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है, और ऐसी मनोविज्ञान के अन्तर्गत 'चेतना की एकता' के अर्थ और दुर्बलता के अभाव में वस्तुगत अन्तर्वस्तु से विषयी का एक पूर्ण पृथक्करण फलीभूत हो सकता है। कान्ट का यह एक स्वीकृत एवं प्राट दृष्टिकोण है कि 'चेतना की एकता' ज्ञान का एक विषय नहीं बन सकती। अत: कान्ट यह प्रतिपादित करते है कि 'ज्ञानात्मक कार्य' को निष्पादित करने के कारण यह केवल एक तार्किक एकता है, और इसीलिए इसे कोई तात्विक स्थिति नहीं प्रदान की जा सकती।[१] इसे एक तात्विक स्थिति प्रदान करने का तात्पर्य यह है कि--(१) इसे द्रव्यत्व प्रदान करना। (२) और वस्तुगत अन्तर्वस्तु अथवा विषयगत स्थिति के साथ इसके फैलाव से इसे पृथक् करना। ज्ञाता अथवा विषयी को वस्तु-विषय के रूप में प्राप्त करना एक न्याय-असंगत बात है। इसी न्याय असंगतता को ही कान्ट युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के तर्काभास की अपनी आलोचना द्वारा प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं और उनका यह अटूट विश्वास है कि युक्ति-युक्त मनोविज्ञान ने आत्मा को ज्ञान का एक विषय बना कर अथवा आत्मा को द्रव्य बना कर अनुभवातीत तर्कशास्त्र के विरुद्ध एक अपराध किया है।[२] अत: हमें अपने विवाद-विषय में यह दिखाना होगा कि-- (१) 'चेतना की एकता', जिसे यह जानती है उन शेष वस्तुगत अन्तर्वस्तुओं से वियोज्य तत्व है (२) और 'चेतना की एकता' को अनिवार्यतया 'यथार्थ एकता' के रूप में प्रतिपादित करने का तात्पर्य यह है नहीं है कि यह एक द्रव्य है। यदि तात्विक रूप में 'चेतना की एकता' से सम्बन्धित वेदान्त की युक्तियाँ तथा सिद्धान्त को हम उपस्थित करें तो

---

१. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ३६२.
२. वही, पृ० ३७७

हमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि जिस तरीके से अद्वैत दर्शन वस्तुओं की ओर दृष्टिपात करता है उसी उपाय से हम भी उपर्युक्त दोनों दशाओं की पूर्ण करने में सफल हो सकेंगे। अनुभवात्मक रूप में चेतना की ज्ञान मीमांसात्मक एकता अनुभव का एक विषय है। यह केवल एक तार्किक नियम है, ऐसा इसलिए है कि यह ज्ञान की स्थिति में प्रवेश करता है और अनुभव का संघटक है। तादात्म्य नियम या कारण-कार्य नियम अनुभव में प्रवेश नहीं करते, वे अनुभव के उपादान-तत्व नहीं हैं, वे केवल वह सांचे या स्वरूप हैं जिनमें अनुभव निर्मित होता है। परन्तु 'चेतना की एकता' ज्ञाता के रूप से अनुभव में प्रवेश करती है, इसलिए ज्ञाता वहां एक तार्किक नियम अथवा तार्किक सिद्धान्त के रूप में नहीं रहता है। यह अनुभव का एक वर्तमान सक्रिय व सजीव पहलू है तथा सभी अर्थयुक्त भाषण द्वारा पूर्वापेक्षित है। परन्तु पुन: कोई भी चिन्तक यह प्रश्न प्रस्तुत कर सकता है कि यह कैसे एक तार्किक सिद्धान्त नहीं है? पुन: वेदान्त दर्शन के[1] दृष्टान्त द्वारा उसकी पुनरावृत्ति करते हुए इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कहेंगे कि गहन सुषुप्ति का एक विश्लेषण हमें गहन निद्रा या सुषुप्तावस्था द्वारा 'चेतना की निरन्तरता अथवा अविच्छिन्नता' का अटूट विश्वास दिलाता है। जो व्यक्ति सुषुप्तावस्था में रहता है वही जागृतावस्था में भी उपस्थित रहता है। यदि कोई यह तर्क प्रस्तुत करता है कि गहन निद्रावस्था में चेतना का अभाव रहता है तो उनसे भली प्रकार यह पूछा जा सकता है कि उन्हें 'चेतना के अभाव' की अनुभूति होती है या नहीं? 'चेतना का अभाव है;' 'चेतना का अभाव नहीं है,'--इन दोनों ही स्थितियों में हमें विषयी ज्ञाता को एक 'चैतन्य' के रूप में ही स्वीकार करना होगा। प्रगाढ़ निद्रा से सम्बन्धित कोई भी निश्चयात्मक कथन चेतना की सत्ता को स्वीकार करता है और यह चेतना जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति--इन तीनों अवस्थाओं में अबाधित तथा अविच्छिन्न बनी रहती है। मांडूक्य उपनिषद् द्वारा चेतना के मनोविज्ञान का एक तर्कसंगत समुचित विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसके मूल सिद्धान्त पर श्री गौड़पाद ने अपने आगमशास्त्र में टीका की है।

---

१. के०सी० भट्टाचार्य, स्टडीज़ इन फ़िलासफ़ी, वॉल्यूम-१, पृ० १८-१९

विषयों के सम्बन्ध में मांडूक्य उपनिषद् द्वारा प्रस्तुत विवेचना का प्रमुख अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि चेतना के दो प्रकार होते हैं--(१) सापेक्ष चेतना--इसके अन्तर्गत अनुभव की जाग्रत और स्वप्नावस्था आती है,(२) निरपेक्ष--इसके अन्तर्गत (क) सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रावस्था) तथा (ख) तुरीयावस्था (अतीन्द्रिय) आती है[1]। सुषुप्ति या प्रगाढ़ निद्रावस्था एक ओर तो अनुभव में समाविष्ट जाग्रत और स्वप्नावस्थाओं तथा दूसरी ओर अतीन्द्रिय अवस्थाओं के बीच एक सन्धि है। यह अनुभव के समीप है,क्योंकि सापेक्ष ज्ञान को वापस लाने के लिए सुषुप्ति अवस्था में यह एक अन्त:शक्ति है। सुषुप्ति के टूट जाने या भंग हो जाने के पश्चात् स्वप्नावस्था अथवा जाग्रतावस्था ही स्थान ग्रहण करती है। सुषुप्तावस्था में यह सापेक्षता समाप्त नहीं होती परन्तु इस कारण यह कहना भी त्रुटिपूर्ण होगा कि प्रगाढ़ निद्रा सापेक्ष है। यह पूर्णतया निरपेक्ष है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यहां चेतना का अभाव है या इसकी अनुपस्थिति है। इस प्रकार की मनोवृत्ति अधिकांशत: पाश्चात्य दार्शनिकों में प्राप्त होती है जो प्रगाढ़ सुषुप्ति को चेतनाशून्य तथा ज्ञानशून्य रिक्तता के रूप में उच्चरित करते हैं[2]। इन दार्शनिकों ने ज्ञान या चेतना अथवा बोध इन शब्दों का प्रयोग आनुभविक अर्थ में किया है। यही प्रवृत्ति हीगल,केयर्ड,ब्रैडले,बोसांके तथा हीगल के अनुयायियों की विचारधाराओं में प्राप्त होती है। आत्मा का ज्ञान स्वयं अपने ही द्वारा एक प्रतिवर्ती अनुव्यवसाय में समझा जाता है जिसे आत्म-चेतना की 'अनिवार्य-अवस्था' के रूप में 'विषयी-विषय' अथवा 'ज्ञाता-ज्ञेय' के द्वैत की आवश्यकता होती है[3]। कान्ट के इस निश्चित कथन से कि 'यदि' चेतना की एकता' एक' सत्तात्मक तत्त्व' है तो इसे अवश्य ही ज्ञेय होना चाहिए ;यह प्रतीत होता है कि कान्ट ने भी अन्य अधिकांश योरोपीय दार्शनिकों की भांति आत्म-चेतना की समस्या का हल किया है। वे आत्म-ज्ञान को केवल इसी रूप में असंभव बताते हैं कि' चेतना की अनुभवातीत एकता' को एक वस्तु-विषय में -- -- -- -- -- --

---

१. माण्डूक्य उपनिषद्,गौणपादीय कारिका,शांकरभाष्य,१-११,१२

२. एस०के० मुकर्जी,दी नेचर ऑफ सैल्फ,पृ० २३६-४६ तथा एफ०एच० ब्रैडले,एस्सेज ऑन ट्रुथ एण्ड रियैलिटी,पृ० १६५

३. केयर्ड,हीगल,पृ० १४७,तथा ब्रैडले,एस्सेज ऑन ट्रुथ एण्ड रियैलिटी,पृ० १६०

रूपान्तरित नहीं किया जा सकता है[1]। चूंकि आत्मा के इस रूप को निर्धारित करने में उन्हें कठिनाई का अनुभव हुआ इसी कारण उन्होंने अपनी युक्ति को सीमित किया तथा आत्मा को केवल एक 'तार्किक एकता' के रूप में वर्णित किया। आत्मा को एक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करने के इच्छुक हीगल और फिश्टे दोनों ने हो' विरोधों की एकता' के रूप में' आत्म-चेतना' की न्याय-संगतता के लिए युक्तियां प्रस्तुत की हैं। यहां पर' विषयी-विषय' अर्थात् 'ज्ञाता व ज्ञेय' का होना ही विरोध है जिसमें 'आत्म-चेतना' ही समन्वय है[2]। 'हीगल और फिश्टे दोनों दार्शनिकों ने आत्मा को सापेक्ष रूप दे कर उसे एक तात्विक स्थिति के साथ प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार हम अपने आप को पुन: एक आनुभविक मनोविज्ञान के दल-दल में फंसा हुआ पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हीगल की विचारधारा के समर्थकों ने कान्ट की चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया, और उन्होंने भी ज्ञानमीमांसात्मक समस्या के समाधान के लिए मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करके एक भूल की है। इस सन्दर्भ में प्रमुख समस्या यह है कि आत्मा को कैसे जाना जाता है? यदि हम कहें कि इसे' वस्तुओं के ज्ञाता के रूप में जाना जाता है तो यहां हमें एक' प्रतिवर्ती अनुव्यवसाय' का सहारा लेना पड़ता है, जो हमें नैयायिकों के अनुव्यवसाय की स्मृति दिलाता है, और ऐसा करने पर यहां 'अनवस्था दोष' उत्पन्न हो जाता है। श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'नेचर ऑफ़ सेल्फ' में इस भूल को' अनुभवातीत-विस्थापन' के नाम से निर्दिष्ट किया है[3]। आत्मा को अपनी केन्द्रीय स्थिति से हटाया नहीं जा सकता है। यदि यह एक ' ज्ञेय सत्ता' है अर्थात् जानने योग्य वस्तु है तो पूर्व समय के इस ज्ञाता को जानने के लिए एक अज्ञात विषयी या ज्ञाता की आवश्यकता होगी। बर्कले तथा पाश्चात्य परम्परा के अधिकांश विज्ञानवादी विचारकों ने' आध्यात्मिक परिकल्पनाओं की स्थापना द्वारा ही आत्मा के लिए एक स्थिति प्राप्त की है।

---

१. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ३६५

२. रिचर्ड फ़ॉल्केनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न फ़िलासफ़ी, पृ० ४६७ तथा ४२७

३. ए०सी० मुकर्जी, दि नेचर ऑफ़ सेल्फ़, पृ० १२ तथा सेल्फ़ थॉट एण्ड रियैलिटी, पृ० ३५२

परन्तु विज्ञानवादी परिकल्पना द्विधारी तलवार के समान है ,चाहे वह बर्कले की मान्यता हो अथवा हीगल की । विषयी के अभाव में वस्तु विषय नहीं रहता परन्तु उसी प्रकार वस्तु-विषय के अभाव में विषयी भी नहीं हो सकता । ब्रैडले के विचारानुसार विषयी और विषय के बीच बहुत-सी सामग्रियां स्थानान्तरणीय हैं । अत: इन दार्शनिकों के अनुसार विषयी और विषय के मध्य कोई भी सुस्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है[1] । इसी विचारधारा का प्रतिपादन बर्ट्रेंड रसैल ने भी किया है और उन्होंने विषयी-विषय के भेद को 'क्रियात्मक-परिकल्पना' के द्वारा स्पष्ट किया है[2] । विषयी प्रकाशमान है अथवा चेतन है क्योंकि यह शुद्ध भौतिक जगत की घटनाओं से भिन्न एक माध्यम में घटित होने वाली एक घटना है । जिसमें इस प्रकार की घटना घटित होती है वह माध्यम 'मस्तिष्क' है । 'गिलबर्ट राइल' ने इस बात को अन्य शब्दों में व्यक्त किया है,उनका 'मन प्रत्यय' व्यवहारवाद की भाषा में आस्था से सम्बन्धित बाह्यार्थवादियों के दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति है[3] ।

इस सन्दर्भ में हमारी स्थिति का संक्षिप्तीकरण निम्न प्रकार का है :--

(१) विषयी सत्य है ।

(२) विषयी निरपेक्ष है ।

(३) विषयी ज्ञेय है ।

(४) यह वस्तु-विषय के रूप में ज्ञेय नहीं है ।

(५) यह दृश्य नहीं है ।

उपरोक्त विचारों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रकार से होगा ।

विषयी सत्य है क्योंकि यह कालातीत एवं शाश्वत् है और अन्तिम विश्लेषण में इसे पूर्ण करने वाला अथवा इसका विरोध करने वाला कोई भी तत्व नहीं दृष्टिगत होता है । यह निरपेक्ष है क्योंकि सुषुप्तावस्था में भी यह अपने आप उपस्थित रहता है । यह ज्ञेय है,क्योंकि यह स्वयं-प्रकाश या स्वयं-ज्योति

---

१. ब्रैडले,एस्सेज ऑन ट्रुथ एण्ड रियलिटी,पृ० १६०,तथा एपियरेंस एण्ड रियलिटी, पृ० ८६-८७

२. डी०जे० ओ' कोनर,ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलासफी,पृ० ४८१

३. वही,पृ० ५४७,जिसमें विन्स्टन ने गिलबर्ट राइल के विचारों की एक स्पष्ट विवेचना प्रस्तुत की है ।

है अर्थात् स्वरूप में यह शुद्ध अपरोक्षानुभूति रूप है[1]। अद्वैत-दर्शन साहित्य में इसको स्वयं प्रकाश के रूप में वर्णित किया गया है। यह वस्तु-विषय के रूप में ज्ञेय नहीं है क्योंकि इसकी विशुद्ध और अनुभवातीत आत्म-निष्ठता को अस्वीकार कर देने से 'चित्सुख' के अनुसार सम्पूर्ण वस्तु-जगत या विषय-जगत ही अन्धकार में विलान हो जायेगा अर्थात् जगदांध्य हो जायेगा[2]।

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के प्रति कान्ट की समीक्षा एक आत्म-द्रव्य के रूप में उनके विरोधी विचारकों के दृष्टिकोणों की बारम्बार पुनरावृत्ति करती है। इस प्रसंग में हमें यही दिखाना है कि जब भी हम आत्मा को एक 'वास्तविक सत्ता' या 'तात्विक सत्ता' के रूप में ग्रहण करते हैं तब इसका अर्थ यह नहीं है कि यह केवल एक 'तार्किक पूर्वमान्यता' है अथवा एक 'द्रव्य' है।। द्रव्य की परिकल्पना ने दो कार्यों को पूर्ण करने का विचार रखा है--प्रथम कार्य दो या दो से अधिक ऐसे गुणों का एक साथ विचार करना है जो एक दूसरे में समाहित नहीं होते तथा प्रायः निश्चित रूप से एक दूसरे से अलग ही हो जाते हैं। स्पिनोज़ा का द्रव्य भी दो परस्पर विभिन्न गुणों-विचार और विस्तार से युक्त वर्णित किया गया है। यहाँ अलग-अलग गुण की अपेक्षा द्रव्य ही अधिक व्यापक है तथा द्रव्य और गुणों में एक भेद वास्तविक भेद है। द्वितीय कार्य यह है कि 'द्रव्य' का विचार' द्रव्य' को ही स्थायित्व प्रदान करने का कार्य पूरा करता है, जबकि गुण अस्थायी होते हैं, उदाहरणस्वरूप नैयायिकों का आत्मन्[3]। इस स्थिति में भी 'भेद' सत्य है। अन्यथा एक के अशाश्वत् होने पर दूसरा भी स्वाभाविक रूप से अशाश्वत् हो जायेगा।

इस प्रकार 'ब्रह्म' अथवा 'आत्मन्' द्रव्य नहीं हो सकता। यदि हमें आत्मा को केवल एक 'तार्किक एकता' या 'अनुभवातीत ज्ञानात्मक एकता' की अपेक्षा एक उच्च तत्व के रूप में अपनाना है तो हमें कान्ट को आलोचना के विरुद्ध भी कुछ

---

१. चित्सुखी, तत्वप्रदीपिका, उदासीन संस्कृत विद्यालय ग्रन्थमाला, पृ० १६
२. वही, पृ० ३२
३. धर्मेन्द्रनाथ शर्मा, इण्डियन फ़िलासफ़ी: एक क्रिटिकल सर्वे, पृ० १६५-१६६

कहना होगा। 'द्रव्य' के स्वभाव के साथ प्रतिष्ठित होने के अभाव में समाकल्पन की अतीन्द्रिय एकता तात्विक रूप में जानी जा सकती है। आत्मन् 'सत्य' हो सकता है इसीलिए यह 'अ-द्रव्य' के रूप में वाच्य है। यह केवल एक 'ज्ञानमीमांसात्मक पूर्वमान्यता' नहीं है वरन् एक 'तात्विक सत्ता' है।

अब हमें यह स्पष्ट एवं प्रमाणित करना है कि यह तात्विक सत्ता कान्ट द्वारा प्रतिपादित केवल 'नैतिक आत्मा' ही नहीं है वरन् यह आत्मन् विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। इस दिशा में हमें केवल यही निर्देशित एवं सूचित करना है कि 'नैतिक-आदर्श' और 'तात्विक सत्ता' दो सत्य नहीं हैं, एक ही अद्वैत सत्य है। नैतिक आदर्श अथवा नैतिकता के दृष्टिकोण से जो कुछ वर्णित है वह 'मोक्ष' है तथा शुद्ध सत्य-ज्ञान के दृष्टिकोण से जो कुछ वर्णित है वही 'आत्मा' है। प्रथम तो अत्यधिक 'सामान्य सत्ता' है तथा द्वितीय अत्यधिक व्यापक सत्ता है। इनमें अधिष्ठित वस्तुएं आभास अथवा प्रतीति में भी सत्तायुक्त होती हैं।

ज्ञान प्रति नैतिकता; तात्विक रूप में सत्य और नैतिक रूप में आदर्शात्मिक आत्मन का तादात्म्य --

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के आन्वीक्षात्मक खण्डन के परिणाम से ऐसा विदित होता है कि यह विशेष रूप से एक ही प्रमुख लक्ष्य को निर्दिष्ट करता है। जो अनुभव के सम्भाव्यता की एक अनिवार्य अवस्था है, उस 'चेतना की एकता' का प्रकृति में सक्रिय 'नियतिवादी गतिवाद' के शिकंजे से उद्धार करना है। यह 'नियतिवादी गतिवाद' प्रत्येक वस्तु को अनुबद्ध करता है इसलिए यह 'चेतना की एकता' को भी अनुबद्ध करता है। परन्तु इसका उद्धार कैसे हो ? परिणामस्वरूप यह प्रश्न उठता है कि वह 'एकता' क्या है जो गोचर प्रकृति के इस 'क्रियात्मक गतिवाद' से पूर्णतया मुक्त है ? अन्य शब्दों में 'मुक्तात्मा' क्या है, इस प्रश्न का शीघ्र ही उत्तर देने के लिए हम इसकी एक तात्विक प्रतिमूर्ति को प्रस्तुत करेंगे। चेतना के

---

१. टी०आर०वी० मूर्ति, दि रैशनल बेसिस ऑफ़ अद्वैतिज्म, दि इण्डियन फिलासफ़ीकल क्वार्टर्ली, १९३०, वॉल्यूम-६ नं० १ में, पृ० ८१

अनुभवातीत एकता की ज्ञानमीमांसा इस तात्विक प्रतिमूर्ति से साक्षात्कार करती है। यह प्रश्न आत्मा की अस्तित्वात्मकता को अनिवार्य एवं अपरिहार्य बनाते हुए यह सूचित करता है कि वस्तुत: स्वातंत्र्य ही आत्मा है अर्थात् एक आत्मा है जो वास्तविक रूप से स्वतंत्र है और यह जाना भी जा सकता है, यदि यह नहीं जाना जाता तो यह आत्मन् का दोष नहीं है वरन् हमारी समझ अथवा बुद्धि का दोष है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि हम आत्मा को नहीं जान पाते तो यह हमारी जानने की विधि का दोष है, न कि आत्मा का दोष है। इस आत्मन् का अज्ञान अपने जानने की असम्भाव्यता से दुर्बल नहीं होता है, कान्ट ने इस प्रकार प्रश्न का उत्तर नहीं दिया है। वह आत्मा के उस प्रत्यय से अत्यन्त ग्रसित तथा अभिभूत हैं जिसे प्रकृति के एक अंश के रूप में समझा व अपनाया गया है अर्थात् जो एक प्राकृतिक सत्ता है, इससे अधिक कुछ नहीं है। कान्ट के अनुसार वह मुक्त तथा ज्ञेय आत्मन आवश्यक रूप से एक प्राकृतिक आत्मन है और नि:सन्देह वह प्रकृति में ही स्थित है तथा जिसमें प्रत्येक विषय अनुबद्ध है। अत: कान्ट का कथन है कि कोई ऐसा आत्मन् नहीं है जो स्वतंत्र हो अथवा स्वयं ही स्वातंत्र्य हो। आत्मा को अनिवार्य रूप से भ्रमित एवं आबद्ध करने वाले सभी बन्धनों से स्वतंत्र अथवा मुक्त होना है, और इस मुक्त होने के संघर्ष में अत्यन्त अपेक्षित रूप से हमें एक 'नैतिक प्रयत्न' के चेतना की अनुभूति प्राप्त होती है। एक ऐसा इच्छात्मक या संकल्पात्मक प्रयत्न, एक ऐसा संघर्ष व प्रयास जो आत्मा को इसके बद्ध अस्तित्व से परे पहुंचा कर एक अनुभवातीत स्थिति पर प्रतिष्ठित कर देता है। परन्तु कैसे ? कान्ट कहते हैं कि स्वयं आत्मा की अनुभूति या इच्छा द्वारा ही ऐसा संभव है।[१] यह इसी प्रकार का विश्वास है कि एक व्यक्ति यहां-वहां स्थित किसी स्थान में न जा कर अपने आप में ही समाहित हो सकता है। परन्तु समस्या यह है कि कर्ता स्वयं कृतकार्य भी कैसे हो सकता है ? एक अस्त्र स्वयं को नहीं छेद सकता, एक सर्प स्वयं अपने आपको नहीं निगल सकता तथा एक नट स्वयं

---

१. जोहन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ० ३३२, तथा एच०डबल्यू० कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट, पृ० ६७

अपने कन्धों पर नहीं चढ़ सकता । अत: केवल यही कह कर पर्याप्त रूप से कुछ भी नहीं प्राप्त किया जा सकता कि मानव की स्वतंत्रता विशुद्ध इच्छा-शक्ति की इच्छा करने में ही निहित है तथा यह इच्छा-शक्ति 'प्रज्ञा' है, अतीन्द्रिय है और यह ज्ञान में क्रियान्वित नहीं होती वरन् कर्म में ही क्रियान्वित होती है । इस प्रकार 'नैतिक कर्म' विशुद्ध कर्म' है, और शुद्ध-बुद्धि मीमांसा इस तथ्य को अत्यधिक महत्ता प्रदान करती है कि केवल एक अज्ञात तत्व का साक्षात्कार करने के लिए स्वतंत्रता एक सम्भावित तथ्य के रूप में अवस्थित वस्तुओं की कोई अवस्था नहीं है । दूसरी ओर यह एक नैतिक आदर्श है, एक 'विधायक उपरम' है, जो किसी की अपूर्णता में ही अन्तर्निहित है । नैतिकता पूर्णता की मांग है, यह कर्म में ही अपेक्षित एवं कल्पित है अथवा जिसे कर्म द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है तथा जो सार्वभौमिक कर्म या विशुद्ध इच्छा-शक्ति की इच्छा करती है[१]। परन्तु नैतिक इच्छा-शक्ति सामान्यनीति वचनों की सभी अन्य संरचनाओं के साथ एक त्रुटि में सम्मिलित होती है । यह दोष अधिकांश योरोपीय दार्शनिक के नैतिक आचार-सिद्धान्त में प्राप्त होता है । नैतिक आदर्श किसी स्वीकृत उपरम् की भांति प्रतीत होता है, जो कर्ता को बाह्य या मूर्त रूप में रहने के लिए बाध्य करता है। कर्ता इसकी खोज में ही निरत रहता है और जितना ही अधिक यह इस खोज में आगे बढ़ता जाता है, उतनी ही गति से यह एक दूरस्थ अंधकारमय भविष्य में वापस आ जाता है । कान्ट के कथनानुसार सत्य नैतिकता में 'सद्गुण' को सुख से सायुज्य करना है और चूंकि इस प्रकार से यहां एक अनवस्था-दोष की संभावना का संकेत प्राप्त होता है इसलिए कान्ट नैतिक आदर्श के प्राप्ति की अनिवार्य अवस्था के रूप में 'आत्मा की अमरता' को एक आधार-भूमि के रूप में प्रस्तावित करते हैं[२]। नैतिक अपूर्णता, नैतिक साध्य तथा कान्ट की चिन्तन-

---

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ० ३३१-३२

२. लेविस, व्हाइट बेक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२५-२६

प्रक्रिया में सिद्धि की संभाव्यता का सम्पूर्ण विचार-विमर्श इसी तथ्य के कारण दूषित हो गया है कि कान्ट ज्ञान की समस्या से ही हतोत्साहित हो गये और इसी कारण वह यह भी विचार नहीं कर पाये कि--' मानवीय अपूर्णता' का अनुवाद ' मानवीय अज्ञान' के भाव में किया जा सकता है। यदि कान्ट ने 'अपूर्णता की समस्या' को ' अज्ञान की समस्या' के रूप में समझा व निरूपित किया होता अथवा उसे 'अज्ञान की समस्या' के समान स्तर वाला ही समझा होता तो निःसन्देह उन्होंने ' सत्य' एवं ' आदर्श' के बीच एक असंभावित खाई का सृजन न किया होता। अतः नैतिकता के स्वरूप के लिए ये दो बातें अपेक्षित हैं-- (१) आदर्श का स्वयं-सिद्ध स्वभाव तथा (२) अनुभव में इसकी प्राप्ति अर्थात् एक उपयुक्त तरीके से इसकी प्राप्ति। जिस स्थिति ने कर्ता के लिए ' नैतिक साध्य' को एक ' बाह्य दूरस्थ अदृष्ट' के रूप में प्रस्तुत किया तथा जिसकी अनुभूति एक दीर्घ अवधि वाले, श्रान्त कर देने वाले अथवा अनन्त भविष्य में होता है, उस स्थिति के विषय में कान्ट का विश्लेषण ही ' नैतिक आदर्श' को उसके स्वतः सिद्ध स्वरूप से वंचित कर देता है। आत्मा जिसे बाह्य रूप से जानता है, उसे निरपेक्षतया सत्य रूप में स्वीकार भी किया जा सकता है और नहीं भी स्वीकार किया जा सकता। ऐसे स्वरूप में परिलक्षित उपरम् ही संभवतः विरोधों की उत्पत्ति का आधार है और इसीलिए यह प्रतिबद्ध है तथा स्वतंत्रता या मुक्ति का व्याघाती है। कान्ट के विचारानुसार यही ' नैतिकता की शान्ति' अथवा उसका ' विश्राम' है। इसके अतिरिक्त जो स्वीकृत तथा दूरवर्ती साध्य है, वह अनुभूति का विषय नहीं है तथा गंतव्य तक पहुंचने की संभाव्यता के अभाव में अनन्त संघर्ष व प्रयास का नियोजन करता है। ' मानवीय अपूर्णता' की समस्या को ' मानवीय अज्ञान' की समस्या में अनुवादित करके हम कान्ट के समक्ष एक संशोधन का प्रस्ताव रखते हैं। ' नैतिक उपरम्' के विषय में यही अज्ञान है। यह ' नैतिक उपरम्' एक 'सदिच्छा' नहीं है जो ' सद्गुण' और 'सुख' की एकता का विश्वास दिलाता है। 'नैतिक उपरम्' स्वयं ही मुक्ति है तथा ' मोक्ष' के रूप में इसका निरूपण भी किया गया है।[१] परन्तु यह मोक्ष काल के माध्यम से प्रगतिशील एक प्रयत्न के द्वारा नहीं

---

१. टी०आर०वी० मूर्ति, दि रैशनल बेसिस ऑफ अद्वैतिज्म को ' दि इण्डियन फ़िलासॉफिकल क्वार्टर्ली, वॉल्यूम-६, नं० १, १६३० में, पृ० ५७-८१

प्राप्त किया जा सकता है । यह स्वयं ही आत्मा है । केवल अज्ञान को ही हटाना है । किसी की दृष्टि से केवल अज्ञान के पर्दों को ही हटाना है,और तब हमें यह अनुभूति होगी कि यह ` विवक्षित उपरम्` हमारी यथार्थ सत्ता से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । यह यथार्थ सत्ता स्वयं ही हमारा` विवक्षित उपरम्` है,` आत्मा` है और एक `तात्त्विक आत्मन्` है,परन्तु फिर भी यह नैतिक आदर्श आत्मन् से अभिन्न है अर्थात् नैतिक आदर्श-आत्मन् का ही दूसरा नाम` मोक्ष` है, मुक्ति है । उपनिषद् का मोक्ष भी आत्मा है ।[1]

(२) युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा

विचार के विभिन्न स्तरों पर दार्शनिकों द्वारा ईश्वर-विषयक समस्या का निरूपण किया गया है । चूंकि दार्शनिक कान्ट एक नास्तिक नहीं थे,इसलिए वह भी ईश्वर-विषयक समस्या से सम्बन्धित दो विचार-स्तरों का निरूपण करते हैं :--(क) विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक,और (ख) व्यावहारिक -- इस प्रसंग में व्यवहार से तात्पर्य केवल नैतिक व्यवहार से है । जबकि कान्ट ईश्वर को सब रहस्यात्मक विषमताओं अथवा जटिलताओं में शुद्ध-बुद्धि द्वारा निरूपित` एक योग्य विषयी` के रूप में स्वीकार नहीं करते,वही अन्तिम विश्लेषण में` शुभ को शुभ` तथा `अशुभ को अशुभ` अर्थात्` नैतिक नियम` का प्रतिपादन करने के लिए` ईश्वर` को एक यथार्थ सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं ।[2] अतः स्पष्ट है कि कान्ट ईश्वर-विषयक दृष्टिकोणों व विवादों से विमुख नहीं है । वह शुद्ध बुद्धि के प्रयोग द्वारा निरूपित एक यथार्थ सत्ता के रूप में ईश्वर-विषयक हमारे ज्ञान की रचना से विमुख है ।[3]

---

१. टी०आर०वी० मूर्ति,दि रैशनल बेसिस ऑफ अद्वैतिज़्म,फिलासॉफिकल क्वार्टर्ली १९३०,वॉल्यूम-६ नं० १ पृ० ५७

२. लैविस ह्वाइट बैक,इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० २३२

३. एन०के० स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न,पृ० ५२६,तथा डी०पी० ड्रायर,कान्ट्स सॉल्यूशन फॉर वैरिफिकेशन इन मैटाफिज़िक्स,पृ० २४

"Kant does not hold that there is no justification for believing in these doctrines. The conclusion which he reaches is rather that these are matters of metaphysical speculation upon which no knowledge is obtainable."

युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा द्वारा वर्णित ईश्वर,सत्य ईश्वर नहीं है । ईश्वर शुद्ध-बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण इस अर्थ में करते हैं कि ईश्वर बुद्धि द्वारा वस्तुरूपित नहीं किया जा सकता । बुद्धि जिसे भी जानने व वर्णित करने का दावा करेगी उसे ज्ञान के एक वस्तु-विषय के स्वरूप का होना चाहिए,परन्तु जहां तक ईश्वर एक विषयी का विषय नहीं हो सकता या चिन्तन का वस्तु-विषय नहीं हो सकता होता और फिर भी हम उसका प्रत्यक्ष कर सकते हैं, तो ऐसा ईश्वर अवश्य ही केवल एक गल्प या काल्पनिक है,जिसे बुद्धि के कार्यों के प्रयोग या नियोजन में सावधानी की अपेक्षा के लिए एक तथ्य के रूप में प्रतीत होने वाला निर्मित किया गया है । जो कुछ भी एक तथ्य है वह अनुभव की एक आधार-सामग्री के रूप में भी प्रदेय है,और यदि यथार्थ वस्तुनिष्ठता तथा तथ्यात्मकता एक ही है तो ईश्वर भी एक तथ्यात्मक सत्ता न होने पर जाना नहीं जा सकेगा । इसी प्रमुख कारण से ही कान्ट ने सिद्धान्त और विचारणीय विषय दोनों के दृष्टिकोणों[1] में युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा का खण्डन किया है । विचारार्थ विषय में युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा के खण्डन का तात्पर्य है--ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दार्शनिकों द्वारा दी गयी युक्तियाँ या तर्कों का एक खण्डन । इन तर्कों के नाम हैं --(१) सत्तामूलक तर्क (२) सृष्टि-विज्ञान-मूलक तर्क (३) प्रकृति-प्रयोजनमूलक तर्क । ये युक्तियाँ ही विचारार्थ विषय में युक्ति-युक्त ईश्वर-विज्ञान की समीक्षा को निर्मित करती हैं । युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा के अन्तर्गत एक सिद्धान्त के रूप में यह पूर्वमान्यता निहित है कि ईश्वर के प्रत्यय को प्राप्त करने में ही हमने उनके अस्तित्व को स्वीकार कर लिया है । ईश्वर की धारणा किसी ऐसी अयथार्थ सत्ता का उल्लेख नहीं करती जो सत्ता अनस्तित्वयुक्त है,वरन् एक ऐसी सत्ता का उल्लेख करती है जो अवश्य ही अस्तित्वयुक्त है ।[2] विचारार्थ विषय और सिद्धान्त में निहित भेद ही युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा के प्रति कान्ट के समीक्षा की सम्पूर्ण प्रवृत्ति को समझने के लिए हमें

---

१. एन०के० स्मिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न,पृ० ५००

२. वही,पृ० ५२५

समर्थ बनाती है। उपर्युक्त तीनों तर्क विचार-विषय में भिन्न हैं परन्तु सिद्धान्त अथवा सारतत्व में एक ही है। इसका क्या तात्पर्य है ? इसका तात्पर्य यह है कि ये तर्क शुद्ध बुद्धि को बढ़ावा देते हैं और फलस्वरूप यह शुद्ध-बुद्धि अपने अस्तित्व को सर्वाधिष्ट एवं अंगीकार करने वाले ईश्वर के एक प्रत्यय को प्रदान करने की सामर्थ्य रखती है।

अब हम ईश्वर-मीमांसा के सम्बन्ध में कान्ट के दृष्टिकोण का उन तर्कों के स्वरूप में विवेचन करेंगे जिनको कान्ट ने ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दिये गये उपरोक्त वर्णित तीनों तर्कों का खण्डन करने के लिए प्रस्तुत किया है।

(१) सत्तामूलक तर्क :

यह सत्तामूलक तर्क सन्त एन्सेल्म का ही मौलिक प्रतिपादित तर्क है।[१] परन्तु कान्ट के पूर्ववर्ती दार्शनिकों में डेकार्ट, स्पिनोज़ा तथा लाइबनीज़ आदि दार्शनिक चिन्तकों द्वारा भी अल्प परिवर्तन के साथ विस्तारपूर्वक इस तर्क को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ हमें कान्ट के परवर्ती दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित 'सत्तामूलक तर्क' पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। बी०बोसांके ने अपनी पुस्तक 'मीटिंग आफ एक्सट्रीम्स इन कॉन्टेम्पोरेरी फिलासफी' में इस तर्क के विषय पर समुचित प्रकाश डाला है।[२] सर्वोच्च गति की भाँति इस तर्क का मूल भाव इस दृष्टिकोण में निहित है कि--ईश्वर का प्रत्यय ही ईश्वर के अस्तित्व को छिपाए करता है। अन्य शब्दों में ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य रूप से ईश्वर के प्रत्यय द्वारा ही अनुमित होता है।[३] इस प्रकार स्पष्ट किया गया कि ईश्वर अस्तित्वयुक्त है या एक अनिवार्य सत्य है। जिस प्रकार एक त्रिभुज का संबोध दो समकोणों के समान तीन कोणों के योग की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार ईश्वर का संबोध स्वयं ही अपने अस्तित्व की अपेक्षा रखता है। सन्त एन्सेल्म

---

१. जॉन हिक्स, क्लैसिकल एण्ड कॉन्टेम्पोरेरी रीडिंग्स इन दि फिलासफी ऑफ रेलिजन, पृ० ४४५, तथा रॉबर्ट फ्लिन्ट, थीज़्म, पृ० २७८
२. बी० बोसांके, दी मीटिंग ऑफ एक्सट्रीम्स इन कॉन्टेम्पोरेरी फिलासफी, पृ०७४-
३. रिचार्ड फॉल्कनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न फिलासफी, पृ० ६३ तथा रॉबर्ट फ्लिन्ट, थीज़्म, पृ० २७७-७८

के `प्रोसलाजियन` में ईश्वर` का प्रत्यय एक` पूर्ण सत्ता` का प्रत्यय है।[1] डेकार्ट की दर्शन व्यवस्था में` ईश्वर` की सत्ता एक अत्यन्त अनिवार्य सत्ता है तथा सब सीमाओं और न्यूनताओं से रहित है अर्थात् यह स्वयं-प्रमाणित सत्ता है, स्व-निर्धारित सत्ता है। डेकार्ट द्वारा प्रस्तुत ईश्वर की परिभाषा में इस धारणा का परिचय प्राप्त होता है कि` ईश्वर अनिवार्य रूप से है अर्थात् वह एक ऐसा तत्त्व है जो स्वयं अस्तित्ववान् है। एक अनिर्धारित सत्ता, एक` अनिवार्य-सत्ता है, क्योंकि एक अनिवार्य सत्ता ही केवल परिपूर्ण एवं परिशुद्ध है यानि यथार्थता सत्ता की पूर्णता है, इसका वर्णन डेकार्ट ने` पूर्ण सत्ता` के रूप में किया है।[2] पूर्ण सत्ता के रूप में वर्णित ईश्वर की यह धारणा सन्त एन्सेल्म की` सर्वाङ्ग पूर्णता` की धारणा के समान है। इन दोनों में अधिकांशतया शब्दों का ही भेद है। इसके पश्चात् स्पिनोज़ा के दर्शन में सत्तामूलक तर्क एक अन्य स्वरूप में प्राप्त होता है। यहाँ ईश्वर की धारणा को` सर्वाङ्ग सामान्यता` के रूप में वस्तु-तन्त्रित किया गया है अर्थात् यह एक` अत्यन्त`सामान्य सत्ता` है।[3] लाइबनीज़ में एक`संभव सत्ता के संबोध` के रूप में ईश्वर के संबोध की सजीव कल्पना की गयी है। लाइबनीज़ `संभव,` असंभव` तथा` सह-सम्भव` में भेद करते हैं। एक सत्ता जो सब सीमाओं से रहित है वह संभव सत्ता है तथा एक ऐसी सीमा है जो सीमित बिन्दुबिन्दुओं की चारित्रिक विशेषता को बताती है तथा असीमित बिन्दुबिन्दु ं का संकेत करती है और इस प्रकार असीमित बिन्दुबिन्दु का ही अस्तित्व है। लाइबनीज़ के दर्शन में तर्क की दिशा` सम्भव` से` वास्तविक` की ओर है।[4]

इन विभिन्न दार्शनिक प्रतिपादनों के साथ सत्तामूलक तर्क सिद्धान्त की दृष्टि से निम्नतम एवं उच्चतम कोटि पर प्रतिष्ठित हो गया जिसे समझने के लिए ये दो बातें अनिवार्य हैं--(१) पूर्णता का प्रत्यय और (२) अनिवार्यता का प्रत्यय, क्योंकि वैचारिक रूप से ईश्वर का, पूर्ण सत्ता या अनिवार्य सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। कान्ट पूर्वोक्त प्रकार से समझे गये इस दृष्टिकोण पर प्रहार

---

१. जॉन हिक्स, क्लासिकल एण्ड कान्टेम्परेरी रीडिंग्स इन दि फ़िलासफ़ी ऑफ रेलिजन, पृ० २६,४६५
२. वही, पृ० ४६५ तथा रिचार्ड फाल्केनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ माडर्न फ़िलासफ़ी, पृ० ९६ डी०एस० रोबिन्सन, एन एन्थॉलोजी ऑफ माडर्न फ़िलासफ़ी, पृ० १७४-७५
३. रिचार्ड फाल्केनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ़ माडर्न फ़िलासफ़ी, पृ० १२५
४. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ५०३, जहाँ कान्ट अपने फ़ुटनोट में सत्तामूलक तर्क की इस स्थिति के प्रति अपनी अस्वीकृति अभिव्यक्त करते जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ कान्ट्स एक्सप्लेण्ड, पृ० २९७

करने की चेष्टा करते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व ईश्वर के प्रत्यय से ही अनुमित होता है, जिसमें अस्तित्व को केवल अस्तित्व के संबोध के रूप में ही नहीं वरन् एक यथार्थ अस्तित्व के रूप में समझा गया है।[1] यदि डेकार्ट यह विचार करते हैं कि जिस प्रकार यह तर्कयुक्त कथन 'एक त्रिभुज दो समकोण के योग के बराबर तीन कोणों से युक्त है', अनिवार्य रूप से सत्य है, उसी प्रकार 'ईश्वर अस्तित्वयुक्त है' यह कथन भी अनिवार्यतया सत्य है। त्रिभुज सम्बन्धित कथन एक अनिवार्य सत्य इस अर्थ में है कि इसके विपरीत की कल्पना में व्याघात निहित है।[2] यदि त्रिभुज है तो उसके तीनों कोणों का योग अवश्य ही दो समकोणों के बराबर होगा। एक त्रिभुज का संबोध इस विधेय की अपरिहार्यता से युक्त है और यदि यह विधेय इस विश्लेषण से अनुमित नहीं होता तो आकृति के त्रिभुज होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हम त्रिभुज का विचार इसमें निहित ऐसे तीन कोणों से ही कर सकते हैं जिनका योग दो समकोण के योग के समान होगा, अन्यथा त्रिभुज का विचार असम्भव है। परन्तु इस आधार पर यह तर्क करना निश्चय ही भ्रामिकपूर्ण है कि ईश्वर का संबोध अर्थात् 'पूर्ण सत्ता' का संबोध अस्तित्व की अपरिहार्य अनिवार्यता से युक्त है क्योंकि एक वैचारिक अन्तर्वस्तु के रूप में एक पूर्ण सत्ता का अनस्तित्व अनिवार्यतया व्याघात की अपेक्षा रखता है।[3] सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादक यह विस्मृत कर जाते हैं कि ईश्वर-विषयक कथन और त्रिभुज विषयक कथन के बीच की समानान्तरता का दोषपूर्ण विचार किया गया है। यदि एक त्रिभुज स्वीकृत किया जाता है तो इसकी शेष बातें भी अवश्य ही स्वीकृत की जायेंगी, परन्तु यह भी संभव हो सकता है कि कोई त्रिभुज की बात ही न चलाये। यद्यपि विश्लेषणात्मक होते हुए भी यह तर्क-कथन आवश्यक रूप से सत्य है किन्तु इससे उपलब्धित तर्क सापेक्ष अथवा परिकल्पित है। यदि त्रिभुज को 'पी' प्रतीक द्वारा तथा उसके तीनों कोणों के गुण को 'क्यू' प्रतीक द्वारा प्रदर्शित किया जाय तो इस कथन को इस स्वरूप में प्रस्तुत किया जा सकेगा--

---

१. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ५०३

२. वही, पृ० ५०२

३. जॉन वाटसन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ० २६५

'पी → क्यू,' जिसका अर्थ है--पी और क्यू के निषेध के संयोग का निषेध,और इसे इस रूप में रखा जा सकेगा : ~(पी~क्यू) । जो कुछ संभवत: स्वव्याघातक या असत्य है वह उपरोक्त दिये हुए तर्कवाक्य में कथित गुणों के अभाव से युक्त एक त्रिभुज प्रत्यय की स्वीकृति है । अन्य शब्दों में पी और~क्यू का संयोग ही आत्मघाती रूप में प्रदर्शित किया गया है । परन्तु यदि हम पी का विचार ही नहीं करते तो इसका `क्यू` को अनुकूमित करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । यदि कोई`पी` है तो यह एक वृहद् संभावनामात्र ही है । अब यदि इस प्रकार के तर्क का प्रयोग यह दिग्दर्शित करने के लिए किया गया कि अस्तित्व की अस्वीकृति एक पूर्ण सत्ता के प्रत्यय के अनुकूल नहीं है तो यह तर्क एक पूर्णसत्ता के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता । ऐसा क्यों ? क्योंकि तर्क का स्वरूप इन शब्दों द्वारा युक्ति के आरंभ होने की आवश्यकता रखता है --कि यदि एक पूर्ण सत्ता है तो एक पूर्ण सत्ता की धारणा एक पूर्ण सत्ता के अस्तित्व को अनिवार्य रूप से अनुकूमित करता है । इसीलिए एक` पूर्ण सत्ता` के वास्तविक अस्तित्व के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी स्थापितनहीं होता ।'यदि एक पूर्ण सत्ता है,'परन्तु कोई जानता नहीं कि यह वस्तुत: क्या है,यह कहने से एक पूर्ण सत्ता के अस्तित्व पर संदेह करने की या उसे अस्वीकार करने की संभावना सदैव रहती है । परन्तु कान्ट का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना नहीं है कि` ईश्वर अस्तित्वयुक्त नहीं है । वह केवल यही दिखाना चाहते हैं कि यदि` वह अस्तित्वयुक्त है तो हम नहीं जानते कियह` ऐसा है` या अमुक प्रकार का है[१] । सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादक यह दुस्साहस-पूर्ण तथा असंगत दावा करते हैं कि यह जानना संभव है कि` ईश्वर अस्तित्वयुक्त है; कैसे--तर्क द्वारा जो एक पूर्ण सत्ता के प्रत्यय में व्याप्त है — ` ईश्वर-अस्तित्वयुक्त है` = एक पूर्ण सत्ता ।` एक अनिवार्य सत्ता अस्तित्वयुक्त है; यह तर्कवाक्य या तो एक विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है या यह एक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है[२] । यदि यह एक विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है तो इसे प्रतिरूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकेगा-- पी → क्यू । यदि यह एक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य

---

१. रासबिहारीदास,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न,पृ० १८२

२. एन०के० स्मिथ,कमैंट्री कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न,पृ० ५०४ ,तथा जॉन वाट्सन,दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० २८५

है तो क्यू अनिवार्यतया पी से अनुगमित नहीं होता । परन्तु जैसा कि कान्ट ने संकेत किया है प्रत्येक स्थिति में कठिनाइयां उत्पन्न होंगी और सत्तात्मक तर्क के प्रतिपादकों के प्रतिज्ञा की हानि होगी । यदि तर्कवाक्य विश्लेषणात्मक है तो स्वयं पी को ही हम अस्वीकार करेंगे,क्योंकि अभाव या निषेध के साथ पी के संयोग की अस्वीकृति की असत्यता केवल हमारे पी की धारणा के विचार करने पर ही निर्भर है,और यह पी द्वारा उल्लिखित किसी संदिग्ध वस्तु के यथार्थ अस्तित्व को निर्मित करता है । `ईश्वर अस्तित्वयुक्त है`यदि इस तर्कवाक्य को विश्लेषणात्मक समझा जाय तो ईश्वर के विषय में भी यही बात चरितार्थ होगी । `ईश्वर अस्तित्ववान है` यदि यह एक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है तभी `अस्तित्ववान है` यह विधेय ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व का द्योतक होगा,परन्तु यदि ऐसा है तो ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता के रूप में असंगत हो जायेगा और तब हम यह भी नहीं कह सकेंगे कि अस्तित्व के निषेध के साथ ईश्वर-धारणा के संयोग की अस्वीकृति व्याघात से युक्त है । एक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य की स्थिति में अनिवार्य अर्थ का सम्बन्ध दोषपूर्ण एवं असंगत सिद्ध हो जाता है ।[1]

स्थिति इस प्रकार है--एक अभिन्न कथन में विधेय को अस्वीकार करना व्याघातपूर्ण होता है जबकि उद्देश्य को धारण करना व्याघातपूर्ण होता है,परन्तु बिना शंका के उद्देश्य और विधेय को समानरूप से अस्वीकार करने में कोई व्याघात नहीं है ,क्योंकि यदि हम दोनों को ही अस्वीकार कर देते हैं तो व्याघातपूर्ण होने के लिए कुछ भी शेष नहीं बचता । इसी प्रमुख विषय को ही हमें कान्ट के तरीके से स्पष्ट करना है ।

कान्ट के तर्क का मूल आधार इस पर आधारित है कि यदि आन्तरिक विरोध के अभाव को मान लिया जाय तब भी तर्कसंगत रूप में यही स्वीकार किया जा सकता है कि केवल शून्य से अलग होकर ही `सर्वोच्च सत्ता` ककर्किं०तथा तार्किकतया एक `संभव प्रत्यय` है । यह किसी प्रकार से भी प्रत्यय के वस्तु-विषय

---

१. एन०के०स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न,पृ० ५०४,तथा जोन वाट्सन,दि फिलासफ़ी ऑफ कान्ट एक्सप्लेण्ड,पृ० २६५

की संभाव्यता को स्थापित नहीं करता । इस तर्क का खण्डन किया जाता है कि जो सत्ता अस्तित्व को समझती है,वह अस्तित्व 'सर्वोच्च सत्ता' के प्रत्यय में निहित है और उसकी आन्तरिक सम्भाव्यता को मिकाले बिना इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । तर्क का प्रमुख पक्ष है यह है कि अस्तित्व संभावित सत्ता के प्रत्यय में अन्तर्विष्ट होने की क्षमता रखता है । यदि यही बात है तो इस अस्तित्व से सम्बन्धित कथन एक विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य होगा और इसके प्रमाण पर भी आपत्ति नहीं की जा सकेगी । इस प्रकार, जैसा कि उपर्युक्त मान्यता सम्पूर्ण विषय को निर्धारित करती है,कान्ट अपने आपको इसके प्रत्यक्ष विरोध में तैयार करते हैं । यह विषय,जो प्रत्येक तर्क कथन में अस्तित्व को विधेयित करता है,संश्लेषणात्मक है,ऐसा होने पर इसकी अस्वीकृति विरोध या व्याघात से युक्त कभी नहीं हो सकती । अस्तित्व एक धारणा के अन्तर्वस्तु के अंश को कभी निर्मित नहीं कर सकता इसलिए इसे एक संभावित विधेय के रूप में भी नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए । तर्क में जो कुछ भी तार्किक रूप से इसके अनुरूप होता है,वह एक शुद्ध आकारिक संघटक तत्त्व है जैसे--संयोजक[1] । 'ईश्वर सर्व-शक्तिमान है' यह तर्कवाक्य दो धारणाओं से युक्त है तथा इनमें से प्रत्येक अपने वस्तु-विषय 'ईश्वर' और 'सर्वशक्तिमत्ता' को भी रखता है । 'है' शब्द किसी नवीन विधेय की वृद्धि नहीं करता परन्तु अपने उद्देश्य के सम्बन्ध में विधेय को स्थिररखने में सहायता करता है । इसी प्रकार जब हम उद्देश्य को इसके सभी विधेयों सहित जिसमें 'सर्वशक्तिमत्ता' भी सम्मिलित है,ग्रहण करते हैं और कहते हैं कि 'ईश्वर है'या 'ईश्वर का अस्तित्व है',तब हम ईश्वर प्रत्यय को किसी नवीन विधेय से संलग्न नहीं करते बल्कि स्वयं उद्देश्य या विषयी को इसके सभी विधेयों के साथ एक ऐसे विषय के रूप में केवल स्थापित करते हैं,जो हमारी धारणा के सम्बन्ध में स्थित

१, एन०के० स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न,पृ० ५०४,अन्तिम पैराग्राफ़ ।

रहता है। अत: तर्कवाक्य में विषय के अन्तर्वस्तु और विषयी के अन्तर्वस्तु को समान ही होना चाहिए ताकि तर्कवाक्य सत्य हो। यदि विषय-अन्तर्वस्तु धारणा अथवा प्रत्यय की अपेक्षा अधिक है तो प्रत्यय विषय को अभिव्यक्त नहीं करेगा और तर्कवाक्य एक ऐसे सम्बन्ध को प्रस्तुत करेगा जो स्थायी नहीं रहता। यथार्थ संभव के अन्तर्वस्तु की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं रखता अन्यथा यह संभव नहीं होगा वरन् संभव से पृथक कुछ होगा, जिसे 'अस्तित्ववान्' रूप में ग्रहण किया जा सकेगा। यद्यपि एक सौ थैलरों में एक सौ थैलरों से एक सिक्का भी अधिक नहीं है तब भी मेरी वित्तीय स्थिति उस समय बहुत ही भिन्न होगी जबकि एक सौ वास्तविक थैलरों के स्थान पर मेरे पास केवल एक सौ थैलरों के प्रत्यय को छोड़ कर और कुछ नहीं है। अत: यदि मेरे प्रत्ययों के बाहर अस्तित्व जैसी कोई संज्ञा हो तो सौ थैलरों के प्रत्यय से उनकी वास्तविकता को प्राप्त करना नितान्त ही एक अनर्गल बात होगी।[2]

इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि कान्ट ऐसे 'युक्ति-युक्त-ईश्वर-विज्ञान' पर अपनी मीमांसा प्रस्तुत कर रहे हैं जो विचारों को इतना प्रत्ययाश्रित बना देता है कि वे विचार स्वयं अपने आप में से ही अस्तित्व को उत्पन्न करते हैं। प्रश्न यह नहीं है कि एक 'अनिवार्य सत्ता' या एक 'पूर्ण सत्ता' की धारणा की संभाव्यता को स्वीकार करने के पश्चात् एक पूर्ण सत्ता का अस्तित्व अनुमित होगा या नहीं वरन् प्रश्न यह है कि क्या एक पूर्ण सत्ता के धारणा की संभाव्यता से एक पूर्ण सत्ता के यथार्थ अस्तित्व की अवतारणा तार्किकतया प्रमाणित है? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि यह तभी संभव हो सकता है जबकि निर्णय केवल विश्लेषणात्मक हो। परन्तु यह निश्चित है कि अस्तित्व से सम्बन्धित निर्णय विश्लेषणात्मक नहीं होते हैं वरन् संश्लेषणात्मक होते हैं।

---

१. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ० २६४

२. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ५०५

एक पूर्णसत्ता के अस्तित्व के विषय में अनुभव के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से भी हम ज्ञान नहीं रख सकते, और यह अनुभव भी एक विश्लेषणात्मक प्रक्रिया से नहीं बल्कि एक संश्लेषणात्मक प्रक्रिया से ही संभव हो सकता है। परन्तु 'सत्तामूलक तर्क' के प्रतिपादक इस भेद की पूर्णतया उपेक्षा करते हैं और एक पूर्ण-सत्ता के अस्तित्व की मान्यताओं में प्रवेश कर जाते हैं, जिसकी धारणा अनुरूपित विषय या वस्तु की सापेक्षता के बिना ही विचारणीय है।

सत्तामूलक तर्क की असंगतता से सम्बन्धित कान्ट के दृष्टिकोणों का हम निम्नलिखित प्रकार से संक्षिप्तीकरण कर सकते हैं --

(१) सत्तामूलक तर्क की प्रामाणिकता आपत्तिपूर्ण है क्योंकि यह तार्किक विधेय और यथार्थ विधेय के बीच भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है।

(२) यह एक वास्तविक तर्कवाक्य और शाब्दिक तर्कवाक्य में अर्थात् संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों में भेद करने में असमर्थ है।

(३) एक संयोजक विधेय के साथ कभी समरूपित नहीं किया जा सकता है। 'ईश्वर है' या 'ईश्वर सर्वशक्तिमान है' इनमें 'है' केवल एक संयोजक है, एक विधेय नहीं है।

(४) इस तर्क में एक पूर्ण दोष, जिसका कान्ट ने खण्डन किया है, इस पूर्वमान्यता से उत्पन्न होता है कि 'अस्तित्व एक विधेय है', जबकि यह ऐसा नहीं है।[1]

यहाँ हम ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दिये गये अन्य दो तर्कों पर भी विचार करेंगे जिनके नाम (१) सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क तथा (२) प्रयोजनमूलक तर्क हैं, और हम यह दिखाने का भी प्रयत्न करेंगे कि यद्यपि ये तर्क स्वतंत्रतापूर्वक प्रतिपादित किये गये हैं परन्तु ये सत्तामूलक तर्क के प्रमुख टेक की ही पुनरावृत्ति करते हैं।

---

१. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ५०१

२. सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क

सत्तामूलक तर्क के निष्फल स्वरूप की, इसके सभी संभव स्वरूपों में विशेष कर हमें ईश्वर के ज्ञान से अवगत कराने के सम्बन्ध में समीक्षा समाप्त करने के पश्चात् काण्ट सृष्टि-मूलक विज्ञानमूलक तर्क पर विचार करने के लिए उद्यत होते हैं। यह तर्क ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञानमीमांसा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दार्शनिकों द्वारा प्रदत्त तर्कों में एक प्रमुख तर्क है। प्रथम तर्क में काण्ट ने, एक पूर्णसत्ता के प्रत्यय से एक पूर्णसत्ता ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है; इस प्रकार से तर्क करने की निरर्थकता या तत्वहीनता को दिखाया है। इस तर्क में काण्ट अनुबद्ध तथा आपातिक आनुभविक तथ्यों से एक अप्रतिबद्ध सत्ता के अस्तित्व की ओर गमन करते हैं[1]। इन सभी अनुबद्ध अस्तित्वों का कारणता के पहलू में विवरण देने के लिए भी यह अप्रतिबद्ध अनिवार्य है। यदि अनुबद्ध अस्तित्व के स्पष्टीकरण के लिए अनिवार्य रूप से कार्य-कारणमूलक व्याख्या की अपेक्षा होती है तो कारणात्मक सम्बन्ध एक अनन्त श्रृंखला बन जाता है और तब हमें एक ऐसे 'आदि कारण' के स्वरूप में कुछ भी प्राप्त नहीं होता जो 'कारण मुक्त' है। कारण से विहीन एक कारण इसी 'आदि कारण' के अंश में अनिवार्यतया अन्तर्निहित होता है और निरपेक्ष रूप से एक स्वतंत्र कारणता को सूचित करता है अर्थात् एक ऐसा कारण है जो सब आपातों या सापेक्षताओं से मुक्त है[2]। इसका तात्पर्य यह है कि इस 'आदि कारण' को असंदिग्ध, आपातरहित अथवा अनिवार्य होना चाहिए। यह अनिवार्य सत्ता का प्रत्यय है और सभी कारण अनिवार्य रूप से अस्तित्वयुक्त सत्ताएं हैं। केवल अस्तित्वयुक्त होकर ही यह आदि कारण भी एक कारण के कार्य को पूर्ण कर सकता है। अनुबद्ध कारण-सत्ताओं की श्रृंखला में आदि कारण और अन्य कारणों में केवल यही अन्तर है कि स्वयं श्रृंखला में किसी भी कारण से यह नितान्त

---

१. रासबिहारीदास, काण्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० १८२, तथा
एन०के० स्मिथ, इमैनुअल काण्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ५०८

२. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल काण्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ५११

ही असमान है । यह केवल एक कारण के लिए अपेक्षित कारणात्मक क्षमता से ही युक्त नहीं है वरन् यह सभी संभावित संकल्पों,अर्थों तथा सीमाओं से परे है । इसी कारण 'अनिवार्य सत्ता' को एक अप्रतिबद्ध सत्ता होना चाहिए तथा अपने स्वरूप में असीमित होना चाहिए परन्तु इसे अस्तित्वविहीन नहीं होना चाहिए ।

इसी प्रकार की युक्ति के प्रति कान्ट की आपत्तियाँ अपने-अपने स्थान पर पूर्णतया विचारणीय एवं महत्वपूर्ण तो हैं ही,परन्तु कान्ट वस्तुत: जो कुछ भी दिखाने की चेष्टा करते हैं,वह इस प्रकार एक बहुत ही सामान्य स्वरूप का है कि सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क भी 'विचार' में अविच्छिन्न होने के कारण ईश्वर का केवल एक संकेतक ही हो सका,यद्यपि असमर्थ होते हुए भी यह दावा करता है कि यह हमें यथार्थत: एक अस्तित्वयुक्त सत्ता के रूप में ईश्वर का ज्ञान देता है । विचार के स्वरूप के इस सामान्य दोष के अतिरिक्त भी हमें यथार्थता का ज्ञान देने में सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क विशेष रूप से निम्न दोषों से युक्त है --(१) वह सब,जिसका हम साक्षात्कार करते हैं व जानते हैं ,अनुभव में ही प्रदत्त है इसलिए वह स्वरूप में गोचर है । इस विवाद का सामान्य अर्थ यह है कि गोचरता स्वरूप में अनुबद्ध एवं सापेक्ष है । यह सत्य है कि वह सब जो गोचर के क्षेत्र के अन्तर्गत है,अपने स्पष्टीकरण के हेतु कारणता के विषय की अपेक्षा रखता है और यह कारणता अनुभव के किसी वस्तु-विषय के बोधगम्यता की अनुभव-निरपेक्ष शर्त है,परन्तु इस गोचर से एक कारण की पूर्वमान्यताओं अर्थात् निरपेक्ष रूप से अनिवार्य और अप्रतिबद्ध की ओर कूद जाना असंगत एवं अनौचित्यपूर्ण है[१] । कुछ भी आवश्यक या अन्य रूप में एक अनिवार्य सत्ता हो सकता है,परन्तु एक बात निश्चित है कि 'अनिवार्य सत्ता' का यह प्रमुख संबोध एक अनुभवातीत संबोध है । तत्त्वदार्शनिक रूप से इसका अतीन्द्रिय स्वरूप पूर्णतया उपलक्षित होता है । इसका अर्थ यह है कि यदि अनिवार्य सत्ता अप्रतिबद्ध है तो इसका अप्रतिबद्ध स्वरूप दो बातों को पूर्ण रूप से

१, एन०के०स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न,पृ० ५११,तथा जॉन वाट्सन,दि फ़िलासफ़ी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० ३००

उपलक्षित करता है--(अ) यह एक विषयी से सम्बन्धित एक विषय नहीं है, और अतीन्द्रिय सम्बोधों अर्थात् कोटियों के अन्तर्गत किसी कोटि द्वारा निर्धारित या विमर्शित प्रत्यक्ष-अनुभूति नहीं है। अनुबद्ध या प्रतिबद्ध होने का अर्थ है कोटि-विमर्शणीय होना। (ब) इसका अर्थ यह भी होना चाहिए कि जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है उसके लिए यह इन्द्रियग्राह्य या संवेद्य है और यह बुद्धिकोटियों में से किसी एक के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क' के प्रतिपादकों के लिए दो शर्तों को अवश्य ही पूरा होना चाहिए। अप्रतिबद्ध को प्रतिभासित होना चाहिए परन्तु एक गोचर या संवृत्ति के रूप में नहीं। परन्तु यहां एक स्पष्ट विरोध है क्योंकि कुछ भी 'गोचर' और 'अगोचर' दोनों नहीं हो सकता है। जो कुछ एक गोचर या आभास है उसके निर्धारण की ओर 'विचार का प्रसार' ऐसा दृष्टिगत होता है जैसे कि विचार की व्यवस्था का ही प्रत्याख्यान किया जा रहा हो। कारणता की बुद्धि-कोटि स्वयं विचार की ही एक कोटि है और यह केवल सीमित तथा प्रतिबद्ध अर्थात् गोचर के क्षेत्र में ही प्रामाणिक विनियोग रखता है। कान्ट सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क के प्रतिपादकों के इस अनौचित्यपूर्ण प्रयत्न के प्रति सजग है कि उन्होंने कारणता की बुद्धि-कोटि को एक स्वतंत्रता के साथ प्रतिष्ठित किया है, जबकि वस्तुत: यह स्वतंत्रता से युक्त नहीं है। हम जानते हैं कि किसी भी वस्तु से सम्बद्ध रूप में समझा गया एक स्वतंत्र कारण एक व्याघातपूर्ण धारणा है। यद्यपि सृष्टि विज्ञानमूलक तर्क के प्रतिपादक कारणों की गोचर या व्यावहारिक श्रृंखला में अनुस्यूत एक अनवस्था दोष से भयभीत रूप से अवगत है, परन्तु एक अनिवार्य सत्ता के रूप में आदि कारण की केवल स्थापना ही यहां निर्दिष्ट अनवस्था-दोष के अनिवार्य तथा अप्रतिरोध्य स्वरूप की स्वीकृति से इस तर्क की प्रवृत्ति को छुटकारा नहीं दिलाती है। इसलिए आपत्ति का निष्कर्ष यह है

---

१. जोन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ० २९९-३००

कि जब भी अनवस्था दोष की स्थिति किसी स्थान पर श्रृंखलाओं के विराम या अवरोध की अपेक्षा करती है तब यह सिद्ध होता है कि यथार्थतः अस्तित्वयुक्त रूप में समझी जाने वाली अनिवार्य सत्ता के प्रत्यय पर विराम करना फलीभूत नहीं होता है । ऐसा इसलिए है क्योंकि किसी वस्तु के कारण के रूप में हम इस प्रकार की एक अनिवार्य सत्ता की मांग नहीं कर सकते । अनिवार्य सत्ता का प्रत्यय ही स्वयं कारणता के विनाश का कारण है । यदि एक अनिवार्य सत्ता एक यथार्थ सत्ता है,जैसा कि इसे होना चाहिए तब यह सब जो अनिवार्य नहीं है केवल आभास या प्रतीति मात्र होगा । एक अनिवार्य सत्ता आपातिकता से विशेषित एवं स्वरूपित सभी गोचर विभिन्नताओं का अधिष्ठान होगी,परन्तु अधिष्ठान वही वस्तु नहीं है जिसे सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क के प्रतिपादक कारण के रूप में समझते हैं ।

(२) यह मान्यता अपने स्थान पर संगतपूर्ण एवं उचित हो सकती है कि गोचर क्षेत्र में प्रत्येक वस्तु की व्याख्या के लिए कारण की अपेक्षा होती है, परन्तु कारणता की समस्या एक अनवस्था-दोष को क्यों उपलक्षित करती है ? गोचर के क्षेत्र में एक प्रतिबद्ध कारण ही यथेष्ट एवं समुचित व्याख्या है और यदि स्व-निर्धारित एवं स्व-अपेक्षित अर्थ में अप्रतिबद्ध तथा निरपेक्षतया अनिवार्य होकर ईश्वर सभी गोचरता से परे है तो कोई भी व्यक्ति यह समझने में पूर्णतया असफल हो जाता है कि इस प्रकार की कोई वस्तु कैसे एक कारण भी हो सकती है[१] । हम यह कहने में बहुत ही औचित्यपूर्ण होंगे कि इस प्रकार का एक'अप्रतिबद्ध कारण' एक' यथार्थ कारण' नहीं हो सकता । यह एक कारण के रूप में केवल आभासित ही होता है ।

(३) उपरोक्त विवरण के पश्चात् यह स्पष्ट करने पर भी कि अप्रतिबद्ध अस्तित्व अप्रतिबद्ध को सूचित करता है अथवा' प्रतिबद्ध-सत्ता' अनिवार्य -सत्ता'को

---

१. जॉन वाट्सन,दि फिलासफी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड,पृ० ३००,तथा रासबिहारीदास,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न,पृ० १८४

सूचित करती हैं ,कारणता प्रमाणित नहीं होती ।[1] इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुत: एक अस्तित्वयुक्त कारण के रूप में अनिवार्य सत्ता सिद्ध नहीं की गयी है । इस प्रकार हमारे समक्ष केवल एक अनिवार्य सत्ता का प्रत्यय ही शेष रह जाता है और यदि यह स्वीकार किया जाता है कि इस प्रकार की एक अनिवार्य सत्ता अवश्य ही अस्तित्ववान् है तो हम पुन: एक बार सत्तामूलक तर्क की आवृत्ति करते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि हमनेसत्तामूलक तर्क को ही सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क के रूप में एक दूसरा नाम प्रदान कर दिया है । परिणामस्वरूप हमें यही कहना होगा कि सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क भी अपनी रचना में सत्तामूलक तर्क के सभी दोषों को प्रच्छादित या समाहित किये हुए हैं ।[2]

प्रकृति-प्रयोजनमूलक तर्क

यह एक ऐसा तर्क है जिसे सामान्यतया प्रकृति के क्रम में प्रगट प्रयोजन अथवा रचना से प्राप्त तर्क के रूप में जाना जाता है । इस तर्क में सृष्टि में विद्यमान परिकल्पना एवं प्रयोजन के आधार पर एक रचयिता ईश्वर का अनुमान लगाया जाता है । इस तर्क के प्रमुख उद्देश्य विषय अधोलिखित हैं --

(१) विश्व में प्रत्येक स्थान पर एक उद्देश्यपूर्ण व्यवस्था के स्पष्ट चिह्न एवं लक्षण प्राप्त होते हैं,जिसे अत्यधिक बुद्धिमत्ता से कार्यान्वित किया गया है, और एक समष्टि की रचना अपने अन्तर्वस्तुओं में अनिर्वचनीय रूप से भिन्न है तथा विस्तार में असीमित है ।[3]

(२) यह सुव्यवस्था,उपयुक्तता या क्षमता किसी तरह से भी विश्व में अस्तित्व रखने वाली वस्तुओं की प्रकृति में सम्मिलित नहीं है बल्कि यह एक बाह्य गुण है जो बाहर से ही आकस्मिक रूप से उन वस्तुओं से संलग्न है । अन्य शब्दों

---

१. वाट्सन,दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेण्ड,पृ० ३००

२. एन०के० स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न,पृ० ५१२,तथा रासबिहारीदास,कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न,पृ० १८३-८४

३. एन०के० स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न,पृ० ५१९ तथा ५२१

में भी स्पष्ट है कि प्रकृति में विभिन्न वस्तुएं निश्चित उद्देश्यों की ओर स्वेच्छा से कभी सहयोगपूर्वक कार्य नहीं करतीं, और निश्चित मौलिक प्रत्ययों के अनुसार एक बौद्धिक सुव्यवस्थित शक्ति के द्वारा उनका उद्देश्ययुक्त रूप में चुनाव नहीं किया गया है और न उन्हें क्रमबद्ध किया गया है।

(३) अत: एक महान उदात्त और बुद्धिमान कारण का अस्तित्व है, जिसे विवेकशून्य होकर कार्य करने वाली सर्वशक्ति-सम्पन्न प्रकृति के उत्पादन-शक्ति में नहीं प्राप्त करना है वरन् जिसे एक विवेकयुक्त कारक या कर्ता की स्वतंत्रता में प्राप्त करना है[1]।

(४) इस कारण की एकता का अनुमान एक कौशलपूर्ण भवन के भागों की भांति विश्व के विभिन्न भागों के परस्पराश्रित सम्बन्ध की एकता से हो सकता है[2]।

दार्शनिक चिन्तक कान्ट इस तर्क की निरर्थकता एवं सारहीनता को इसी में निहित दोषों की व्याख्या द्वारा सिद्ध करते हैं। ये दोष निम्नप्रकार के हैं :--

प्रथम तो यह तर्क ईश्वर और विश्व के बीच निहित सम्बन्ध में मानव कौशल एवं कारीगरी से प्राप्त प्रत्ययों के संक्रमण को समाहित करता है। अन्य शब्दों में यह कहा जाता है कि इस तर्क में ईश्वर और विश्व के सम्बन्ध का विचार, वास्तुकार और उसके द्वारा निर्मित भवन के बीच के सम्बन्ध की सादृश्यरचना या अनुरूपता के पश्चात् किया जाता है। जिस प्रकार से एक तथाकथित स्थापति या वास्तुकार उपादान पदार्थों पर स्वयं अपने ही लक्ष्य को आरोपित करके कच्चे और अव्यवस्थित उपादानों या पदार्थों को एक सुव्यवस्थित, संगतिपूर्ण एवं सामंजस्यपूर्ण कृति में रूपान्तरित करता है उसी प्रकार ईश्वर भी अव्यवस्थित, असम्बद्ध उपादानों अथवा पदार्थों की एक वृहत् राशि को सौन्दर्ययुक्त और सामंजस्यपूर्ण या संगतिपूर्ण सृष्टि में रूपान्तरित करते हैं[3]।

---

१. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ५२१

२. वही, पृ० ५२१

३. रासबिहारी दास, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न, पृ० १८६

परन्तु इस प्रकार से यह तर्क हमें ईश्वर का ज्ञान इसके विषय के या 'ईश्वर' पद के सही अर्थ में नहीं प्रदान करता । यहाँ तो 'ईश्वर' को 'विश्वकर्मा' के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है । यह ऐसा 'विश्वकर्मा' है जो अपनी व्यवस्था में उपादान पदार्थों के अस्तित्व द्वारा सीमित है । एक विश्वकर्मा ईश्वर नहीं है जो इसके उद्देश्यों और रचनाओं का कुशल निर्माता न हो कर विश्व का प्राण और उसकी आत्मा[1] है ।

पुन: यह स्पष्ट होता है कि इस तर्क द्वारा सीमित क्रम से बुद्धिमत्ता, शुभत्व तथा असीमित शक्तियों से युक्त एक असीम सत्ता की ओर संक्रमण करना उचित एवं न्यायसंगत नहीं हो सकता है । क्योंकि सीमित विश्व के सीमित अभिकल्पों से यह अनुमित करना असम्भव है कि इसके रचयिता को एक पूर्णतम सत्ता अवश्य होना चाहिए । प्रकृति प्रयोजनमूलक तर्क के अनुसार यदि एक सीमित व अनिश्चित या आपातिक विश्व से इसके सृष्टिकर्ता के रूप में एक अतिपूर्णतम सत्ता की ओर संक्रमण सम्भव बनाया जा सकता है तो हम अवश्य यह कह सकते हैं कि सीमित विश्व एक निरपेक्ष अप्रतिबद्ध और इसीलिए एक पूर्णतम सत्ता का संकेत करता है और इस प्रकार की एक सत्ता अपने अस्तित्व की अपरिहार्यता से युक्त है । परन्तु ऐसा कहना तो सृष्टि विज्ञानमूलक और सत्तामूलक तर्कों पर पहुंच जाना है । अत: यह प्रकृति प्रयोजनमूलक[2] तर्क अपने दोषों के अतिरिक्त उपरोक्त दोनों तर्कों के दोषों से भी युक्त है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा द्वारा प्रतिपादित किये गये सभी तर्क दोषपूर्ण[3] हैं और इसलिए युक्ति-युक्त ईश्वरमीमांसा स्वयं ही सारहीन एवं न्याय-असंगत है । बहुत प्रयत्न के बावजूद भी यह हमें ईश्वर का यथार्थ ज्ञान नहीं प्रदान कर सकता ।

---

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ० ३०४-३०५

२. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ०५२३-५२४

३. वही, पृ० ५२८

हमारे इस कथन में किसी प्रकार के औचित्य की हानि न होगी कि युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की भांति ईश्वरमीमांसा की तत्त्वदार्शनिक व्यवस्था भी हमें अपने विचार-विषयों का अल्पतम संभव ज्ञान प्रदान करने में असमर्थ है।

(३) युक्ति-युक्त सृष्टि-विज्ञान
शुद्ध-बुद्धि के विप्रतिषेध

'रैफलैक्सनन' में स्पष्ट होता है कि स्वयं प्रज्ञा में निहित एक तात्त्विक-आत्म-विरोध की प्रतीति ने कान्ट के ध्यान को आकर्षित किया था।[१] अतः इसका उनके आलोचनात्मक दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा। युक्ति-युक्त सृष्टि-विज्ञान मूलतः सम्पूर्ण द्वन्द्वन्याय को आत्मसात करने के लिए विवक्षित था। फिर भी बाद में अनुभवातीत तर्कशास्त्र की परियोजना ने अपने आपको कान्ट के समक्ष प्रस्तावित किया। परिणामस्वरूप इस व्यवस्था में विप्रतिषेधों को सम्मिलित करना अनिवार्य हो गया। यदि द्वन्द्वन्याय सम्पूर्ण रूप से न्यायवाक्य के अनुरूप है तो विप्रतिषेध भी हेतुफलाश्रित न्यायवाक्य से अनुरूपता रखते हैं और इसलिए उनको अपने वस्तुओं के एक अंश को निरुपाधिक और वियोजक न्याय-वाक्य के साधन हेतु अर्पित कर देना चाहिए। इस प्रकार युक्ति-युक्त सृष्टिविज्ञान को (१) सृष्टि (२) अमरता (३) स्वातंत्र्य तथा (४) ईश्वर--इन चार कुठित विप्रतिषेधों में से प्रथम तथा तृतीय का ही विचार करना चाहिए। द्वितीय अर्थात् अमरत्व को युक्ति-युक्त मनोविज्ञान और चतुर्थ अर्थात् ईश्वर को युक्तियुक्त ईश्वर-विज्ञान के साथ छोड़ देना चाहिए।

विप्रतिषेध प्रज्ञा और बुद्धि के द्वन्द्व से उत्पन्न होता है। प्रज्ञा अथवा तर्कबुद्धि अपने आपको किसी अपूर्ण वस्तु से सन्तुष्ट नहीं कर सकती, इसीलिए वह एक पूर्ण वस्तु की अनर्पित मांग करती है, परन्तु बुद्धि भी उसकी इस मांग पूर्ति के लिए उसे पूर्णता नहीं प्रदान करती। जो केवल तार्किक भूल का ही एक विषय है, ऐसे तर्काभास से भिन्न यह द्वन्द्व किस प्रकार इस प्रकार की भूल से उत्पन्न नहीं है

---

१. एन०के० स्मिथ, ए कमेंट्री टू कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ४४८-४६, जहाँ कान्ट के 'रैफलैक्सिओनेन' में प्राप्य विचार उद्धृत किये गये हैं।

यह द्वन्द्व या विरोध स्वयं प्रज्ञा के स्वभाव से ही उत्पन्न होता है ,इस कारण यह अपरिहार्य एवं अनिवार्य है।[1] यह एकदेश व एककाल में गोचर के एक पूर्ण समष्टि के रूप में विश्व से सम्बन्ध रखता है। विश्व के प्रत्यय के बारे में विशेषता यह है कि प्रज्ञा दो ऐसे तर्कवाक्यों के बीच एक द्वन्द्व या वैषम्यता के उभयतःपाश के स्वरूप को अपनाती है,जिनमें से प्रत्येक कथन समानरूप से सत्य प्रतीत होते हैं। अप्रतिबद्ध की मांग के अनुरूप परिमाण,गुण,सम्बन्ध और प्रकारता से सम्बन्धित चार विप्रतिषेध उत्पन्न होते हैं,जो संहति,विभाजन,प्रारम्भण और गोचर की निर्भरता में पूर्णता की मांग करते हैं।[2]

चार विप्रतिषेधों को निम्नस्वरूप के उभयतः पाशों के रूप में रखा जा सकता है :—

(१) सीमा और अप्रतिबद्ध का उभयतः पाश

(२) सरल और संहत् का उभयतः पाश

(३) स्वातंत्र्य और कारणता का उभयतः पाश

(४) अपरिहार्यता और आपात् का उभयतःपाश

(१) सीमा और अप्रतिबद्ध का उभयतः पाश[3]

यहां निर्दिष्ट प्रथम उभयतः पाश हमें ससीम से असीम के विप्रतिषेधों की ओर ले जाता है। ससीमता और असीमता का उभयतःपाश इस विप्रतिषेध का विचार करता है। विवाद है कि देश और काल के पहलू से विश्व सीमित है। परन्तु इसका व्याघाती दृष्टिकोण भी इसी प्रकार संभव है कि देश और काल के पहलू से विश्व असीमित है।

---

१. जे०पी० महफी,डी०डी०,सी०वी०ओ० और जे०एच० बर्नार्ड,डी०डी०,डी०सी०एल० कान्ट्स क्रिटिकल फिलासफी ।,थर्ड एडीशन,वाल्यूम-२,पृ० १०३

२. एन०के० स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न,पृ० ३६०

३. वही,पृ० ३६२

(२) सरल और संयत् का उभयतः पाश -- यह वस्तु-विषयों के अमिश्रितता तथा मिश्रितता का उभयतः पाश है । यह न्यूनतम विस्तार-सम्बन्धी उभयतः पाश है । वस्तुओं के अन्तिम भाग समुचित रूप से अमिश्रित या सरल होते हैं और विभाजित किये जाते हैं,इसलिए इनकी विभाजनीयता की एक सीमा है । इसके विपरीत विवाद यह है कि वस्तुओं के अन्तिम भाग अपने आप में मिश्रित हैं इसलिए उनकी विभाजनीयता की कोई सीमा नहीं है ।

(३) स्वातंत्र्य और कारणता का उभयतः पाश-- प्रश्न यह है कि कारणता स्वतंत्र है या यान्त्रिक रूप से बद्ध है । उभयतःपाश कारणों की श्रृंखला से सम्बन्धित है । विवाद के स्वरूप का एक पक्ष यह है कि स्वातंत्र्य का अस्तित्व है,प्रकृति के नियमों के अनुसार कारणता केवल कारणता नहीं है,एक स्वतंत्र कारणता है । विवाद का दूसरा पक्ष यह प्रदर्शित करता है कि कहीं स्वातंत्र्य नहीं है,प्रकृति के नियमों के अनुसार कारणता ही केवल कारणता है,कोई भी मुक्त कारणता नहीं है ।

(४) अपरिहार्यता और आपात का उभयतः पाश -- इस उभयतः पाश में विचारणीय विषय यह है कि विश्व,सत्ता की अपरिहार्यता से सम्बन्धित है या आपात से । विश्व के सम्बन्धों में एक आत्यन्तिक अनिवार्य सत्ता पायी जाती है,इसके विपरीत कोई भी आत्यन्तिक अनिवार्य सत्ता नहीं है वरन् केवल आपातिक सत्ता है ।

इनके पक्ष तर्कबुद्धिवादी,मतागृही तथा आध्यात्मिक दर्शन की निर्मिति करते हैं और इसके विपरीत[१] प्रतिपक्ष इन्द्रियानुभववादी संदेहवादी तथा भौतिकवादी दर्शन की निर्मिति करते हैं । धर्म-मीमांसा का सदैव विज्ञान से विरोध रहा है । उदाहरण के रूप में यह विरोध भी उसी प्रकार का विरोध है जिसमें धर्म-मीमांसा की ओर प्लैटो,चर्च और लाइबनीज़ आवेंगे तथा विज्ञान के पक्ष की ओर एपिक्यूरस,ह्यूम आवेंगे तथा स्वयं विज्ञान भी आवेगा । परन्तु कान्ट उन दोनों

---

१. एन०के० स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न,पृ० ४२४-२५

के बीच एक मध्यस्थ अथवा निर्णायक का कार्य करते हैं । प्रत्येक वादी, प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हैं परन्तु दार्शनिक कान्ट इस सत्यता से पूर्णतया अवगत है कि उनमें से कोई भी अपने पक्ष की रक्षा नहीं कर पाते ।

आलोचनात्मक आध्यात्मवाद के अतिरिक्त तर्कबुद्धिवाद और अनुभववाद के विप्रतिषेध का कोई भी समाधान नहीं है । यह आलोचनात्मक अध्यात्मवाद इस समस्या को गोचर का एक ऐसा क्षेत्र प्रदान करता है जिस पर देश, काल व बुद्धि-कोटियों का नियन्त्रण है । इतना ही नहीं यह आलोचनात्मक अध्यात्मवाद गोचर से पृथक् एक ऐसे परमार्थ को भी निर्धारित करता है जो देशातीत, कालातीत व अचिन्त्य है । प्रथम दोनों गणितिक विप्रतिषेध हैं तथा अन्तिम दोनों गतिशील विप्रतिषेध हैं । प्रथम[1] दो विप्रतिषेधों के समाधान को `अस्ति नास्ति तथैव` के रूप में वर्णित किया जा सकता है तथा अन्तिम दो के समाधान को अस्तिवाचक रूप में अर्थात् स्वीकारात्मक रूप में ही वर्णित किया जा सकता है । अत: प्रथम दो विप्रतिषेधों में पक्ष तथा विपक्ष--दोनों ही समान रूप से असत्य हो जाते हैं तथा बाद के दो विप्रतिषेधों में पक्ष तथा विपक्ष दोनों ही सत्य हो सकते हैं ।

सभी विप्रतिषेधों में पूर्ण रूप से प्रज्ञा दो रूपों में विभक्त हो जाती है क्योंकि यह ससीम में स्थित होने का प्रयास करती है तो विचार किसी भी विवेकाधीन सीमा से परे पहुंचने के कारण इसका विरोध करता है और यदि यह अपने आपको असीम के स्थान-बिन्दु पर स्थित करती है तो वहांपहुंचने में असमर्थ होने के कारण प्रत्यक्षीकरण इसका विरोध करता[2] है ।

यहां हम निम्न प्रकार से परिमाण, गुण, सम्बन्ध तथा प्रकारता--चार शीर्षकों के अन्तर्गत विप्रतिषेधों की कान्ट द्वारा दी गयी रूपरेखा को संक्षिप्त में यथार्थत: प्रस्तुत करेंगे, जिनमें से प्रथम दो गणितिक तथा बाद के दो गतिशील विप्रतिषेधों को निर्मित करते हैं ।

---

१. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ३९३
२. जे०पी० मफी, डी०डी०, सी०बी०ओ तथा जे०एच० बर्नार्ड, डी०डी०, डी०सी०, एल०, कान्ट्स क्रिटिकल फिलासफी, थर्ड एडीशन वॉल्यूम-२, पृ० १०४

(१) परिमाण :-

(अ) पक्ष :- विश्व का प्रारम्भ काल के अन्तर्गत होता है, और दैश की दृष्टि से यह सीमाबद्ध[1] है ।

यदि इसका प्रारम्भ कालान्तर्गत नहीं है तो हमें यह कहना पड़ेगा कि काल के प्रत्येक क्षण के अन्तर्गत समस्त समय के दिये हुए बिन्दु पर अनन्त काल व्यतीत हुआ है और इस प्रकार इस अनन्तता को एक समाप्ति पर आना होगा । यह समाप्ति भी एक दिये हुए क्षण में ही होगी, जो कि असम्भव है । यदि दैश की दृष्टि से विश्व में कोई सीमायें नहीं है, तब हमें यह मानना पड़ेगा कि विश्व असीमित रूप से विस्तृत परिमाण में हो जिसे निर्मित करने के क्रम में इसके खण्डों या अवयवों को काल की एक अनन्त अथवा असीम मात्रा को स्वीकार करना पड़ेगा अर्थात काल की अनन्तता व्यतीत हो जायेगी, परन्तु ऐसा असम्भव दर्शाया जा चुका है । इस प्रकार पक्ष में प्रत्येक तर्क-कथन की अस्वीकृति न्याय-असंगतता तथा तार्किक अनौचित्य को समाहित करती है ।

(ब) प्रतिपक्ष :- विश्व का प्रारम्भ कालान्तर्गत नहीं होता है और दैश की दृष्टि से यह सीमाबद्ध नहीं है अथवा असीमित[2] है ।

यदि विश्व का प्रारम्भ काल में हुआ है तो एक ऐसा समय भी अवश्य रहा होगा जिसमें विश्व नहीं था और एक रिक्त काल या समय रहा होगा । परन्तु एक रीते समय में किसी भी वस्तु का उद्भव नहीं हो सकता । इसी प्रकार से यदि विश्व दैशान्तर्गत सीमित है, तब हमें अनिवार्य रूप से यह मानना पड़ेगा कि इसके परे अवश्य ही एक रिक्त दैश होगा जिसके द्वारा इसकी सीमा निर्धारित थी । परन्तु रीता दैश निरर्थक अर्थात् असंभव है । संवेदनशास्त्र में कान्ट द्वारा इसका यथेष्ट रूप से स्पष्टीकरण हो चुका है, जिसमें उन्होंने यह दर्शाया है कि दैश स्वयं एक वस्तु-विषय नहीं है बल्कि सम्बन्धित वस्तु-विषयों की केवल एक संभावना मात्र[3] है । यहां भी हम एक ऐसी परिस्थिति का सामना करते है,

---

१. एन०के० स्मिथ, क्रिटीक् ऑफ प्योर रीजन, पृ० ३९६

२. वही, पृ० ३९६

३. [illegible]

जिसमें प्रतिपक्ष के प्रत्येक वादी की अस्वीकृति तार्किक अनौचित्य को समाहित करती है।

यहां दोनों पक्षों पर तार्किक अविरुद्धता से एक आत्यन्तिक विप्रतिषेध को आन्वीक्षात्मक रूप में प्रदर्शित किया गया है।

(२) गुण -- अर्थात् सरल और संहत का विप्रतिषेध।

(अ) पक्ष--विश्व में प्रत्येक संहत् पदार्थ सरल भागों से संगठित होता है। इसका तात्पर्य यह है कि विभाजनीयता की एक सीमा है।[1]

यदि मान लें कि विभाजनीयता की कोई सीमा नहीं है तो पदार्थ को अवश्य ही सदैव अनन्त रूप से विभाज्य होना चाहिए, इसलिए एक यथार्थ द्रव्य जैसी भी कोई वस्तु नहीं होनी चाहिए। `अनन्त विभाजनीयता` और द्रव्य परस्पर विरोधी हैं। अत: कोई भी अनन्त विभाजनीयता का संगतपूर्ण प्रतिपादन नहीं कर सकता, यदि यह वस्तुओं में एक भौतिक या वास्तविक यथार्थता को स्वीकार करता है। इस युक्ति से सम्बन्धित कान्ट का कथन मूल रूप में बहुत स्पष्ट तो नहीं है, फिर भी हीगल यह सुझाव देते हैं कि यहां संहत् के स्थान पर अविच्छिन्न शब्द अधिक उपयुक्त एवं अर्थयुक्त होगा।[2] यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि पक्ष के हेतु युक्ति लाइबनीज़ के व्यक्तिगत द्रव्य यानि चिद्-बिन्दु की धारणा से प्राप्त की गयी है। इसे कान्ट ने भी आनुषंगिक रूप से ग्रहण किया है।[3]

इस प्रकार पक्ष की अस्वीकृति न्याय-असंगतता एवं अनौचित्यता से युक्त है।

(ब) प्रतिपक्ष--विश्व में कोई भी संहत् वस्तु असंहत भागों से संगठित नहीं होती अर्थात् विभाजनीयता की कोई सीमा नहीं है।[4]

---

१. एन०के०स्मिथ, क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ४०२
२. जी०आर०जी०म्यूर, ए स्टडी ऑफ हीगल्स लॉजिक, पृ० ६१-६२
३. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल काण्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ४०६
४. वही, पृ० ४०२

यदि मान लिया जाय कि विभाज्यीयता की एक सीमा है अर्थात् पदार्थ असंख्य खण्डों से निर्मित होता है तो यह पदार्थ पूर्णतया देश में अवस्थित नहीं हो सकेगा, क्योंकि जब पदार्थ केवल सान्तरूप से विभाज्य है तब देश अनन्त रूप से विभाज्य है । देश में अस्तित्व रखने के लिए एक पदार्थ को उसी विशेष से युक्त होना पड़ेगा जो स्वयं देश में हो, और न तो यह वस्तु-विषय काल के अन्तर्गत ही अस्तित्व रख सकता है, भले ही इसे एक ` आन्तरिक गोचर` के रूप में समझा जाय । क्योंकि देश अथवा काल, किसी के द्वारा भी प्रस्तुत करने से इसमें नानत्व का आभास हो जायेगा ।

अत: प्रतिपक्ष की अस्वीकृति भी एक असंगति से युक्त है ।

(3) सम्बन्ध -- एक स्वतंत्र कारणता तथा यान्त्रिक कारणता का विप्रतिषेध ।

`वैलेस` के अनुसार कान्ट के चिन्तन में कारणता वह विभाजक रेखा है जिससे प्रवाह विरोधी घाटियों की ओर अपरोपित होते हैं ।[1]

पक्ष :--` यान्त्रिक कारणता` ही ` कारणता` का केवल प्रकार नहीं है, इसका अर्थ यह है कि स्वतंत्र कारणता को मानना भी अनिवार्य है ।[2]

यदि मान लें कि कोई स्वतंत्र कारण नहीं है तब ऐसी स्थिति में भी प्रत्येक उत्तरवर्ती कार्य का सदैव एक पूर्ववर्ती कारण तो अवश्य ही होता है । स्वतंत्र कारण को न मानने से एक पूर्ण कारण का भी अस्तित्व कदापि नहीं हो सकता है और परिणामस्वरूप` अनवस्था दोष` की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । इससे यह भी उपलक्षित होता है कि घटित होने वाले गोचर के लिये एक पर्याप्त कारण भी नहीं हो सकता । इससे कारणता के नियम को भी बाधित हो जाना चाहिए ।

इस प्रकार यहां भी पक्ष की अस्वीकृति एक असंगतता तथा अनौचित्य को प्रदर्शित करती है ।

प्रतिपक्ष :--यान्त्रिक कारणता ही कारणता का केवल प्रकार है, इसका तात्पर्य है कि कोई भी स्वतंत्र कारण नहीं है ।[3]

1. वैलेस, दि लॉजिक ऑफ हीगल, पृ. 100
2. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० 409
3. वही, पृ०409

यदि हम किसी स्वतंत्र कारण को स्वीकार करते हैं तो यह कारण केवल कारण-कार्यों की श्रृंखला को प्रारम्भ ही नहीं करता प्रत्युत उस श्रृंखला को प्रारम्भ करने के लिए स्वयं को नियत करता है। परन्तु जैसा कि कारण स्वयं को नियत करता है तब इसका पूर्ववर्ती तो कुछ भी नहीं है, जो इसे निर्धारित करता हो। परन्तु यह बात तो कारणता या कारणभाव की धारणा में निहित है, इसलिए ये जो एक 'निरपेक्ष आदि' को निर्मित करने वाला माना गया है, ऐसा स्वतंत्र कारण, कारणता के नियम को ही खण्डित एवं बाधित करता है। अत: इस प्रतिपक्ष की अस्वीकृति भी न्याय-असंगतता को प्रदर्शित करती है।

(४) निश्चय-मात्रा--अपरिहार्यता तथा आपात का विप्रतिषेध।

पक्ष :--विश्व में एक नितान्त अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व है, या तो इस विश्व के अंश के रूप में है अथवा इसके कारण के रूप में है।[1]

इसको सिद्ध करने के लिए कान्ट अपनी पद्धति को थोड़ा-सा परिवर्तित कर देते हैं। अन्य विषयों में जिस कान्ट ने प्रत्येक पक्ष, विपक्ष के विपरीत पक्षों को स्वीकार करके विप्रतिषेधों को सिद्ध किया है, परन्तु इस विषय की सिद्धि को कान्ट इसके विपरीत विषय की स्वीकृति द्वारा प्रारम्भ नहीं करते। प्रथम तो वह एक 'अनिवार्य सत्ता' को सिद्ध एवं प्रमाणित केव करते हैं तत्पश्चात् वह इसके विपरीत पक्ष को स्वीकार करते हैं कि यह अनिवार्य सत्ता विश्व से बाहर है और तब प्रदर्शित करते हैं कि इस प्रकार की स्थिति एक न्याय-असंगतता को समाधित करती है।

कान्ट का कथन है कि अनुभव-जगत काल के अन्तर्गत एक जगत है और इसी कारण यह अनुभव-जगत परिवर्तनों की श्रृं श्रृंखलाओं को अन्तर्विष्ट करता है जिनमें से प्रत्येक श्रृंखला अनुबद्ध होती है। अत: यह 'अनुबद्ध श्रृंखला' अपने अस्तित्व के लिए कुछ अप्रतिबद्ध या निरपेक्षतया नितान्त अनिवार्य वस्तु की पूर्व अपेक्षा रखती है।[2]

---

१. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ४१५

२. वही, पृ० ४१७

अब पक्ष में प्रतिपादित यह नितान्त अनिवार्य सत्ता एन्द्रिय जगत में अन्तर्निहित है। इसके विपरीत यदि यह मान लें कि विश्व से बाहर इसका अस्तित्व है तब इस विषय में हम विरोधों में फंस जाते हैं। जबकि ऐन्द्रिय जगत में परिवर्तन की श्रृंखलाएं अपना उद्गम इसी से प्राप्त करती हैं तो अनिवार्य कारण भी इसी ऐन्द्रिय जगत से सम्बन्धित होगा। यदि एक अनिवार्य सत्ता विश्व से बाहर या परे अस्तित्व रखती है तो यह विश्व में ही उत्पन्न या प्रारम्भ नहीं हो सकती। अत: इस पक्ष की अस्वीकृति भी असंगति से परिपूर्ण है।

प्रतिपक्ष :- विश्व के बाहर या विश्व के अन्तर्गत एक कारण के रूप में एक नितान्त अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है।

यदि हम मान लें कि विश्व में एक अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व है अथवा विश्व ही एक अनिवार्य सत्ता है तब ऐसी स्थिति में जबकि यह सत्ता अनिवार्य है, इन दो वस्तुओं में से एक अवश्य घटित होगी :-(१) निरपेक्ष रूप से एक अनिवार्य सत्ता होगी जिसका तात्पर्य है कि यह सत्ता एक कारण के अभाव में होगी अत: एक कारण द्वारा कालान्तर्गत सभी निर्धारण के गतिशील नियम का यह विरोध करता है। (२) या यह मानें कि विश्व स्वयं ही एक अनिवार्य सत्ता है तब परिवर्तन की अनन्त श्रृंखला एक सम्पूर्ण रूप में नितान्त अनिवार्य होगी जबकि इसमें से प्रत्येक आपातिक है। यह स्वयं ही अपना विरोध करती है क्योंकि पृथक्-पृथक् आपातिक वस्तुओं की बहुसंख्यक राशि एक समष्टि के रूप में अनिवार्य अथवा अपरिहार्य नहीं हो सकती।

यदि हम यह मान लें कि विश्व से बाहर एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व है और यह सत्ता गोचर की (श्रृंखला) प्रारम्भ करती है तो इसकी 'कारणता' का काल में पाया हो जाना चाहिए। परन्तु यदि ऐसा है तो यह स्वयं ही अनुभव के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है।

---

१. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल काण्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ४१५

अतः सभी प्रकार से प्रतिपक्ष की अस्वीकृति अनौचित्य की ओर संकेत करती है।

हमने चारों विप्रतिषेधों का समाधान प्रस्तुत किया है परन्तु उनके समाधान से पूर्व हम निम्नलिखित बातों को ध्यान में रख सकते हैं :--

(१) बुद्धिवाद के दर्शन से संगृहीत पक्ष तथा अनुभववाद के दर्शन से संगृहीत प्रतिपक्ष दोनों ही मताग्रही दर्शन की शाखाएं हैं।

(२) यह असम्भव है कि मताग्रहिता विप्रतिषेधों का समाधान कर सकती है। दर्शन की दोनों ही विरोधी व्यवस्थाएं,जो विरोध और गोचर की एक समग्रता का अनुमान लगाने का प्रयास करती है,गोचर अथवा आनुभविक सत्ता को 'वस्तु-स्वलक्षण' के रूप में अपनाती है। दोनों का ही ऐसा विचार है कि प्रदत्त प्रतिबन्धों या शर्तों के साथ ही साथ अप्रतिबद्ध भी प्रदत्त है। वास्तव में प्रदत्त से दूरस्थ तथा पृथक् होकर अप्रतिबद्ध हल किये जाने के लिए हमारे समक्ष एक समस्या के रूप में प्रस्तुत हो जाता है। यह सत्य है कि प्रतिबद्ध तथा अप्रतिबद्ध दोनों ही एक दूसरे से सम्बन्धित हैं,परन्तु इससे परिणामतः यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रतिबद्ध प्रदत्त है और इसकी व्यवस्थाओं की समग्र श्रृंखला को हम शीघ्र ही जानते हैं। अतः इसलिए अप्रतिबद्ध को भी जाना जा सकता है। वस्तुतः दार्शनिकों के दोनों वर्गों में से एक वर्ग का विश्व-विज्ञान एक अस्पष्ट या अनेकार्थक हेतु पर निर्भर है। यह निम्नलिखित न्यायवाक्य से स्पष्ट है --

प्रतिबद्ध (धारणा) अप्रतिबद्ध को उपलक्षित करता है।

यह गोचर प्रतिबद्ध (अनुभव) है।

∴ गोचर अप्रतिबद्ध को उपलक्षित करता है।

यहाँ साध्य आधार वाक्य में प्रतिबद्ध का प्रयोग धारणा या संप्रत्यय के अर्थ में किया गया है तथा पक्ष आधार वाक्य में इसको अनुभव के वस्तु-विषय के रूप में समझा गया है। ऐसा होने से यहाँ चतुष्पदी दोष उत्पन्न हो जाता है।[१]

---

१. एन०के० स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न,पृ० ४४४-४५

(३) संशयवाद भी विप्रतिषेधों का हल नहीं कर सकता है। यह तर्कबुद्धि या प्रज्ञा को अक्षम एवं अयोग्य समझता है। यह केवल अपने स्व-व्याघात को ही दिखलाता है परन्तु स्व-व्याघात के अर्थ की व्याख्या नहीं करता। इसके प्रति उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि तर्क-बुद्धि अयोग्य व अक्षम है तो यह कैसे जान सकी कि यह अक्षम थी।

समालोचक दार्शनिक प्रज्ञा की विश्वसनीयता तथा यथार्थता एवं क्षमता को स्पष्ट करते हैं तथा उसी समय इसे सीमाबद्ध कर देते हैं। वे भावों की विषयगत या आत्मगत प्रामाणिकता को तो सिद्ध करते हैं परन्तु उनकी विषयगत या वस्तुगत प्रामाणिकता को अस्वीकार करते हैं। वे द्वन्द्वन्याय की तीन समस्याओं का सन्तोषजनक उत्तर संतोषप्रद तरीके से देते हैं--(अ) भावों का उद्गम--ये प्रज्ञा के स्वभाव से ही व्युत्पन्न हैं। (ब) भावों का स्वरूप-- ये विषयिगत अथवा आत्मगत प्रामाणिकता रखते हैं, परन्तु वस्तुगत अस्तित्व नहीं रखते अर्थात् इनकी प्रत्यक्षानुभूति नहीं हो सकती। (स) भावों के कार्य--ये अनुभव के अथवा वस्तु-स्वलक्षणों के संघटक या विधायक नहीं हैं। वे नियमों के रूप में अनुभव की सहायता करते हैं यानि ये नियामक हैं।

विप्रतिषेधों का समाधान :- युक्तियों का विस्तृत विवेचन-इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें लक्षित हो सकती हैं :--

(१) समस्या का हल प्रथम दो को गणितिक विप्रतिषेधों के रूप में तथा शेष दो को गतिशील विप्रतिषेधों के रूप में स्थापित करके उनको पृथक् करता है --[१] गणितिक व गतिशील बुद्धि-कोटियों;और गणितिक एवं गतिशील सिद्धान्त। गणितिक विप्रतिषेध श्रृंखला के विस्तार से सम्बन्ध रखते हैं, गतिशील विप्रतिषेध श्रृंखला की निर्भरता से सम्बन्ध रखते हैं, जिस पर वे इसे उत्पन्न करते हैं। प्रथम तो गोचर की संरचना पर विचार करते हैं तथा उससे सम्बन्ध रखते हैं द्वितीय विरोध उनके अस्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं।

---

१. एन०के० स्मिथ,इमैनुवल आॅफ़ काम्ट्स क्रिटीक् आॅफ़ प्योर रीज़न,पृ० ४६२

(२) गणितिक संश्लेषण देश के अन्तर्गत अंशों से देश में अंशों की ओर तथा काल के अन्तर्गत घटनाओं से काल में घटनाओं की ओर अग्रसर होता है। अत: यहां अप्रतिबद्ध-प्रतिबद्ध के साथ एकरूपित हो जाता है अर्थात् दोनों सजातीय हो जाते हैं। परन्तु गतिशील संश्लेषण सजातीय से सजातीय की ओर नहीं अग्रसर होता,[1] यह विषमजातीय से विषमजातीय की ओर बढ़ता है,उदाहरण स्वरूप कारण व कार्य,अपरिहार्य व आपात सजातीय नहीं होते। अत: यहां अप्रतिबद्ध भी प्रतिबद्ध के समरूप नहीं होता अर्थात् वे समजातीय नहीं होते।

(३) गणितिक और गतिशील विप्रतिषेध में यही, वह गुण है जो प्रथम के पक्ष और विपक्ष को असत्य सिद्ध करने के लिए उत्तरदायी है,[2] जबकि द्वितीय के पक्ष-विपक्ष दोनों को सत्य सिद्ध करने में,वे समर्थ होते हैं। प्रथम में हमें प्रतिबद्ध के क्षेत्र के अन्तर्गत 'अप्रतिबद्ध' को खोजना था और इस कारण हम अपने आप को ही बाधित करने के लिए विवश एवं बाध्य हो गये थे,जबकि द्वितीय में इस अप्रतिबद्ध की खोज के लिए हमें दो विकल्प प्राप्त थे--या तो हम प्रतिबद्ध के क्षेत्र में प्रवेश करें या तो उसके बाहर ही रहें। अत: इस प्रकार के प्रतिपादन से पक्ष और विपक्ष दोनों ही सत्य हो सकते हैं। बशर्ते कि अप्रतिबद्ध को प्रतिबद्ध के क्षेत्र से परे कल्पित किया जाय एवं समझा जावे। गणितिक विप्रतिषेधों के पक्ष और विपक्ष दोनों ही असत्य हैं क्योंकि वे अनुभव के जगत का उल्लेख नहीं कर सकते, परन्तु करते हैं। यदि गतिशील विप्रतिषेध अनुभव के जगत का उल्लेख करते हुए स्वीकार किये जाते हैं तो ठीक उसी प्रकार से उनके भी पक्ष और विपक्ष समान रूप से असत्य हो जाते हैं क्योंकि स्वतंत्र कारण और अनिवार्य सत्ता अनुभव में प्रदत्त नहीं हो सकती। जब पक्ष केवल बोधगम्य जगत का उल्लेख करे और प्रतिपक्ष गोचर जगत का उल्लेख करे,केवल तभी 'गतिशील विप्रतिषेधों' की स्थिति में वे दोनों पक्ष और विपक्ष सत्य होते हैं।

---

१. एन०के० स्मिथ,इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक आफ प्योर रीज़न,पृ० ४६२,तथा ४८०
२. जे०पी० महफी,डी०डी०,सी०वी०ओ० तथा जे०एच० कार्डे,डी०डी०,डी०सी० एल, कान्ट्स क्रिटिकल फिलासफी,पृ० १०७-१०८

प्रथम विप्रतिषेध का समाधान :- विश्व न तो सीमित है, न तो असीमित और न तो सान्त है न अनन्त । पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों ही समान रूप से असत्य हैं क्योंकि दोनों ही ब्रह्माण्ड को प्रदत्त रूप में समझते हैं । वस्तुत: गोचर की एक पूर्ण शृंखला के रूप में ब्रह्माण्ड केवल एक भाव या प्रत्यय है । विश्व अपने आप में अस्तित्वयुक्त नहीं होता प्रत्युत गोचर के आनुभविक प्रतिगमन में अस्तित्व रखता है । असीमित तथा रिक्त देश और अनन्त तथा शून्य काल दोनों ही समान रूप से अग्राह्य और अलक्ष्य हैं । अत: हम यह नहीं कह सकते कि उनसे प्रदत्त ब्रह्माण्ड सान्त है या अनन्त है । देश और काल के प्रतिगमन के समक्ष एक आत्म-अस्तित्वयुक्त ब्रह्माण्ड की धारणा व्याघातपूर्ण है । देश और काल के अन्तर्गत विश्व न तो सान्त रूप से विस्तृत है और न अनन्त रूप से विस्तृत है वरन् अनिश्चित रूप से वितान्य है ।[१]

द्वितीय विप्रतिषेध का समाधान :- पदार्थ न तो संहत् भागों से संगठित है न असंहत् भागों से । यहां भी पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों समान रूप से असत्य हैं, क्योंकि दोनों ही 'भौतिकवादी निकाय' को एक ऐसी 'वस्तु-स्वलक्षण' के रूप में स्वीकार करते हैं जो सभी अनुभव से पूर्व ही अपने भागों की सीमित-असीमित संख्या को अन्तर्विष्ट करता है, जबकि यह असंगत है । देश और काल तथा देश व काल में पदार्थ, न तो सान्त रूप से विभाजित है और न तो अनन्त रूप से, प्रत्युत वे अनिश्चित रूप से विभाज्य हैं । कान्ट प्रथम विप्रतिषेध का समाधान यह कह कर करते हैं कि सान्त विस्तार तथा अनन्त विस्तारिता के बीच कोई व्याघात नहीं है, द्वितीय विप्रतिषेध के समाधान के विषय में उनका कहना है कि सान्त विभाजन और अनन्त विभाज्यता के बीच भी कोई व्याघात नहीं है ।[२] कान्ट की समीक्षा करते हुए केयर्ड कहते हैं कि हम कान्ट के समाधान को एक अल्प परिवर्तन के

---

१. रासबिहारीदास, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० १६७, तथा ए०सी० ईविंग, ए शॉर्ट कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० २२३

२. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ४३७

साथ स्वीकार कर सकते हैं। हम देश को केवल प्रत्यक्ष के एक आकार के रूप में नहीं स्वीकार करते। कान्ट देश को इसी प्रकृति में विप्रतिषेध का समाधान प्राप्त करते हैं। और क्योंकि देश एक अन्तिम एवं मूल कुछ वस्तु नहीं है जैसा कि कान्ट समझते हैं, इसलिए हम स्वयं देश की प्रकृति में समाधान नहीं प्राप्त करते, वरन् वस्तुओं के ऐसे व्यष्टित्व तथा समुदाय में प्राप्त करते हैं जो साथ-साथ देश का एक उत्तम संश्लेषण निर्मित करते हैं। इसी प्रकार से हम प्रथम दो विप्रतिषेधों का समाधान स्वयं ऐसे काल की प्रकृति में नहीं प्राप्त कर सकते जो काल प्रत्यक्ष का एक आकार हो तथा एक अन्तिम या मूल वस्तु हो, बल्कि स्वयं काल के दो ऐसे क्षणों के आत्म-तादात्म्य तथा परिवर्तन में प्राप्त कर सकते हैं, जो विप्रतिषेध के लिए उत्तरदायी हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि न तो देश ही अन्तिम वस्तु है और न तो काल। काल ही देश का प्रथम निषेध है, और एक उत्कृष्ट अर्थ में देश व काल एक अंतिम संश्लेषण में व्यतीत होते हैं। यह विवेचन जिसका उद्गम व्यष्टित्व एवं समुदाय तथा आत्म-तादात्म्य एवं परिवर्तन में है, प्रथम और द्वितीय दोनों विप्रतिषेधों से सम्बन्धित है।

तृतीय विप्रतिषेध का समाधान :--स्वतंत्र कारणता और यान्त्रिक कारणता समाधेय व संगत है।

यहां पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों ही सत्य हो सकते हैं, यदि प्रथम एक बोधगम्य जगत का उल्लेख करे और द्वितीय गोचर जगत का। यह तथ्य कि बोधगम्य जगत में हमारे आनुभविकतया अनिवार्य कृत्यों के अधिष्ठान के रूप में एक बोधगम्य स्वातंत्र्य अस्तित्व रख सकता है, इस तथ्य के साथ असंगत नहीं है कि गोचर के जगत में कारणता सम्बन्ध बिना किसी व्यव व्यवधान के प्रसार होता है और उस जगत में स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान नहीं है। 'अस्तित्व रख सकता है' यह समालोचक-दार्शनिक के लिए एक ज्ञान का प्रश्न नहीं है वरन् श्रद्धा-विश्वास का प्रश्न है।

कान्ट मानव के बोधगम्य चरित्र की मूल्यांकित अवधारणा का परिचय देकर तृतीय विप्रतिषेध का समाधान करते हैं। मानव दो जगत का नागरिक है।

बोध की एक सत्ता के रूप में मनुष्य अपनी कामनाओं का एवं अपने कार्यों में प्राकृतिक आवश्यकता के नियन्त्रण के लिये विषयी है तथा प्रज्ञा या तर्कबुद्धि की सत्ता के रूप में वह अपने नैतिक नियम के संकल्प में पूर्णतया स्वतंत्र है। अनिवार्यतया उत्पन्न उसके कृत्यों को विज्ञान ग्रहण करता है। नैतिक निर्णय उसके कार्यों के लिए उसे उत्तरदायी ठहराता है। एक विषय में वह अपने इन्द्रियानुभविक चरित्र को प्रदर्शित करता है और दूसरे विषय में अपने बौद्धगम्य चरित्र को।[१]

अतः एक बौद्धगम्य कारण के रूप में मानव प्राकृतिक कारणता के प्रतिबन्धों से पूर्णतया मुक्त है, जबकि गोचर के जगत में वह परिवर्तन का एक कारण अवश्य हो सकता है। जब एक गोचर इन्द्रियानुभविक कारणता के अन्य नियम द्वारा निर्धारित हो सकता है तब इन्द्रियानुभविक कारणता स्वयं ही एक बौद्धगम्य कारण का परिणाम हो सकती है। इस भांति हम देखते हैं कि किस प्रकार एक बौद्धगम्य कारण के परिणाम अपने आप गोचर जगत के अन्तर्गत उपस्थित हो सकते हैं। मानव एक आत्म-चेतन प्राणी है, आत्मचेतनता के विश्लेषणात्मक निर्णय में वह अपने ही प्रति चैतन्य है, यद्यपि संश्लेषणात्मक निर्णय से प्रत्यागमन में ही यह उद्भूत होता है तथापि यह इसके साथ एकरूपित नहीं हो सकता। वह एक प्रज्ञा अथवा तर्क-बुद्धि से युक्त प्राणी है, यद्यपि उसकी सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि सीमित है, परन्तु यह प्रज्ञा के एक ऐसे प्रयोग की ओर संकेत करती है जो व्यावहारिक सीमा से मुक्त है। अतः यह प्रश्न ही अर्थहीन है कि प्रकृति क्या करना चाहती है। मानव के सम्बन्ध में हम यह प्रश्न कर सकते हैं। उसकी इच्छाओं के विषय में यह अनुक्रम 'प्राकृतिक कारणता' के कारण हो सकता है क्योंकि कामनाओं या इच्छाओं से युक्त वह एक आनुभविक प्राणी है। परन्तु अपने 'चुनाव' की इच्छा में वह पूर्णतय मुक्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वही कार्य जो कारणता के प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत आता है, सैद्धान्तिक प्रज्ञा से नहीं परन्तु 'व्यावहारिक प्रज्ञा' से आगे बढ़ सकता है। बौद्धगम्य स्वरूप में प्रज्ञा की कारणता काल के अन्तर्गत दृढ़तापूर्वक नहीं

---

१. एन०के०स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ४६५, तथा रिचार्ड फ़ॉल्कनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न फ़िलासफ़ी पृ० ३७७

व्यक्त होती और इसीलिए यह प्राकृतिक कारणता का विषयी नहीं है, और इसीलिए यह वस्तुत: पूर्ण मुक्त है । एक वास्तविक तथ्य के रूप में सैद्धान्तिक तर्क- बुद्धि या प्रज्ञा स्वातंत्र्य को प्रमाणित करने में असमर्थ है परन्तु व्यावहारिक प्रज्ञा इसे प्रमाणित कर सकती है[1]।

तृतीय विप्रतिषेध के समाधान की समीक्षा :

कान्ट यह स्वीकार करते हैं कि आकृतिबद्ध रूप में कारणता की कोटि केवल गोचर के साथ गोचर को संयुक्त करती है,परन्तु आकृति से वंचित करके रिक्त या शून्य कोटि का प्रयोग गोचर और परमार्थ सत् के बीच एक सेतु के रूप में किया जा सकता है । इस प्रकार यहां पर वे उसकी आकृति से वंचित करके कोटि को एक संश्लेषणात्मक स्वरूप प्रदान करते हैं,जबकि इसके पूर्व प्रत्येक स्थान पर इसे अस्वीकार करते हैं । यहां पर कारणता की कोटि केवल गोचर और गोचर के मध्य नहीं अपितु गोचर और परमार्थ सत् के मध्य एक संश्लेषण को अभिव्यक्त करती है । अन्य शब्दों में,कान्ट असंगत रूप से अपने सिद्धान्तों के साथ यह स्वीकार करते हैं कि रिक्त कोटि एक संश्लेषणात्मक स्वरूप से युक्त होती है । सत्य यह है कि गोचर जगत परमार्थ जगत से बाह्य कुछ वस्तु नहीं है और यह परमार्थ द्वारा ही निर्धारित है,जैसा कि कान्ट का कथन है,परन्तु परमार्थ जगत यथार्थ सत्ता है तथा गोचर जगत हमारे लिए इसी यथार्थ का आभास है[2]।

---

१. लेविस व्हाइट बेक,इमैनुअल कान्ट क्रिटीक् ऑफ् प्रैक्टिकल रीज़न,पृष्ठ १०६

२. वही,पृ० १३ तथा ३१

"The solution to the third antinomy, therefore,is achieved through a distinction between the world of appearance and the world of supersensuous reality. This dualism is the necessary presupposition of Kant's ethical theory. Without it science would be the only occupation of reason.With it science is limited in two respects: a boundary is fixed beyond which scientific knowledge cannot aspire and the possibility is established that natural law may not be the only form of causality." p. 13.

चतुर्थ विप्रतिषेध का समाधान --बौधगम्य जगत में एक अनिवार्य सत्ता है,जबकि गोचरता में प्रत्येक वस्तु आपातिक है ।

यहां पक्ष और विपक्ष दोनों ही सत्य हो सकते हैं । यदि पक्ष एक बौधगम्य जगत का और विपक्ष गोचर जगत का उल्लेख करे । यह तथ्य कि बौधगम्य जगत में सब आनुभविक,अनिवार्य गोचर के अधिष्ठान के रूप में एक अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व है,इस तथ्य से असंगत नहीं है कि गोचर के जगत में कारण-कार्य सम्बन्ध सीमाशून्य होकर अग्रसर होता है और उस जगत में अनिवार्य-सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है । जिस प्रकार तृतीय विप्रतिषेध में यह संभव प्रतीत हुआ था कि एक अप्रतिबद्ध बौधगम्य कारण है उसी प्रकार यहां भी यह संभव प्रतीत होता है कि एक 'अप्रतिबद्ध बौधगम्य सत्ता' का अस्तित्व है । इस कल्पना में कुछ भी असंभव नहीं है कि गोचर के सम्पूर्ण संवेदन या संविस्थियां एक 'अनिवार्य सत्ता' पर आश्रित है,जो स्वयं ही सभी गोचर की संभावना की शर्त है । इस प्रकार गोचर को वस्तु स्वलक्षणों के साथ एकरूपित करने से उत्पन्न होने वाले व्याघातों का हमने समाधान कर दिया है ।[2]

---

१. "The arguments begins with the third antinomy, whose antithetical propositions,we remember, may both be true provided their respective scopes are defined. Thus nature as existing in time is determined under the category of causality. It is however,possible to think (though we can not know) noumena-things-in-themselves- which are not in time and are therefore independent of the law of nature. Hence, if man is not merely a phenomenon but also a noumenon, then he may be free as noumenon (in accordance with the thesis)without ceasing to be mechanically determined in his role as temporal phenomenon (as the antithesis asserts)" p.31

१. रिचार्ड फाल्कनबर्ग,दि हिस्ट्री ऑफ फिलासफी,पृ० ३७७
२. जॉन वाट्सन,दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेण्ड,पृ० २८३

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान में आत्म-चेतनता की परिधि या उसके हेत्वानुमान को पूर्ण करने के लिए और आत्मा को 'परिपूर्ण संज्ञा' के रूप में निर्धारित करने के लिए प्रयास किया गया था। युक्ति-युक्त सृष्टि-विज्ञान में वस्तुगत-चेतनता की परिधि या उसके हेत्वानुमान को पूरा करने के लिए तथा विश्व को एक परिपूर्ण संज्ञा के रूप में निर्धारित करने के लिए सम्पूर्ण प्रयत्न किये गये थे। जब इस प्रकार प्रज्ञा के आदर्श के हेत्वानुमान के साथ उनको संयुक्त करने का प्रयत्न न किया जा सका तब शुद्ध प्रज्ञा का एक उत्कृष्ट हेत्वानुमान निर्मित कर दिया जाता है। इस सम्बन्ध में हीगल निम्नलिखित बातों को अस्वीकार करते हैं कि--

(१) विशुद्ध विचार केवल विश्लेषणात्मक या पुनरुक्तिपूर्ण है।

(२) संवित्ति के विषय पर प्रयुक्त होने वाला विचार केवल संश्लेषणात्मक है इसलिए यह अपनी ओर वापस नहीं आ सकता। दार्शनिक हीगल बारम्बार इस बात की पुनरावृत्ति करते हैं कि युक्ति-युक्त सृष्टि-विज्ञान के चार विप्रतिषेधों में ही व्याघात परिसीमित नहीं है वरन् यह उन प्रत्येक वस्तु-विषय में पाया जाता है जिनका विचार किया जा सकता है। विचार तात्विक रूप में संश्लेषणात्मक है अर्थात् विरोधात्मक[१] है। यद्यपि हमें यह भ्रान्ति हो सकती है कि विवाद-ग्रसितता की अग्नि शान्त हो चुकी है और जिन स्थलों पर इन विवादों का संघर्ष हुआ है उन पर हम निर्भय होकर चल सकते हैं, परन्तु यह भ्रान्ति केवल भ्रान्ति मात्र ही है, क्योंकि विवादग्रसितता के बुझे हुए अंगारे पुन: धधक सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि विवाद नितान्त ही अशान्त है। हमारे प्रत्यय द्विधारी औजार हैं जो अपने प्रयोग करने वाले हाथों को भी काट देते हैं और साथ ही साथ उस वस्तु को तो काटते ही हैं जिसके लिए उन्हें प्रयुक्त किया जाता है। 'मैं हूं' जो हमारे दृष्टिकोण से केवल विश्लेषणात्मक है यह भी समाधान में सभी व्याघातों की गहनता को नियन्त्रित करने के लिए प्राप्त होता है। सभी वस्तुएं व्याघात से परिपूर्ण हैं। जैसा कि सामान्य बुद्धि से विश्वास किया जाता है, विप्रतिषेध असत्य द्वन्द्वन्याय

---

१. जी०आर०जी० म्यौर, ए स्टडी ऑफ हीगल्स लॉजिक, पृ० ६१ तथा ६२

का केवल आगन्तुक परिणाम नहीं है और न तो यह विनियोग के एक सृष्टि-वैज्ञानिक क्षेत्र में बुद्धि का एक मूलभूत अनिवार्य गोचर ही है अपितु अनिवार्य रूप से यह स्वयं ही विचार का नियम है । अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि वह विचार को अमिश्रितता के ऐसे गुण से आरोपित करता है जिसे यह अचिन्त्य एवं शुद्ध अमिश्रित चैतन्य के लिए रखता है । उनका कहना है कि व्याघात बाह्य रूप से प्रदत्त पदार्थों पर विचार के विनियोग से उत्पन्न होता है । पुन: हीगल प्रत्येक स्थान में ऐसे व्याघात की उपलब्धि पाते हैं जो केवल प्रत्यक्ष पर ही प्रयुक्त होने वाले विचार में नहीं निहित हैं,अपितु स्वयं विशुद्ध विचार में भी निहित हैं । वे ऐसे व्याघात को कहीं नहीं प्राप्त करते जो समन्वय या समाधान के लिए अयोग्य हों,अत: पुन: यहां पर वह कान्ट से असहमति रखते हैं ।[1] यही हीगल के सिद्धान्त का वह पक्ष है जिसे बहुधा उपेक्षित या गलत समझा जाता है । ठीक इसी रूप में हीगल प्रत्येक स्थान पर व्याघात की उपलब्धि पाते हैं कि एक निरपेक्ष व्याघात को वह कहीं भी नहीं पाते । दूसरी ओर कान्ट विचार के एक विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से प्रारम्भ करके इसी के अन्तर्गत किसी भी ऐसी चेष्टा को नहीं प्राप्त करते जो आत्म-विशिष्टता को दिखाती हो,इसी कारण वह संवेदन के विरुद्ध देश और काल के अपने आकारों के साथ इसे स्थापित करने के लिए बाध्य हो जाते हैं । अत: विचार में बाह्य रूप से सम्मिविष्ट व्याघात का समाधान करने में कान्ट असमर्थ हैं ।

इसी प्रकार शुद्ध-बुद्धि मीमांसा में कान्ट ज्ञान के क्षेत्र को निर्मित करके यह निदर्शित करते हैं कि युक्ति-युक्त मनोविज्ञान ईश्वर विज्ञान तथा सृष्टि-विज्ञान अपने-अपने विचार-विषयों से सम्बन्धित अल्पतम संभव ज्ञान प्रदान करने में भी असमर्थ हैं इसलिए इनके विषय में यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि ये स्वयं ही न्याय-असंगत हैं । अत: सम्पूर्ण तत्व-दर्शन सारहीन है और स्वलक्षण

---

१. जी०आर०जी० म्योर,ए स्टडी ऑफ हीगल्स लॉजिक,पृ० १०३

तथा परमार्थ ज्ञान के विषय के सही अर्थ में अज्ञेय हैं। कान्ट के अनुसार पारमार्थिक आत्मन्, ईश्वर तथा विश्व से सम्बन्धित तत्त्वदार्शनिक सिद्धान्त प्रज्ञा की अनिवार्य प्रवृत्ति से निर्मित हुए हैं। यह प्रज्ञा ही अपने प्रत्ययों को वस्तुगत सत्ताओं के साथ भ्रमित कर देती है तथा बुद्धिकोटियों को परमार्थ पर आरोपित कर देती है।[1] तत्पश्चात् हमें यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि ज्ञान के क्षेत्र में परमार्थ अज्ञेय है, यद्यपि यह ज्ञान के [illegible] सम्भाव्यता की तार्किक पूर्वमान्यता है। इस प्रकार शुद्ध-बुद्धि मीमांसा में द्वन्द्वन्याय के प्रयोग द्वारा ज्ञान का परिसीमन करते हैं तथा व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा में श्रद्धा के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं।[2]

--

---

१. एन०के० स्मिथ, दि क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ५४६

२. लैविस व्हाइट बैक, इमैनुअल कान्ट, क्रिटीक् ऑफ़ [illegible], प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० १३-१४ ।

अध्याय--३

कान्ट के दर्शन में द्वन्द्वन्याय : व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा

विशुद्ध सैद्धान्तिक बुद्धि मीमांसा के समुचित निरीक्षण से यह स्पष्ट होता है कि शुद्ध तर्क बुद्धि प्रज्ञा द्वन्द्वात्मक है, अन्य शब्दों में यह भ्रम का विषय है। चाहे इसका प्रयोग सैद्धान्तिक रूप से ज्ञान के क्षेत्र में हुआ हो अथवा व्यावहारिक रूप से कर्म के सम्बन्ध में हुआ हो।[1] हमारी यह प्रज्ञा तो सदैव अप्रतिबद्ध की ओर आकांक्षा रखती है, क्योंकि यह अप्रतिबद्ध से कम किसी वस्तु से कदापि संतुष्ट नहीं हो सकती है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिबद्ध के रूप में प्रस्तुत एक वस्तु को अनिवार्य पूर्ववान्यता के रूप में प्रतिबन्धों की परम समग्रता की मांग करती है। हम जानते हैं कि प्रतिबन्धों की इस समग्रता को गोचर के क्षेत्र में नहीं प्राप्त किया जा सकता है।[3] इसलिए इसकी खोज के लिए प्रज्ञा वस्तु-स्वलक्षणों के क्षेत्र में ऊपर उठ जाती है। विशुद्ध रूप से अपने आप में कार्यशील होते हुए भी अपने सैद्धान्तिक प्रयोग में इसके लिए वस्तु-स्वलक्षणों में प्रवेश करना नितान्त असंभव हो जाता है, क्योंकि हमारे ज्ञान की शर्त यह है कि किसी भी प्रत्यय का प्रत्यक्षीकरण के अभाव में कोई वस्तुगत उपयोग नहीं है और ज्ञान की दृष्टि से ऐसे प्रत्यय का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। अतः सैद्धान्तिक रूप से प्रज्ञा के प्रयोग द्वारा हम अप्रतिबद्ध को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस अप्रतिबद्ध की खोज के लिए हम केवल एक से अनेक क्रमिक स्थितियों में विचरते हुए आगे बढ़ते ही जा सकते हैं और इति प्रज्ञा के इस अप्रतिबद्ध की धारणा में प्रत्यक्षीकरण का सर्वथा अभाव रहता है,

---

१. " In Both its speculative and its practical employment; pure peason always has its dialectic;' ."

--लेविस ह्वाइट बेक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१२, प्रथम अनुच्छेद का प्रथम पंक्ति ।

२. जॉन वाटसन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७३

३. लेविस ह्वाइट, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकलरीज़न, पृ० २१२

इसलिए इस अप्रतिबद्ध को ज्ञान के एक विषय के रूप में नहीं प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु हम देखते हैं कि ऐसा होने पर भी हमारी तर्कबुद्धि प्रज्ञा अप्रतिबद्ध के अनिवार्यता की इतनी कायल है कि अपरिहार्य रूप से यह इस भ्रम में पड़ जाती है कि गोचर के क्षेत्र में अप्रतिबद्ध को पाया जा सकता है। अपने अप्रतिबद्ध के खोज-सम्बन्धी इस स्वाभाविक भ्रम के अन्तर्गत यह तब तक प्रवेश करती जाती है जब तक कि इसका साक्षात्कार एक निरपेक्ष आत्यन्तिक विरोध से नहीं हो जाता है। केवल इसी प्रकार के विरोध का साक्षात्कार करने के परिणामस्वरूप ही यह इस बात का संदेह प्रारम्भ करती है कि अप्रतिबद्ध ज्ञान का एक विषय नहीं हो सकता है।[1]

अपने सैद्धान्तिक प्रयोग में तर्क-बुद्धि प्रज्ञा की संपूर्ण शक्ति क्या है, इससे अवगत होकर तथा इसके सम्पूर्ण शक्ति की समुचित समीक्षा करने के पश्चात् ही उपरोक्त सत्य को दृष्टि में लाया गया है। एक बाह्य अवलोकन से तो ऐसा प्रतीत व दृष्टिगत होता है कि प्रज्ञा अपने अप्रतिबद्ध सम्बन्धी खोज में पूर्णरूपेण घबरा-सी गयी है तथा विरोध में फंस गयी है। परन्तु गहन चिन्तन एवं मनन द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि यह विरोध ही वस्तुओं के उच्च स्वरूप को प्रकाश में लाने का एक उचित साधन है। जब हमें यह पता लग जाता है कि सम्पूर्ण गोचर निरपेक्ष परम सत्ताएं नहीं हैं और अभीतक हम इन्हीं को परम सत्ताओं के रूप में ग्रहण करते रहे हैं, तब हम इस तथ्य पर दृष्टिपात करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं कि 'परम सत्ता' को, जैसी यह स्वयं अपने आप में है, अवश्य ही इन्द्रियगोचर अनुभव की अपेक्षा एक उच्चतर स्वरूप का होना चाहिए।[2] इस प्रकार जब हम अपने स्वातंत्र्य के विषय में एक बार ऐसी

---

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७४

२. लैविस व्हाइट बेक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१२

सत्ता की संभावना को देख चुके हैं जो हमारे ऊपर हमारे नैतिक नियम की चेतना के तथ्य द्वारा आरोपित है,तब हम उस विरोध का समाधान करने में भी समर्थ हो जाते हैं,जिसका समाधान करना सैद्धान्तिक प्रज्ञा के लिए असंभव था।[1]

हमारी तर्क बुद्धि प्रज्ञा अपने सैद्धान्तिक प्रयोग में द्वन्द्वन्यायात्मक है और शुद्ध-बुद्धि मीमांसा ने पूर्णरूप से यह दिखाया कि चिन्तनात्मक प्रज्ञा के स्वाभाविक द्वन्द्वन्याय की व्याख्या किस प्रकार हो सकती है तथा जिस भ्रम के विषय हम ही हैं,ऐसे स्वाभाविक भ्रम से निर्गमित असत्य अनुमानों के विरुद्ध हम किस प्रकार अपने आप को सुरक्षित रखने में असमर्थ हो जाते हैं। पुन: हम देखते हैं कि सैद्धान्तिक प्रयोग की भांति अपने व्यावहारिक प्रयोग में भी हमारी प्रज्ञा द्वन्द्वन्यायात्मक है और यहां यह व्यावहारिक रूप से प्रतिबद्ध के लिए अप्रतिबद्ध की मांग करती है। अत: व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह भी अपने विषय में उत्पन्न भ्रम की एक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करे। जिस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में तर्क-बुद्धि प्रज्ञा ने इन्द्रियगोचर प्रत्यक्षीकरणों के लिए अप्रतिबद्ध को खोजने का प्रयत्न किया उसी प्रकार व्यवहार के क्षेत्र में यह तर्क-बुद्धि स्वाभाविक प्रवृत्तियों,रुझानों अथवा इच्छाओं से अपना प्रयत्न प्रारम्भ करके इन्हीं के लिए एक अप्रतिबद्ध की मांग करती है,यद्यपि इस सम्बन्ध में अप्रतिबद्ध को संकल्प-शक्ति के निर्धारण के रूप में नहीं समझा जाता है वरन् इसे केवल शुद्ध व्यावहारिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के विषय की एक अप्रतिबद्ध समग्रता के रूप में समझा व अपनाया जाता है। यह विषय ही सर्वोच्च श्रेयस है।[2]

---

१. एच०डबल्यू० पैटिसन,ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ जजमेन्ट,पृ० ६०,तथा वॉन वाट्सन,दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० ३७४

२. लेविस ह्वाइट बैक,इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० २१३

सर्वोच्च श्रेयस का प्रत्यय इस बात की पूर्व-अपेक्षा रखता है कि हमारी संकल्प या इच्छाशक्ति विशुद्ध रूप से एक सार्वभौमिक नैतिक नियम के स्वरूप द्वारा निर्धारित हो, किसी भौतिक द्रव्य या पदार्थ द्वारा नहीं[1]। इस तथ्य का पूर्ण-रूपेण निरीक्षण एवं अवलोकन कर लेने के पश्चात् ही हम शुद्ध व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के द्वन्द्वन्याय के प्रकरण में आगे बढ़ सकते हैं। हम शीघ्र ही देखेंगे कि 'सर्वोच्च शुभ' दो अवयवों से युक्त है :--(१) प्रथम अवयव सद्गुण के अनुभूति की धारणा है, अर्थात् यह श्रेयस नैतिकता के साक्षात्कार की धारणा को अपने में समाहित करता है और (२) द्वितीय अवयव सानन्दता के अनुभूति की धारणा है अर्थात् यह अपने में प्रसन्नता के अपरोक्षानुभूति की धारणा को समाहित करता है[2]। यह वह लक्ष्य है जिसकी माँग हमारी प्रज्ञा करती है। कान्ट का कथन है कि यह सर्वोच्च शुभ वह प्रेरणा नहीं है जिसके द्वारा संकल्प-शक्ति को निर्धारित किया जाता है[3]। क्योंकि विशुद्ध प्रेरणा तो स्वयं ही नैतिक नियम है

---

१. लैविस ह्वाइट बेक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० १०६

२. वही, पृ० ११०, तथा आर०ए०पी रॉजर्स, ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ एथिक्स, पृ०२०१

" ...The moral law demands that happiness should be distributed in exact proportion to virtue, and this proportionate distribution is the summun Bonum. We ought to cultivate virtue, and happiness ought to be given to us in proportion to our virtue; practical reason assures us of both of these truths, and to avoid contradiction, we must assume that what ought to be realised, "can be realised"

३. लैविस ह्वाइट बेक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१२-१३

अत: जब हम कहते हैं कि एक लक्ष्य द्वारा निर्धारित इच्छाशक्ति ही शुभ है तब वस्तुत: यह इच्छाशक्ति विशुद्ध रूप से नैतिक नियम द्वारा निर्धारित नहीं होती है। अत: कान्ट के अनुसार नैतिकता के लिए अनिवार्य है कि हमारा संकल्प ही प्रेरणा हो अर्थात् नियम के विशुद्ध स्वरूप द्वारा निर्धारित निश्चय ही केवल हमारी प्रेरणा होनी चाहिए।[1] यह प्रेरणा ही हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा की माँग है, यही परम शुभ है जिसकी खोज के प्रयत्न में प्रज्ञा विप्रतिषेधों का सामना करती है। अत: संक्षेप में इस पूर्ण नि:श्रेयस का विचार कर लेने के पश्चात् ही तर्कबुद्धि के विप्रतिषेधों पर प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

कान्ट के अनुसार नि:श्रेयस या अंतिम शुभ अथवा सद्गुण 'परम' एवं 'पूर्ण' है।[2] हम देखते हैं कि इस दृष्टि से नि:श्रेयस में दो तत्त्व समाहित हैं, जिनकी विभिन्नता को अलग-अलग सुचारु रूप से समझना आवश्यक है। 'परम शुभ' वह है जो निरपेक्ष एवं सर्वोच्च है तथा अप्रतिबद्ध है इसीलिए यह किसी अन्य वस्तु के अधीनस्थ नहीं है। 'पूर्ण शुभ' वह समष्टि है जो अपने ही समान किसी अन्य बृहत् समष्टि का अंश नहीं है अर्थात् यह अद्वितीय रूप से पूर्ण है।[3] अत: सद्गुण की पूर्व वृत्ति या शर्त अथवा सानन्द होने की क्षमता ही उन सब वस्तुओं की अन्तिम पूर्ववृत्ति है, जिन्हें हम काम्य एवं वांछनीय समझ सकते हैं और इसीलिए यह पूर्ण सानन्दता की भी परम पूर्ववृत्ति है। सद्गुण ही सर्वोच्च शुभ है, परन्तु यह एक ऐसा समग्र या पूर्ण शुभ है जिसे सीमित सत्ताएं केवल प्राप्त करने का ही प्रयास नहीं करती वरन् यह एक ऐसा पूर्ण शुभ है,

---

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी आफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७५

२. लेविस व्हाइट बेक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१४

३. वही, पृ० २१३-१४

जिसके लिए हमारी समदर्शी तर्कबुद्धि प्रज्ञा निष्पक्ष रूप से यह घोषणा करती है कि यह हमारी कामना का एक तर्कसंगत लक्ष्य है।[1]

जब हम एक असीमित शक्ति से युक्त एक विवेकशील सत्ता की मान्यता प्रदान करते हैं तब हमें अनिवार्यतः यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि वह सत्ता इस बात की कामना करती है कि उसकी सम्पूर्ण सृष्टि सद्गुणी तथा शुद्ध ही न हो वरन् सानन्दता से परिपूर्ण हो और यह सानन्दता सदैव सदाचार या सद्गुण का ही परिणाम हो। निःश्रेयस् में सदाचार तथा सानन्दता दोनों ही समाहित हैं। एक संभव विश्व का सर्वोच्च श्रेय एक ही व्यक्ति में सद्गुण और सानन्दता के सामंजस्य अथवा एकता में निहित होता है। अन्य शब्दों में हम यह कह कर स्पष्ट कर सकते हैं कि यह सर्वोच्च श्रेय ठीक उसी अनुपात में सानन्दता में निहित होता है जिस अनुपात में नैतिकता में निहित होता है। इस प्रकार निःश्रेयस से हमारा तात्पर्य है--समग्र या पूर्ण श्रेयस। जो कुछ भी हमें पाना है तथा जिसका हमें निरीक्षण करना है वह चाहे सद्गुण हो अथवा सर्वोच्च शुभ वही पूर्ण शुभ की अनिवार्य अवस्था है, क्योंकि कान्ट के मतानुसार कोई भी व्यक्ति प्रसन्नता की कामना करने तथा उसे प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता, यदि वह सदाचारी या सद्गुणी नहीं है।[2] सानन्दता सद्गुण का ही प्रतिफल है इसलिए यह अपने आप में शुभ नहीं है। यह तभी श्रेयस है जबकि यह नैतिक नियम के अनुकूल हो अर्थात् यह सानन्दता इस पूर्ववृत्ति के अन्तर्गत ही कल्याणप्रद एवं शुभ है कि व्यवहार या आचरण नैतिक नियम के अनुकूल हों।[3]

---

१. लेविस व्हाइट बैक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्यॉर रीज़न, पृ० २१५, तथा जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७६

२. . . . Kant does not deny that happiness is desirable for man. While he holds that the immediate object of reason is the production of a good will, which is the supeme good (supremum bonum) He acknowledges that a man of good will deserves happiness. The supreme good--i.e, virtue--when conjoined with happiness in proportion to it, constitutes the greatest good (Summun bonum) "

--एथेल्म एलबर्ट, थियोडोर सी. डेनिस, शेल्डम पी. पीटरफ्राइंड, ग्रेट ट्रैडिशन्स इन एथिक्स, पृ० २०८

३. लेविस व्हाइट बैक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन, पृ० २१५

यही `परम` एवं `पूर्ण` नि:श्रेयस` हो हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा का विवक्षित लक्ष्य है जिसकी खोज में यह प्रयत्नशील रहती है और एक अपरिहार्य विरोध का सामना करती है[1]।

व्यावहारिक तर्क बुद्धि का विप्रतिषेध

उपरोक्त विवेचन से व्यक्त होता है कि नि:श्रेयस अथवा सर्वोच्च श्रेय को सद्गुण और सानन्दता के संयुक्तता की अपेक्षा रहती है। स्टोइक तथा एपिक्यूरियन--दोनों सम्प्रदायों का भी यही विश्वास है कि सद्गुण तथा सानन्दता को एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। परन्तु कान्ट कहते हैं कि `सद्गुण` की धारणा अनिवार्य रूप से` सानन्दता` की धारणा को उपलक्षित नहीं करती है और न तो` सानन्दता` की धारणा ही अनिवार्यत: सद्गुण की धारणा को उपलक्षित करती है[2]। कहने का तात्पर्य यह है कि हम एक विशुद्ध विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के द्वारा एक से दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकते। हमने यथेष्ट रूप से यह भी देख लिया है कि यदि हमारे समस्त कर्म का एक सिद्धान्त निर्मित है तो प्रसन्नता या सानन्दता की कामना सद्गुण की व्याघाती हो जाती है। वे दोनों एक संश्लेषणात्मक एकता बनाते हैं अर्थात् वे दोनों एक दूसरे की धारणा में समाहित नहीं हैं। एक संश्लेषणात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही सद्गुण और सानन्दता को संयुक्त किया जा सकता है, क्योंकि वास्तव में एक संश्लेषणात्मक सिद्धान्त कारण और कार्य की धारणा से ही एक को दूसरे से अर्थात् सद्गुण को सानन्दता से सम्बन्धित करता है। सम्पूर्ण प्रश्न कार्य के श्रेय के सम्बन्ध में है। यह श्रेय संकल्प-शक्ति के द्वारा ही संभव होता है।

---

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७८

२. लेविस ह्वाइट बेक, इमैनुअल कान्ट, क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१७

इस प्रकार हम देखते हैं कि `सद्गुण` और `सानन्दता` दो पृथक् तत्त्व हैं तथा दोनों को ही नि:श्रेयस अपने में समाहित करता है, इसलिए हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा विप्रतिषेध में फंस जाती[1] है। नि:श्रेयस् का प्रत्यय एक अनिवार्य प्रत्यय है और चूंकि यह `सद्गुण` और `सानन्दता` दोनों को संयुक्त करता है इसलिए हमारे समक्ष ये दो विकल्प आ जाते हैं--(अ) या तो सानन्दता की इच्छा ही सद्गुण के लिए प्रेरणा प्रदान करती है अर्थात् सानन्दता की इच्छा ही सदाचार को उत्पन्न करती है (ब) या `सद्गुण` ही सानन्दता का निमित्त कारण है अर्थात् सदाचार ही सानन्दता को उत्पन्न करता है।[2] प्रथम विकल्प का समर्थन स्टोइक विचारक करते हैं तथा उनका भी यही कहना है कि किसी व्यक्ति की नैतिक चेतना का कारण सानन्दता ही है। परन्तु यह सर्वथा निरपेक्ष रूप से असंभव है क्योंकि यदि कोई व्यक्ति सुख को अपने कर्म की प्रेरणा बनाता है तो वह अपने कर्म की नैतिकता को नष्ट कर देता है। कान्ट ने विश्लेषिकी में यह स्पष्ट कर दिया है कि इच्छा-शक्ति जो सानन्दता या सुख पर कर्मों को आश्रित करती है, वह इच्छा-शक्ति नैतिक नियम द्वारा निर्धारित नहीं होती है। अत: सुखप्रेरित सभी कर्म अनैतिक कर्म हैं।[3] द्वितीय विकल्प का समर्थन एपिक्युरियन सम्प्रदाय के विचारक करते हैं। इनका कथन है कि सद्गुण के द्वारा सानन्दता सम्भव है। परन्तु यह विकल्प भी दूसरे प्रकार से असम्भव है, क्योंकि हम जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति नैतिक नियम का संकल्प कर सकता है परन्तु इससे यह अनुगमित नहीं होता है कि उसके कर्म का परिणाम सानन्दता की रक्षा कर सकेगा यानी नैतिक नियम सानन्दता को ही उत्पन्न करेगा। जगत में इच्छा-शक्ति के परिणाम के रूप में कारण

---

१. डब्लू० कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ ज्यूजमेन्ट, पृ० ८४
२. लेविस ह्वाइट बेक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक् ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१८
३. एच० डब्लू० कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेन्ट, पृ० ८४

और कार्य का व्यावहारिक सम्बन्ध इच्छा-शक्ति की नैतिक प्रवृत्तियों पर निर्भर नहीं होता, प्रकृति के नियमों के ज्ञान पर निर्भर होता है। नैतिक नियम से अनुरूपता सानन्दता के अभाव में भी हो सकती है, क्योंकि सानन्दता अनुभव जगत में वस्तुओं के समग्र सम्बन्ध पर निर्भर रहती है और इसीलिए यह प्रकृति के नियमों के एक पूर्ण ज्ञान की पूर्व-अपेक्षा रखती है तथा विशिष्ट लक्ष्यों के उन्नयन में इन प्राकृतिक नियमों का प्रयोग करने के लिए एक भौतिक शक्ति की भी अपेक्षा रखती है। अत: हमें कहना पड़ता है कि नैतिक नियमों की अतिऔपचारिक व्यवस्था द्वारा सद्गुण के साथ सानन्दता के किसी भी अनिवार्य सम्बन्ध की प्रत्याशा नहीं की जा सकती है। मानव न तो स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ है और न तो सर्वशक्तिमान, इसलिए नैतिक नियमों के प्रति उसकी अत्यधिक कर्तव्यनिष्ठता एवं आसक्ति से इस बात की संभावना नहीं की जा सकती कि वह सानन्दता में ही फलीभूत होगी और न तो उस कर्तव्यपरायणता से यह आकांक्षा की जा सकती है कि सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति में वह हमारा नेतृत्व करेगी। उपरोक्त दोनों विकल्पों के विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि नि:श्रेयस के दो तत्वों 'सद्गुण' और 'सानन्दता' में कोई भी अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिए नि:श्रेयस की अनुभूति नहीं की जा सकती है और परिणामस्वरूप यह प्रतीत होता है कि नैतिक नियम हमें व्यर्थ के काल्पनिक साध्यों की ओर जाने का आदेश दे कर स्वयं ही असत्य हो जाता है।[१]

स्पष्ट रूप से हम देखते हैं कि नि:श्रेयस का प्रत्यय ही व्यावहारिक प्रज्ञा को एक विप्रतिषेध से ग्रसित कर देता है, काण्ट ने यथाशक्ति इसका समाधान भी प्रस्तुत किया है।

---

१. एबट्स ट्रांसलेशन, दि क्रिटीक् ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २०६-२१० । वे लिखते हैं -- "... The moral law which commands us to promote it is directed to vain imaginary ends and must be false."

व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के विप्रतिषेध का समाधान

व्यावहारिक तर्कबुद्धि के विप्रतिषेध को निम्नलिखित तर्क वाक्यों में प्रस्तुत किया जा सकता है--प्रथम--सद्गुण सानन्दता के लिए खोज का परिणाम है तथा द्वितीय सानन्दता सद्गुण का परिणाम है[1]।

प्रथम तर्क वाक्य की समीक्षा करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह पूर्णतया असत्य है,क्योंकि किसी कर्म के साध्य के रूप में निर्मित हो जाने पर सानन्दता सद्गुण के साथ असंगत हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब सुख ही हमारे कर्म का साध्य बन जाता है तब हम सद्गुण को स्थान नहीं दे पाते और परिणामस्वरूप सानन्दता तथा सद्गुण दोनों ही परस्पर-विरोधी हो जाते हैं[2]।

द्वितीय तर्कवाक्य के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह पूर्ण रूपेण असत्य नहीं है[3]। प्रथम तर्कवाक्य के विपरीत इससे यह व्यक्त होता है कि जो नैतिक कर्ता है उसमें इस बात की क्षमता तथा योग्यता निहित है कि वह प्रमुदित हो, प्रसन्न हो,इसलिए उसे अवश्य ही प्रमुदित होना चाहिए। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमारे तर्क बुद्धि की यह एक अकाट्य व अविवाद्य मांग एवं मान्यता है कि एक सद्गुणी को अपने कर्म के परिणामस्वरूप सानन्दता अवश्य प्राप्त हो, क्योंकि उस नैतिक कर्ता में प्रमुदित होने की क्षमता रहती है।

विप्रतिषेधों की समुचित परीक्षा से ज्ञात होता है कि यह व्याघात हमारी इस मान्यता के कारण है कि--सामान्य इन्द्रियसंवेद्य अनुभव का जगत ही मूल तथा अन्तिम वस्तु है। यहां यह कहना अत्यधिक तथ्यपूर्ण होगा कि यह मान्यता इस व्याघात का आधार है। कोई भी सीमित सत्ता अपने इन्द्रियसंवेद्य अस्तित्व की शर्तों के अन्तर्गत परम सानन्दता को नहीं प्राप्त कर सकती,उसके

---

१. लैविस ह्वाइट बैक,कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० २१८

२. वही,पृ० २१८-१९

३. वही,पृ०२१८-१९

लिए ऐसा नितान्त ही असंभव है,इसलिए हम दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार नहीं कर सकते कि सब स्थितियों में सद्गुण सानन्दता में परिणत होता है । हमें यह अस्वीकार करना ही पड़ता है कि सद्गुण का परिणाम सानन्दता है । एक सदाचारपूर्ण आचरण या बुद्धियुक्त कारणता के अनुसार निर्धारित आचरण के लिए कर्मशील कर्ता के प्राकृतिक दशा को निर्धारित करना असंभव है,क्योंकि उसकी प्राकृतिक दशा पूर्णतया प्राकृतिक नियम पर निर्भर करती है । परन्तु तर्कबुद्धि की हमारी समीक्षा के सम्पूर्ण स्वरूप ने इस बात का निदर्शन किया है कि हमारा अनुभव जगत या इन्द्रिय जगत अथवा प्राकृतिक जगत ही मूल तथा अन्तिम तत्व नहीं है,इसके अतिरिक्त भी एक तत्व है जिसे बुद्धियुक्त चेतन जगत या अनुभवातीत जगत अथवा पारमार्थिक जगत का नाम दिया गया है । बुद्धिशील या चेतन जगत के अंतर्गत एक परमार्थ के रूप में केवल मेरे अस्तित्व की धारणा संभव नहीं है वरन् नैतिक नियम विशुद्ध रूप से ऐसे स्वरूप का बौद्धिक सिद्धान्त है जो इन्द्रिय जगत में व्यक्त मेरे कारणता का निर्धारण करने में समर्थ है । अत: `सद्गुण और सानन्दता` को संयुक्त होना चाहिए,इस विचार में कुछ भी असंभव नहीं प्रतीत होता । त्रुटि इस कथन में निहित है कि वे अपरोक्ष रूप से संयुक्त हैं,अत: हम इस कथन को ही अस्वीकार करते हैं । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमारी अस्वीकृति का रास्ता हमें यह स्वीकार करने से रोकता है कि वे परोक्ष रूप से संयुक्त हो सकते हैं । वस्तुत: सद्गुण एवं सानन्दता दोनों प्रकृति के एक बुद्धिमान स्रष्टा द्वारा परोक्ष रूप से संयुक्त हो सकते हैं,परन्तु हमारे द्वारा नहीं क्योंकि हमारे पास प्रकृति के संविधान को निर्धारित करने की कोई शक्ति नहीं है,प्रकृति के जगत में हमारे नैतिक नियमों का प्रभाव नहीं पड़ता है । हमारी सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि पूरा जिस कारण दृढ़तापूर्वक इस बात पर बल देती है कि प्राकृतिक जगत में प्रत्येक परिवर्तन प्राकृतिक कारणता के नियमों पर निर्भर रहते हैं उसी कारण यह इन तथ्यों से भी परिचित रहती है कि प्राकृतिक जगत केवल गोचर या आभास है और कारणता का एक अन्य प्रकार अर्थात् स्वातंत्र्य से प्राप्त कारणता के सिद्धान्त का अस्तित्व भी संभव है । अत: यह सोचना कि उनके बीच एक सम्बन्ध है,एक अनौचित्यपूर्ण मान्यता कदापि नहीं हो सकती । हमसे इतर या भिन्न एक बुद्धि द्वारा इस प्रकार का सम्बन्ध बनाना ही वह रास्ता है जिसके द्वारा हम यह विचार कर सकते हैं तथा समझ सकते हैं कि सद्गुण और सानन्दता की संयुक्तता प्रभावशाली

एवं कार्यकर होती है और इसीलिए यह सम्बन्ध अनिवार्य न होकर आपातिक है ।

कान्ट महोदय का कहना है कि व्यावहारिक तर्कबुद्धि का विप्रतिषेध इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि एक ओर तो व्यावहारिक तर्कबुद्धि उचित रूप से सद्गुण और सानन्दता के एकता की मांग करती है, जबकि दूसरी ओर नैतिकता तभी संभव है जब सानन्दता नहीं, केवल विशुद्ध नैतिक नियम ही कर्म का साध्य बनाया जाय।[1] इस समाधान में कान्ट यह कहते हैं कि गोचर एवं अगोचर अर्थात् व्यवहार एवं परमार्थ के बीच भेद स्थापित करके ही इस स्पष्ट स्व-व्याघात से बचने का सुदृढ़ उपाय निर्मित होता है । जब प्रकृति के एक असीमित सृष्टा के माध्यम से संयोजन या एकता की संभावना और अनिवार्यता की अनुभूति होती है तब हमारे नैतिक संकल्प-शक्ति का साध्य सद्गुण और सानन्दता की एकता के लिए तर्कबुद्धि की मांग के साथ अनुरूपित परिलक्षित होता है । इस प्रकार जब इस असत्य मान्यता का विसर्जन कर दिया जाता है कि गोचर के क्षेत्र में ही संपूर्ण सत्ता समाहित है तो इस प्रकार के विप्रतिषेध का लोप हो जाता है ।[2]

उपरोक्त विवेचन इस बात पर प्रकाश डालता है कि कान्ट की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक तर्कबुद्धि प्रज्ञा के विप्रतिषेधों के समाधान की पद्धति समान है । जिस प्रकार शुद्ध बुद्धि मीमांसा में 'प्राकृतिक अनिवार्यता' और स्वातंत्र्य के विप्रतिषेध से छुटकारा पाने का उपाय केवल यह प्रतिपादित करना था कि प्राकृतिक कारणता का सिद्धान्त केवल गोचर का ही एक नियम है और इसीलिए प्राकृतिक उस्तव नियम के अलंघनीयता की परम पहचान एक स्वतंत्र कारण के अस्तित्व के साथ असंगत नहीं है, उसी प्रकार व्यावहारिक तर्कबुद्धि के विप्रतिषेध का समाधान यह कर किया गया है कि व्यवहार तथा परमार्थ में भेद है और

---

१. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७८

२. वही, पृ० ३७८-७९

हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा अनिवार्यतया उनकी एकता के प्रत्यय को ग्रहण करती है। जो परम नियम की अनुरूपता के साथ अपने कर्मों का निर्धारण करती है, ऐसी एक सत्ता के लिए यह विश्वास करना असंभव हो जाता है कि जिन दो जगत से उसका सम्बन्ध है उन दोनों जगत का परस्पर कोई सरोकार नहीं है। अतः हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि प्रज्ञा अनिवार्य रूप से एक ऐसे निःश्रेयस के प्रत्यय को स्वीकार करती है जो स्वातंत्र्य के जगत तथा प्रकृति के जगत दोनों को ही संयुक्त करती है और फलस्वरूप उस तर्कबुद्धि प्रज्ञा के विप्रतिषेध का समाधान हो जाता है।[1]

व्यावहारिक तर्क-बुद्धि सम्बन्धी विप्रतिषेध के समाधान से अवगत होकर हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि कान्ट के विचारानुसार नैतिक नियम के अनुकूल सद्गुणयुक्त आचरण करना ही 'सर्वोच्च निःश्रेयस' है। हमारी विशुद्ध व्यावहारिक प्रज्ञा इस निःश्रेयस को एक ऐसे प्रत्यय के रूप में ग्रहण करती है जो अपने में 'सद्गुण' तथा 'सानन्दता' दोनों की संयुक्तता को समाहित करता है। यही हमारी नैतिकता है।[2] कान्ट कहते हैं कि यह नैतिकता तभी संभव हो सकती है जब हम व्यावहारिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के प्रमुख अभ्युपगमों या मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ये अभ्युपगम नैतिकता की अनिवार्य पूर्वमान्यताएं हैं।[3] ये मान्यताएं सैद्धान्तिक मत नहीं हैं और न तो ये हमारे चिन्तनात्मक ज्ञान का किसी प्रकार से विस्तार ही करती हैं। ये एक नैतिक कर्ता के रूप में मनुष्यस्वभाव द्वारा अपेक्षित पूर्वमान्यताएं हैं, इसलिए ये हमारी चिन्तनशील तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के प्रत्ययों को वस्तुगत सत्ता प्रदान करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन्हीं मान्यताओं के कारण हमारे अन्दर इस तथ्य को स्वीकार करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि चिन्तन-

---

१. लैविस व्हाइट बैक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१८-१९
२. वही, पृ० २२३ तथा (लैविस व्हाइट बैक, क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ०२२३)
३. वही, पृ० २३४

शील तर्क-बुद्धि के प्रत्ययों की वस्तुगत सत्ता है। इतना ही नहीं इन्हीं के द्वारा हम धारणाओं या प्रत्ययों के प्रयोग में औचित्यपूर्ण सिद्ध होते हैं। ये अभ्युपगम या मान्यताएं 'आत्मा की अमरता;' संकल्प-स्वातंत्र्य' तथा' ईश्वर का अस्तित्व है,[1] जिनका यहां विवेचन करना अनिवार्य है।

आत्मा की अमरता

कान्ट के अनुसार' आत्मा की अमरता' हमारे व्यावहारिक प्रज्ञा की अति अनिवार्य अभिधारणा[2] है। हम यह देख चुके है कि हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि स्वभाविक रूप से सद्गुण और सामन्वता के संयुक्तता अर्थात् नि:श्रेयस की मांग करती है। नैतिक नियम द्वारा निर्धारित हमारी इच्छा-शक्ति का अनिवार्य वस्तु-विषय नि:श्रेयस की अनुभूति ही है। तर्क-बुद्धि सद्गुण और सामन्वता के संयुक्तता की मांग केवल इस शर्त से युक्त होकर ही करती है कि परम या अन्तिम श्रेय विकसित होना चाहिए क्योंकि इसके विकसित विकसित न होने पर पूर्ण श्रेयस भी असम्भव हो जाता है। यहां अन्तिम श्रेय की इच्छा करने का तात्पर्य है--एक विवेकशील परन्तु इन्द्रियनिष्ठ सत्ता के द्वारा अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में नैतिक नियम की इच्छा करना क्योंकि नैतिक कर्त्ता की नैतिक नियम के साथ पूर्ण अनुरूपता ही नि:श्रेयस की परम शर्त है। हमारा विकसित श्रेय नैतिक नियम के साथ इच्छा-शक्ति के उस पूर्ण सामंजस्य में निहित होता है जिसे पवित्रता का नाम दिया गया है, कोई भी सीमित बौद्धिक सत्ता इस पवित्रता को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकती[3] है। अत: इन्द्रिय जगत से सम्बन्धित सत्ता को परम रूप से पूर्ण तथा एक पवित्र संकल्प-शक्ति से युक्त होना

---

१. लैविस ह्वाइट बेक, क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २३५

२. वही, पृ० २२६

३. "...Complete fitness of the will to the moral law is holiness, which is a perfection of which no rational being in the world pf sense is at any time capable."

--जॉन फिक, क्लासिकल एण्ड कान्टैम्पेरी रीडिंग्स इन दि फिलासफी आफ रैलिजन, पृ० १६७।

चाहिए। उस सत्ता में पवित्रता केवल एक अनन्त या असीम प्रगति के द्वारा ही सम्भव होती है, जिसकी इच्छाएं तर्क-बुद्धि के साथ विरोध में होती हैं। विशुद्ध व्यावहारिक तर्क-बुद्धि दृढ़तापूर्वक इस बात को स्वीकार करती है कि पवित्रता प्राप्त की जानी चाहिए, इसलिए यह हमसे पूर्णता की ओर एक अनन्त प्रगति-प्रवाह को स्वीकार कर लेने की अपेक्षा रखती है। कान्ट कहते हैं कि संकल्प-शक्ति के पवित्रता की व्यावहारिक रूप से अनिवार्य एवं अपरिहार्य आकांक्षा की जाती है, परन्तु नैतिक नियम से पूर्ण अनुरूपता की ओर एक अनवरत प्रगति के अन्तर्गत ही इसे प्राप्त किया जा सकता है और व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के सिद्धान्तों पर इस प्रकार की एक व्यावहारिक प्रगति को इच्छा-शक्ति के एक यथार्थ वस्तु-विषय के रूप में स्वीकार करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है।[१]

उपरोक्त प्रकार के सीमातीत या कालातीत नि:श्रेयस की प्राप्ति के लिए एक सीमातीत अस्तित्व की अनिवार्यता रहती है जो उस श्रेयस की अनुभूति करता है। एक असीम या अनन्त प्रगति केवल तभी संभव हो सकती है जबकि हम एक विवेकशील सत्ता के अनन्त या शाश्वत अस्तित्व को पूर्वस्वीकृति देते हैं। इस बौद्धिक सत्ता को अपनी आत्म-चेतनता तथा अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना होगा क्योंकि किसी अन्य प्रकार से वह नैतिक नियम की इच्छा करने योग्य एक स्वतंत्र कारण नहीं हो सकेगा। हम देखते हैं कि अनवरत प्रगति व्यावहारिक तर्क-बुद्धि का एक अपरिहार्य प्रत्यय है इसलिए आत्म-अमरत्व को भी अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है अर्थात् 'सर्वोच्च श्रेय' व्यावहारिक रूप से केवल व्यक्तिगत अमरता की पूर्वमान्यता द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार अमरत्व एक नैतिक सत्ता की धारणा का अनिवार्य प्रतिफल है।। इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रामाणिकता या निरूपण प्राकृतिक कारणता के सिद्धान्त के प्रयोग पर निर्भर होता है। परन्तु यह विशुद्ध व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की एक ऐसी अभिधारणा है, अभिगृहीत सत्ता है जिसकी मांग एक निरपेक्ष प्रागनुभवी व्यावहारि नियम अनिवार्य रूप से करता है। इसीलिए कान्ट के अनुसार 'आत्मा की अमरता'

---

१. जान विक, क्लासिकल एण्ड कान्टेम्परेरी रीडिंग्स इन दि फिलासफी ऑफ रेलिजन, पृ० १६७

एक सैद्धान्तिक तर्ककथन है जो सैद्धान्तिक रूप में प्रामाण्य नहीं है, परन्तु यह एक निरपेक्ष प्रागनुभवी व्यावहारिक नियम का अवियोज्य परिणाम है।[1]

यद्यपि हम देखते हैं कि कान्ट ने शुद्ध-बुद्धि मीमांसा में यह दिखाया है कि 'अमरता' की धारणा ने चिन्तनशील सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि को एक तर्काभास में फंसा दिया था अर्थात् एक ऐसे तर्क-दोष से युक्त कर दिया था जो पदों में से किसी एक की संदिग्धार्थता से परिणामस्वरूप प्राप्त होता है और इसी संदिग्धार्थता में ही यथार्थ विषयी के साथ गोचरता के अपरिहार्य संभ्रम द्वारा तर्क-बुद्धि के विश्वास पर आघात पहुंचा था। हमारी सैद्धांतिक प्रज्ञा एक अप्रतिबद्ध विषय की मांग करते हुए एक यथार्थ द्रव्य के स्वीकृत ज्ञान के साथ चिन्तनशील विषयी की चेतना को भ्रमित करने के लिए बाध्य हो गयी थी, फलस्वरूप इसी भ्रान्ति पर ही वह आत्मा की नित्यता और अमरता को आधारित करके अनुकम्पा ही छोड़ देती है। परन्तु इसी समस्या के समाधान को कान्ट ने तर्क-बुद्धि प्रज्ञा द्वारा उसके व्यावहारिक प्रयोग में स्थापित किया है, जिसके द्वारा उचित रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि आत्मा अमर है, क्योंकि एक नैतिक कर्ता के रूप में उसे नैतिक नियम की पूर्ण अनुभूति के लिए एक पर्याप्त अनवरत अवधि से युक्त होना पड़ेगा।[2]

कान्ट ने इस अमरता के प्रत्यय के लिए एक ऐसी युक्ति दी है जो आत्मा की अमरता को अस्वीकार करने वाले संदेहवादी तथा इसे सैद्धान्तिक रूप से प्रामाण्य एवं सिद्ध मानने वाले मताग्रही विचारकों की युक्तियों से पूर्णतया भिन्न है।[3] हम जानते हैं कि पूर्ण निःश्रेयस अप्राप्य है और हम केवल इसके पास तक पहुंचने का ही प्रयास कर सकते हैं, पूर्णतया इसकी अनुभूति नहीं कर सकते, इसलिए हमें आत्मा की अमरता को अवश्य ही मान्यता देनी पड़ती है। परन्तु

---

१. लैविस ह्वाइट बैक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२६

२. वही, पृ० २३५

३. एच०डब्लू० कैसिरर, ए कमेंट्री आन क्रिटीक ऑफ जजमैन्ट, पृ० ८६

यह स्वीकृति एक सैद्धान्तिक मत नहीं है,यह अमरता एक ऐसा अतीन्द्रिय विषय है नहीं है जिसे हम जान सकते हैं,यह एक ऐसा प्रत्यय है जिसकी अनुरूपता के साथ हम कार्य कर सकते हैं । इसके सैद्धान्तिक अभाव में भी हम इसे प्राप्त कर सकते हैं । यह असीम सत्ता काल-निरपेक्ष है,यह नैतिक प्रयत्न के श्रेय को अनुभूत रूप में देखती है,इसीलिए यह साक्षात्कार या अनुभूति की प्रक्रिया को अपनी पूर्णता के समान अपनाने में समर्थ है । यह सत्ता सर्वोच्च श्रेयस में प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग के शर्त के रूप में अनिवार्य रूप से पवित्रता की मांग करती है और क्योंकि उसकी चेतना एक बौद्धिक प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप की होती है इसलिए वह इस पवित्रता को अनुभूत रूप में देखती है । यहाँ शर्त केवल यह है कि सीमित सत्ता एक अविच्छिन्न एवं गहन प्रगति बनाये।[1] अत: स्पष्ट है कि हम सद्गुण एवं सानन्दता के संयुक्तता की अनुभूति के लिए आदेशित एवं बाध्य हो जाते हैं,परन्तु हम ऐसा कभी कर नहीं सकते,हम केवल इस पूर्णता के समीप अतिसमीप पहुंचने का प्रयत्न ही कर सकते हैं । यह पूर्णता का प्रत्यय एक ऐसा प्रत्यय है जो अतीन्द्रिय विषय का उल्लेख करता है और इसका कार्य सीमित सत्ता को इस योग्य बनाना है कि वह इसके अनुरूप इन्द्रिय जगत में अपने आपको निर्धारित कर सके । इस प्रकार के पूर्ण शुभत्व या पवित्रता को हम अनन्त प्रगति प्रवाह के अन्तर्गत ही प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि इसकी उपेक्षा से या तो नैतिक नियम हमारी सुविधा के अनुरूप तथा आसक्त होकर अपनी पवित्रता से रिक्त हो जायेंगे तथा उससे नीचे गिर जायेंगे या तो मनुष्य अपनी आशा और कर्तव्य की धारणाओं को एक अप्राप्य लक्ष्य के रूप में देख कर अपने आपको ऐसे काल्पनिक विलक्षण आध्यात्म विद्या-सम्बन्धी स्वप्नों में विलीन कर देंगे जो उनके आत्म-ज्ञान का ही पूर्ण रूप से विरोध करते हैं और परिणाम-स्वरूप हमारी तर्क-बुद्धि के एक आदर्शपूर्ण नहीं वरन् एक यथार्थ,दृढ़ एवं अपरिवर्तनीय आदेश का नियमित एवं पूर्ण रूप से पालन करने का अनवरत प्रयत्न रुक जायेगा ।[2]

---

१. हरिमोहन भट्टाचार्या,दि प्रिंसिपल्स ऑफ फिलासफी,पृ० ४१८

२. लेविस ह्वाइट बेक,इमैनुअल काण्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ०२२६,तथा एबट्स ट्रान्सलेशन,दि क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० २१९

अत: नैतिक नियम से पूर्ण अनुरूपता का दावा इस जीवन में एक वास्तविक तथ्य के रूप में किसी के द्वारा भी नहीं किया जा सकता, एक विवेकशील परन्तु सीमित सत्ता के लिए जो कुछ भी संभव है वह केवल एक ऐसा अनन्त प्रगति-प्रवाह है जो नैतिक पूर्णता के निम्न से उच्च स्तर तक प्रवाहित होता रहता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि यदि एक सीमित सत्ता ने अपने विगत काल में नैतिकता की निम्न श्रेणी से उच्च श्रेणी तक एक प्रगति की है तब वह इस जीवन में तथा इससे परे भविष्य में भी एक न टूटने वाली अखण्ड निरन्तर प्रगति करने की आशा कर सकती है, उसके लिए यह आशा एवं विश्वास रखना उचित है कि अपने अस्तित्व की असीमित अवधि में वह नैतिक नियम के साथ पूर्ण सामंजस्य को प्राप्त कर सकती है[1]। अत: कान्ट के अनुसार "हमें करना चाहिए" में ही यह बात समाहित है कि "हम कर सकते हैं"[2] और हमें करना चाहिए का कोई अन्त नहीं है, इसलिए हमारे कर सकने की संभावना का भी कोई अन्त नहीं है। अनन्त संभावना के लिए अनन्त काल की तथा अनन्त काल के लिए हमारे अमर अस्तित्व की आवश्यकता है। नैतिक नियम या पूर्ण नि:श्रेयस सीमित समय के घेरे में सिद्ध नहीं हो सकते, अत: इसकी सिद्धि के लिए मानव का अनन्तकालीन या काल-निरपेक्ष अस्तित्व नैतिक जीवन का अत्यन्त अनिवार्य अभ्युपगम है[3]।

संकल्प-शक्ति की स्वतंत्रता

हमने भलीभांति इस तथ्य का निरीक्षण कर लिया है कि मानव, आत्मा की अमरता से युक्त होकर एक नैतिक कर्ता के रूप में सदैव ही नैतिक नियम या पूर्ण नि:श्रेयस को प्राप्त करने की सतत् सिद्धि में रत रहता है यही उसका नैतिक कर्म है। प्रत्येक नैतिक कर्म नैतिक नियम की पूर्वधारणा पर ही आधारित है अत: नैतिक नियम का अस्तित्व है। कान्ट के अनुसार इस तथ्य

---

१. लैविस व्हाइट बैक, क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२६
२. ह्विटनै और बावर्स द्वारा सम्पादित, दि हैरिटेज ऑफ कान्ट, पृ० २०१
३. एस० कोर्नर, कान्ट, पृ० १६५, तथा रवट्स ट्रांसलैशन, दि क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१८

को अस्वीकार करना असंभव है । हमारी विशुद्ध तर्क-बुद्धि प्रज्ञा स्वयं ही हमारी व्यावहारिक बुद्धि है और यह हमें एक सार्वभौमिक नियम प्रदान करती है । यही नियम हमारा नैतिक नियम है जिसके बारे में हम प्रागनुभवी रूप से सजग रहते हैं और इस मूलगत नियम की चेतना ही तर्क-बुद्धि का एक निश्चित तथ्य[1] है । इस नियम की अपनी चेतना अथवा सजगता से ही हम अपने स्वातंत्र्य के प्रति भी सजग हो जाते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिक नियम ही प्रथम प्रदत्त वस्तु है जिसके अनुसार हम कार्य करने के लिए बाध्य हो जाते हैं । हमें इस नियम के अनुसार ही कार्य करना चाहिए यह कथन हमें इस तथ्य का बोध कराता है कि हम इसके अनुसार कार्य कर सकते हैं अर्थात् हम स्वतंत्र[2] हैं ।

तर्क-बुद्धि प्रज्ञा का क्रियात्मक कार्य ही हमारी इच्छा-शक्ति है । अन्य प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि इच्छा-शक्ति या संकल्प-शक्ति चेतन प्राणियों में निहित वह कारण है जो उन्हें बौद्धिकता प्रदान करता है अर्थात् विवेकशील प्राणियों में ही इच्छा-शक्ति संभव है । इच्छा-शक्ति से युक्त मानव एक नैतिक कर्ता है क्योंकि वह अपनी इच्छाशक्ति को नैतिक नियम के अनुरूप निर्धारित करता है, परन्तु ऐसा भी वह तब कर सकता है जबकि वह अपने आप को अपनी इन्द्रियात्मक प्रकृति से स्वतंत्र समझता हो अर्थात् वह एक संकल्प स्वातंत्र्य से युक्त[3] हो । अब यहां स्वातंत्र्य का विवेचन करना अत्यावश्यक हो जाता है ।

---

१. लैविस ह्वाइट बैक, इमैनुअल कान्ट, क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० १४३

२. टॉमस ई० हिल, एथिक्स इन थ्यौरी एण्ड प्रैक्टिस, पृ० ६७

३. "The will is a kind of causality belonging to living beings in so far as they are rational, and freedom would be this property of such causality that it can be efficient independently on foreign causes determining it."

-- एबट, कान्ट्स थ्यौरी ऑफ एथिक्स, पृ० ६५

हम कह सकते हैं कि स्वातंत्र्य कारणता का वह स्वरूप है जिसमें विषयी या नैतिक विवेकशील कर्ता किसी अन्य कारण से निर्धारित नहीं होता, केवल अपने ही द्वारा निर्धारित होता है । कारणता का एक ऐसा स्वरूप भी है जो अबौद्धिक प्राणियों में प्राप्त होता है, इसे परायत्त या प्राकृतिक कारणता का नाम दिया गया है । जब स्वतंत्रता को हम एक ऐसे कारण के रूप में व्यक्त करते हैं जो अपनी क्रियाशीलता में किसी अन्य कारण से निर्धारित नहीं होता है, तब हम केवल यही जानते हैं कि स्वतंत्रता क्या नहीं है और इसका एक निषेधात्मक रूप होता है, परन्तु तब भी कारणता की यह परिभाषा उसके स्वीकारात्मक प्रत्यय के लिए एक रास्ता बना देती है । प्रत्येक कारण के मूल में एक नियम अवश्य होता है अर्थात् प्रत्येक कारण को किसी नियम का विषय होना चाहिए तथा एक परिणाम या कार्य के रूप में यह एक कारण द्वारा ही स्थित भी होता है, इसलिए कारणता के स्वरूप में स्वतंत्रता को हम सब नियमों से निरपेक्ष व स्वतंत्र नहीं समझते, इसे केवल प्राकृतिक नियमों से ही निरपेक्ष या स्वतंत्र मानते हैं । एक स्वतंत्र कारण किसी नियम के अनुरूप ही होता है, यद्यपि यह ऐसा नियम है जो स्वयं इसी का नियम है और इस प्रकार नियम के अभाव में कार्य-शील इच्छा-शक्ति कल्पनातीत हो जाती है अर्थात् हम ऐसी इच्छा-शक्ति की कल्पना ही नहीं कर सकते । प्राकृतिक नियम एक ऐसी कारणता को अभिव्यक्त करता है जो परतन्त्र तथा सापेक्ष है क्योंकि यहां कारण अपनी क्रियाशीलता में अपने से पृथक् किसी अन्य वस्तु से निर्धारित होता है । इसके विपरीत स्वतंत्रता स्वेच्छाचारिता में ही निहित होती है यानी एक ऐसी इच्छा-शक्ति में निहित होती है जो स्वयं ही अपने लिए एक नियम है । परन्तु यह कहना तो इस कथन के समान है कि इच्छा-शक्ति किसी भी अन्य सूत्र द्वारा निर्धारित नहीं होती है, यह केवल उस वस्तु द्वारा निर्धारित होती है जिसका विषय एक सार्वभौमिक नियम है । यही सार्वभौमिक नियम ही निरपेक्ष आदेश है और नैतिकता के सिद्धान्त का एक सूत्र है । इस प्रकार एक स्वतंत्र संकल्प-शक्ति[1] एक ऐसी इच्छा-शक्ति है जो नैतिक नियम के अनुरूप होती है ।

---

१. जुलियन बैंडा, कान्ट, पृ० ६७ तथा ६८ तथा
लेविस व्हाइट बैक, कान्ट क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० १४०

हम जानते हैं कि मानव प्राकृतिक या इन्द्रियात्मक प्राणी होने के कारण प्राकृतिक जगत का सदस्य है तथा यहां वह अपनी कामना या मूल प्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित होकर केवल अपनी सानन्दता की इच्छा से ही कार्य करता है। वह अपने इन्द्रियात्मक सुख के लिए कार्यरत होता है। परन्तु क्योंकि वह बौद्धिक जगत का निवासी भी है अत: वह अपने कर्मों का संकल्प-शक्ति की स्वेच्छाचारिता से सामंजस्य स्थापित करता है और इस प्रकार वह विशुद्ध रूप से नैतिक नियम के लिए ही श्रद्धापूर्वक कार्य करता है। कान्ट का कहना है कि बोधगम्य जगत ही सम्पूर्ण इन्द्रिय जगत की परम शर्त है, इसलिए इस गोचर जगत के नियम भी उसी के नियम हैं। इस प्रकार यद्यपि मानव इन्द्रियजनित कामनाओं से युक्त है किन्तु तब भी एक विवेक के रूप में वह केवल बोधगम्य जगत के नियमों का ही विषय है। ये नियम उनके लिए एक आदेश के रूप में प्राप्त होते हैं कि हमें नैतिकता के सार्वभौमिकनियमों के अनुरूप कार्य करना चाहिए[१]।

निरपेक्ष आदेश केवल स्वातंत्र्य के प्रत्यय द्वारा ही सम्भव होते हैं तथा ये ही यह दिग्दर्शित कराते हैं कि मानव बोधगम्य जगत का सदस्य है। क्योंकि मनुष्य इस बुद्धियुक्त जगत का निवासी है इसलिए उसके सभी कार्य उसकी स्वेच्छाचारी इच्छा-शक्ति द्वारा अवश्य ही अनुरूपित होते हैं। परन्तु क्योंकि वह गोचर या प्राकृतिक जगत का निवासी है अत: उसके कार्यों को स्वेच्छाचारी अनियत या स्वतंत्र संकल्प द्वारा निर्धारित होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के कर्तव्य की धारणा उसके इन्द्रियात्मक इच्छाओं की क्रिया नहीं है क्योंकि यह प्रत्येक मानव में भिन्न-भिन्न होती है वरन् यह ऐसे मानव की धारणा है जो बौद्धिक या स्वतंत्र प्राणी है तथा जिसे अपने ऊपर ही एक सार्वभौमिक नियम के रूप में आरोपित करता है। तर्क-बुद्धि प्रज्ञा सब में सामान्य है अत: कर्तव्य या आदेश स्वयं इसी की ध्वनि है।

---

१. जान वाट्सन, दि फिलासफी आफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३३४

शुद्ध-बुद्धि मीमांसा में हम देख चुके हैं कि अप्रतिबद्ध के लिए अपनी मांग में चिन्तनशील तर्क-बुद्धि ने बोधगम्य जगत और इसमें निहित हमारे अस्तित्व के विश्व-कारण प्रत्यय दोनों को प्रतिष्ठित किया और फलस्वरूप यह स्वतंत्र और प्राकृतिक कारणता के विप्रतिषेध में फंस गयी । यह विप्रतिषेध अनुभव के वस्तु-विषय के प्रति हमारे ज्ञान की आवश्यक सीमा से प्राप्त था इसीलिए यह तर्कबुद्धि उसका समाधान करने में असमर्थ थी । परन्तु शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि-मीमांसा में पुन: स्वातंत्र्य की अपनी मान्यता के द्वारा व्यावहारिक तर्क-बुद्धि ने श्रद्धा या विश्वास के आधार पर हमें उसका समाधान करने की समर्थता प्रदान की जिसका समाधान ज्ञान पर आधारित था और इस प्रकार यह दिखाया कि मनुष्य वस्तुत: स्वतंत्र होता है[१] ।

हम इस तथ्य से पूर्णतया अवगत हैं कि हमारे ज्ञान की दृष्टि से स्वातंत्र्य की धारणा को स्थापित करना असम्भव है परन्तु जहां तक हमारे कर्म का सम्बन्ध है हम एक स्वातंत्र्य की चेतना से युक्त होकर ही कर्म करते हैं और इसी रूप में हम स्वतंत्र भी समझे जाते हैं । अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि कान्ट के अनुसार तर्क-बुद्धि प्रज्ञा अपने क्रियात्मक कार्य में ही हमारी इच्छा-शक्ति बन जाती है और इसीसंकल्प या इच्छा-शक्ति से निर्मित बौद्धिक प्राणी विशुद्ध रूप से अपनी ही तर्क-बुद्धि प्रज्ञा द्वारा अपने ही ऊपर आरोपित सार्वभौमिक नियम के लिए श्रद्धापूर्वक कार्यरत रहता है । यही इच्छाशक्ति स्वतंत्र इच्छा-शक्ति है,आत्म-निर्धारित इच्छा-शक्ति है तथा यही नैतिक इच्छा-शक्ति है जो एक सार्वभौमिक नियम की इच्छा करती है[२] । इसे अन्य प्रकार से इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि मानव का कोई भी कर्म नैतिक कर्म इसलिए है कि वह शुभ कर्म है,शुभ इसलिए है कि वह उचित कर्म है तथा उचित इसलिए है कि वह विवेकशील या बौद्धिक कर्म है अर्थात् हमारी

---

१. जॉन वाट्सन,दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० ३८६

२. हैबिरा ह्वाइट बेक,कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० १०२,तथा जॉन वाट्सन,दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० ३३१

तर्क-बुद्धि प्रज्ञा द्वारा निर्धारित कर्म है,यह तर्क-बुद्धि प्रज्ञा ही हमारी बौद्धिक इच्छा-शक्ति है,सदिच्छा है तथा स्वतंत्र इच्छा-शक्ति है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धिक प्राणी की इच्छा-शक्ति के रूप में ही हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा स्वयं अपने आप ही स्वतंत्र समझी जाती है और इसीलिए स्वातंत्र्य का यह प्रत्यय हमारे व्यावहारिकता या कर्म के क्षेत्र में सम्पूर्ण बौद्धिक प्राणियों पर आरोपित हो जाता है । इस अवलोकन से सिद्ध होता है कि यद्यपि नैतिक नियम के अपने ज्ञान से ही हम स्वातंत्र्य के प्रत्यय को सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु फिर भी हम यह कहते हैं कि नैतिक नियम के लिए स्वतंत्रता अत्यन्त अनिवार्य एवं अपरिहार्य है क्योंकि एक स्वतंत्र सत्ता ही नैतिक नियमों को उत्पन्न कर सकती है तथा एक नैतिक सत्ता स्वातंत्र्य की चेतना से युक्त हो सकती है[1] । यहाँ नैतिकता ही हमारा सर्वोच्च नि:श्रेयस है जिसमें सद्गुण तथा सानन्दता की संयुक्तता समाहित है । अत: संकल्प स्वातंत्र्य भी नैतिकता का एक अत्याज्य अभ्युपगम है[2] ।

ईश्वर का अस्तित्व



कान्ट ने ईश्वर के अस्तित्व को भी नैतिकता के एक अनिवार्य आधार तत्व के रूप में मान्यता दी है[3] । व्यावहारिक बुद्धि के द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी अनुशीलन में यह स्पष्ट होता है कि हमारी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा उचित रूप से विशुद्ध अवैयक्तिक अधिष्ठानों पर पूर्णश्रेय के उपलब्धि की माँग करती है । यह पूर्णश्रेय नैतिकता

---

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० ३३३

२. टॉमस ई० हिल,इथिक्स इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस,पृ० ६७

३. वही पृ० ६८,तथा लेविस ह्वाइट बैक, कान्ट क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल-रीज़न,पृ० २२७ ।

के अनुपात में सानन्दता की उपलब्धि को समाहित करता है। इसका तात्पर्य यह है कि एक नैतिक कर्ता अथवा मनुष्य नैतिक नियम की इच्छा करता है तथा इसके अनुरूप अपने कर्म के प्रतिफल के रूप में वह सानन्दता अथवा इच्छा-शक्ति और कामनाओं की तृप्ति या सन्तुष्टि चाहता है। सामान्य दृष्टि से हम कह सकते हैं कि नैतिक कर्ता नैतिक नियमों की इच्छा करता है। इस शर्त पर यदि प्रकृति नैतिक कर्ता की समस्त इच्छाओं की सन्तुष्टि को सुरक्षित रखने की सामर्थ्य रखती है, तब वह कर्ता सन्तोष व सानन्दता की अनुभूति कर सकता है। परन्तु हम जानते हैं कि नैतिक नियम की इच्छा करना एक स्वतंत्र सत्ता की भांति कर्ता की शक्ति के ही अन्तर्गत है अतः नैतिक नियम का इस दृष्टि से प्राकृतिक जगत पर कोई भी प्रभाव नहीं है। अन्य शब्दों में मानव का प्रकृति के संविधान पर कोई अधिकार नहीं है, उस पर मानव की कोई भी शक्ति निष्फल है क्योंकि नैतिक कार्य का कारण प्रकृति के किसी भी विचारणी कारण से भिन्न है। इस प्रकार की स्थिति में हमारे लिए इस तथ्य के समर्थन का कोई भी औचित्य नहीं रह जाता है कि नैतिक नियम के साथ पूर्ण सामंजस्य का प्रतिफल सद्गुण या नैतिकता के अनुपात में सानन्दता की प्राप्ति होगी; अर्थात् हमें अपने सर्वोच्च श्रेयस की उपलब्धि होगी। हम पहले ही यह विचार कर चुके हैं कि ऐसी असमर्थता की दशा में हमारी तर्क-बुद्धि अनिवार्यतया सद्गुण और सानन्दता के सामंजस्य को इस मान्यता द्वारा स्वीकार कर लेती है कि एक अतीन्द्रिय बुद्धिमान कारण द्वारा ये दोनों परोक्ष रूप से संयुक्त हो सकते हैं। अतः कान्ट पहले यह स्वीकार करते हैं कि सद्गुण के अनुपात में सानन्दता प्राप्य है तथा यह हमारी तर्क-बुद्धि की एक तर्कसंगत एवं औचित्यपूर्ण मांग है। तत्पश्चात् वे यह प्रस्तावित करते हैं कि मनुष्य सर्वोच्च श्रेय को खोजने व उसकी प्राप्ति के लिए एक निरपेक्ष बाध्यता या कर्तव्य के वशीभूत होता है।[1]

---

१. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३८१

प्राकृतिक जगत में मानवीय इच्छाओं के साथ प्रकृति के सामंजस्य को सुरक्षित रखने के लिए कुछ भी नहीं है, इसलिए हमें प्रकृति से भिन्न, प्रकृति के एक कारण की सत्ता को एक समष्टि के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। यह कारण अवश्य ही नैतिकता और सानन्दता को एक दूसरे के उचित अनुपात में संयुक्त करने की शक्ति रखता है अर्थात् सर्वोच्च नि:श्रेयस को संभव बना सकता है। स्वयं नैतिक नियम के अन्तर्गत ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमें इन दोनों के एक आवश्यक सम्बन्ध के बारे में विश्वास करने के लिए कुछ आधार प्रदान करे कान्ट कहते हैं कि हमें सर्वोच्च शुभ तक पहुंचने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, इसलिए हमें प्रकृति के समष्टि के एक ऐसे कारण को मान्यता देनी पड़ती है, ज प्रकृति से भिन्न है तथा जो सामन्जस्यता और नैतिकता की उचित व सन्तुलित समानता के आधार से युक्त होता है।[१] अत: इस कारण को केवल बोधमय ही नहीं वरन् नैतिक भी होना चाहिए क्योंकि प्रकृति की व्यवस्था का सृष्टा होने के साथ इसे उसी समय में यह भी प्रबन्ध करना होता है कि यह व्यवस्था कर्ता के नैतिक चरित्र के साथ संगति में हो। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विश्व में सर्वोच्च श्रेय की अनुभूति हमें केवल तब हो सकती है जब हम यह स्वीक करें कि एक ऐसी सत्ता भी है जो प्रकृति का कारण है और साथ ही साथ कर्ता के नैतिक चरित्र के साथ प्रकृति को अनुकम्पित भी करती है। नियम की चेतना क्रियाशील सत्ता एक विवेकशील सत्ता है, बोधमय सत्ता है तथा इस सत्ता की कारणता एक इच्छा-शक्ति है जो नि:श्रेयस की प्राप्ति को संभव बनाती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि 'नि:श्रेयस' का प्रत्यय एक ऐसी सत्ता के अस्तित्व अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व को समाहित करता है जो अपनी संकल्प-शक्ति और अपने बोध से प्रकृति का कारण अथवा रचयिता है।[२] अत: कान्ट कहते हैं

---

१. लैविस ह्वाइट बैक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२८
२. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३८२

कि हमारे इस कथन से कि हम सर्वोच्च प्राप्य श्रेय को स्वीकार कर सकते हैं, हमें इस प्राप्य निःश्रेयस के उद्गम अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता देनी पड़ती है। केवल सर्वोच्च निःश्रेयस को ही उन्नत करना हमारा कर्तव्य नहीं है, हमारे कर्तव्य की धारणा हमें पहले से ही यह स्वीकार करने का अधिकार प्रदान करती है कि सर्वोच्च श्रेय की अनुभूति की जा सकती है। यह अनुभूति केवल ईश्वर के अस्तित्व की नैतिक पूर्वमान्यता द्वारा सम्भव हो सकती है। हमारा निःश्रेयस् अपृथक् रूप से हमारे कर्तव्य से सम्बन्धित है। अतः स्पष्ट रूपेण हम यह कह सकते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना नैतिक रूप से अनिवार्य है।[1] नैतिकता की संभावना की एक व्याख्या के रूप में ईश्वर का अस्तित्व अत्यन्त अनिवार्य है क्योंकि परम निःश्रेयस की प्राप्ति ही हमारी नैतिकता है और ईश्वर के अस्तित्व के अभाव में यह असंभव है। अतः ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्यय नैतिकता की अनिवार्य अभिधारणा है।

हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि अनिवार्य रूप से सद्गुण व सानन्दता से युक्त सर्वोच्च शुभ को प्राप्त करना चाहती है अर्थात् नैतिक कर्ता मानव सदैव ही अपने नैतिक कर्म के परिणामस्वरूप सानन्दता का आकांक्षी होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सर्वोच्च श्रेयस ही मानव का परम साध्य अथवा आदर्श होता है और इसी को प्राप्त करने के लिए वह निरन्तर प्रयास करता रहता है। परन्तु यह सुविदित है कि नैतिक कर्ता मानव अपने नैतिक जीवन में अपनी यथार्थ या व्यावहारिक उपलब्धि को सदैव अपने मनःस्थित आदर्श से कम ही पाता है किन्तु उसका चेतनास्थित आदर्श निःश्रेयस उसे सदैव अधिकाधिक

---

१. "...It was our duty to promote the highest good; and it is not merely our privilege but a necessity connected with duty as a requisite to presuppose the possibility of this highest good. This presupposition is made only under the condition of the existence of God, and this condition inseparably connects this supposition with duty. Therefore, it is morally necessary to assume the existence of God."

-- लेविस ह्वाइट बेक, कान्ट क्रिटीक् ऑफ् प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२८

प्रगति करने की प्रेरणा देता रहता है । परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सर्वोच्च शुभ मन:स्थित एक काल्पनिक आदर्श है,यह एक वास्तविक आदर्श है तथा मूलभूत/सनातन तत्व है,जिसकी अपूर्ण किन्तु उत्तरोत्तर पूर्णता की ओर अग्रसर होने वाली अभिव्यक्ति ही मानव के नैतिक जीवन में परिणत होती है ।यथार्थ की समीक्षा किसी यथार्थ मापदण्ड अथवा प्रेरणा द्वारा ही होनी चाहिए । अत: नि:श्रेयस रूपी हमारा आदर्श यथार्थ को प्रकाशित भी करता है तथा इसके प्राप्ति की सम्भाव्यता का निर्देशक भी होता है । इस बात का पूर्वविचार हो चुका है कि मानव की तर्क-बुद्धि स्वयं ही नैतिक नियमों की निर्माता है तथा यह अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति द्वारा इनसे शासित होना भी स्वीकार करती है यानी मानव की नैतिक प्रेरणा का मूल उसका नैतिक स्वायत्तता से युक्त होना ही है । इतना होते हुए भी हम यही देखते हैं कि मनुष्य अपने नैतिक आदर्श को केवल अपूर्ण रूप से साकार करने व अनुभूत करने में सफल होता है तथा उसकी पूर्ण अनुभूति के लिए वह अनन्त प्रगति करता रहता है । कान्ट के अनुसार एक पूर्ण शुद्ध,बुद्ध,मुक्त नैतिक सत्ता द्वारा ही हमें सर्वोच्च शुभ की पूर्ण अनुभूति हो सकती है,यही सत्ता ईश्वर की सत्ता है[१] ।

हम भलीभाँति देखते हैं कि कान्ट ने शुद्ध-बुद्धि मीमांसा में यह सिद्ध किया है कि ईश्वर के प्रत्यय की कुछ भी सैद्धान्तिक वास्तविकता नहीं है । हमारी चिन्तनशील तर्क-बुद्धि ने एक अन्तिम सत्ता की धारणा का नेतृत्व किया था परन्तु फिर भी वह यह सिद्ध करने में असमर्थ थी कि यह सत्ता हमारे आदर्श की अपेक्षा कुछ अधिक उच्च वस्तु है । परन्तु इसके विपरीत व्यावहारिक बुद्धि-मीमांसा में कान्ट यह स्पष्ट करते हैं कि व्यावहारिक तर्क-बुद्धि यह दिग्दर्शित करती है कि ईश्वर की अन्तिम सत्ता वास्तव में उस अन्तिम सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व-युक्त होती है जिसके अभाव में सर्वोच्च श्रेयस असंभव हो जाता है तथा

---

१. लेविस ह्वाइट बेक,कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० २३३

बोधगम्य जगत में यह सत्ता नैतिक नियमों के निर्धारण की सर्वश्रेष्ठ शक्ति के साथ सम्पन्न की जाती है । वह कहते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की एक मान्यता है,कहने का अभिप्राय है कि नैतिक नियम इस प्रत्यय को व्यावहारिक वास्तविकता प्रदान करते हैं ।

उपरोक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर का प्रत्यय हमारी नैतिक अनिवार्यता है,अन्य शब्दों में यह हमारी नैतिक चेतना की एक आवश्यकता तथा मांग है,इसी अर्थ में यह आत्मगत है । यह वस्तुगत नहीं है क्योंकि यह स्वयं एक कर्तव्य नहीं है,जो केवल सैद्धान्तिक दृढ़-विश्वास का विषय हो सकती है । ऐसी किसी भी वस्तु या सत्ता के अस्तित्व को अंगीकृत करना एक कर्तव्य नहीं हो सकता है । हम पहले ही असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध कर चुके हैं कि हमारी यह नैतिक बाध्यता--कि हमें नैतिक नियमों का पालन करना चाहिए;पूर्णतया स्वयं तर्क-बुद्धि की स्वायत्तता पर ही आश्रित रहती है,इसलिए ईश्वर के प्रत्यय को नैतिक बाध्यता का आधार नहीं बनाया जा सकता है । हम केवल इस सम्भावना को ही स्वीकार कर सकते हैं कि हमारा सम्पूर्ण कर्तव्य केवल सर्वोच्च श्रेय को खोजने के लिए,उसकी अनुभूति करने व उसकी उन्नत करने के लिए ही हो सकता है । परन्तु हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि नि:श्रेयस की संभावना को केवल इस पूर्वमान्यता के अन्तर्गत ही अनुभवगम्य पाती है कि एक अन्तिम बोधमय सत्ता अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व है । इस बोधमय ईश्वर के अस्तित्व की मान्यता हमारे कर्तव्य की चेतना के साथ आबद्ध होती है । यह मान्यता स्वयं हमारी सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि के क्षेत्र से सम्बन्धित होती है । केवल सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि के सम्बन्ध में ही इसे प्राक्कल्पना या व्याख्या के एक सिद्धान्त के रूप में समझा जाता है जबकि एक वस्तु-विषय की बोधगम्यता में इसे नैतिक नियम या नि:श्रेयस द्वारा प्रस्तुत किया जाता है और परिणामस्वरूप व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए एक मांग अथवा आवश्यकता के कारण इसे श्रद्धा या विश्वास कहा जा सकता है ।

---

१. लेविस ह्वाइट बैक,कान्ट क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० २३५-३६

वह एकमात्र उद्गम, जिससे यह प्रत्यय प्राप्त होता है, वह अपने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रयोगों में शुद्ध तर्क-बुद्धि ही है, इसलिए हम कह सकते है कि ईश्वर का प्रत्यय वस्तुत: हमारे व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की श्रद्धा व विश्वास ही है।[१]

सद्गुण तथा आनन्दता के सामंजस्य की सम्भाव्यता को कान्ट ने ईश्वर की सत्ता द्वारा सम्भव बना दिया अर्थात् उन्होंने सर्वोच्च नि:श्रेयस की व्यावहारिक सम्भाव्यता की समस्या का समाधान करने के लिए ईश्वर की अनिवार्यता को स्थापित किया[२]। कान्ट के ईश्वर-सम्बन्धी विचार से वह तथ्य स्पष्ट हो जाता है जिसके कारण एपिक्यूरसवादी तथा स्टोइक ग्रीक दार्शनिक सम्प्रदाय सर्वोच्च नि:श्रेयस की व्यावहारिक सम्भाव्यता को स्थापित करने में असमर्थ रहे। वस्तुत: एपिक्यूरसवादी विचारकों ने यह कह कर कि सद्गुण वही है जिससे सुख की प्राप्ति हो, 'सर्वोच्च श्रेय' को एक निम्नकोटि प्रदान कर दिया और इसकी अपेक्षा किसी उच्च प्रकार की आनन्दता की खोज करने का प्रयत्न नहीं किया जिसे प्रवृत्तियों के नियंत्रण एवं संयम से युक्त मानव बुद्धि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसके विपरीत स्टोइक विचारकों ने अपने सर्वोच्च व्यावहारिक सिद्धान्त सद्गुण को उचित रूप से सर्वोच्च श्रेयस की परम शर्त के रूप में स्वीकार किया। इन्होंने सद्गुण को प्रकृति के अनुकूल आचरण का अर्थ प्रदान करके मनुष्य को सामाजिक व्यवस्था को दैवी व्यवस्था का सांसारिक स्वरूप समझा और उस व्यवस्था में मनुष्य को एक ऐसी श्रेष्ठता प्रदान की जो ईश्वर की चेतना में निहित होती है। कहने का तात्पर्य है कि जब स्टोइक विचारक सद्गुण के एक ऐसे स्तर को स्वीकार करते है जो इसी के विशुद्ध नियम के लिए अपेक्षित है तथा इसी जीवन में प्राप्य है, तब वे मानव को उसके

---

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३८९

२. क्लीमेन्ट सी०जे० वेब, कान्ट्स फिलासफी ऑफ रैलिजन, पृ० ६३

"... According to Kant, it follows that our moral consciousness must postulate a power adequate to bringing the summun Bonum into being--that is, it must postulate the existence of God,"

प्रकृति की समस्त सीमाओं से परे एक संन्यासी की संज्ञा दे कर उसकी संपूर्ण नैतिक शक्ति का अतिरंजन ही नहीं करते वरन् वे नि:श्रेयस के अनिवार्य तत्व सानन्दता को ही अस्वीकार कर देते हैं। वास्तव में ग्रीक दार्शनिक विचारकों की भूल उनके प्रयोगों के नियम के सम्बन्ध में निहित थी। इस नियम को मानव की संकल्प-शक्ति अपनी स्वतंत्रता से सर्वोच्च श्रेयस की सम्भावना के एकमात्र एवं पर्याप्त आधार के रूप में निर्मित करती है, परन्तु यह ईश्वर के अस्तित्व-सम्बन्धी सभी विचारों से पृथक है अर्थात् वे इस उद्देश्य के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं करते हैं। यहां केवल उनका यह कहना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है कि नैतिक सिद्धान्त ईश्वर की मान्यता से स्वतंत्र है तथा उसे संकल्प-शक्ति के साथ तर्क-बुद्धि के सम्बन्ध द्वारा विशुद्ध रूप से सिद्ध किया जाता है, इसलिए वह नियम सर्वोच्च श्रेयस की अन्तिम व्यावहारिक पूर्व शर्त है। किन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं अनुमित कर सकते कि नैतिक सिद्धान्त ही सर्वोच्च श्रेयस की सम्भावना की पूर्ण एवं आत्यन्तिक शर्त है।

एक सूक्ष्म अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार नैतिकता का प्रथम आधारतत्व हमारे अन्तिम श्रेय की धारणा पर आधारित है उसी प्रकार यह आधारतत्व भी पूर्ण नि:श्रेयस अर्थात् सद्गुण एवं सानन्दता की संयुक्तता पर आधारित है। ईसाई मत में भी ईश्वर के साम्राज्य के प्रत्यय में सर्वोच्च श्रेयस की धारणा का समुचित उल्लेख प्राप्त होता है, उनकी यह नि:श्रेयस-सम्बन्धी धारणा ही हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की एक सुनिश्चित एवं पूर्णतम मांग है। यहां यह सिद्धान्त धार्मिक दृष्टिकोण से पृथक है अर्थात् इसे हम धार्मिक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं करते। यह नि:श्रेयस का प्रत्यय एक ऐसा प्रत्यय है जिसमें प्रकृति और नैतिक श्रेष्ठता एक साथ एक सामंजस्य में संयुक्त हो जाते हैं तथा इसे एक ऐसी पवित्र सत्ता के द्वारा स्थापित किया जाता है, जो सबका सृष्टिकर्ता है तथा जो सर्वोच्च प्राप्य श्रेय को सम्भव बनाता है। नैतिक नियम शुद्ध एवं पवित्र होते हैं तथा वे नैतिक आचरण के पवित्रता की मांग करते हैं। हम जानते हैं कि यह पवित्रता इसी में निहित है कि हमारा आचरण पूर्णरूप से

नैतिक नियमों के अनुकूल हों, यह प्रयास भी असीमित है क्योंकि सानन्दता के एक बुद्धिमान और सर्वशक्तिमान विधाता के निर्णय में समस्त सम्भव सानन्दता की कोई अन्य सीमा नहीं है सिवाय, इसके कि बौद्धिक सत्ताओं के अपने कर्तव्य-पालन की क्षमता में कुछ कमी हो । कहने का तात्पर्य है कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रकृति की किसी भी व्यवस्था की धारणा के अनुसार सामन्दता नैतिक नियम के अनुपालन से सम्बन्धित ही हो । अतः यह भी अनिवार्य नहीं है कि नैतिक नियम द्वारा निश्चित रूप से सानन्दता की प्राप्ति हो, इसकी प्राप्ति का प्रयत्न अनन्तकाल से होता रहता है तथा इसकी प्राप्ति की आशा से युक्त होकर बौद्धिक प्राणी एकनिष्ठता से नैतिक नियम का पालन करते हैं । यहाँ यह क्रिश्चियन नीति-सिद्धान्त ईश्वरपरक नहीं है, इस प्रकार यह परायत्त भी नहीं है, हमारी व्यावहारिक बुद्धि की स्वायत्तता है, क्योंकि ईसाई धर्म ईश्वर अथवा उसकी इच्छा -शक्ति के ज्ञान को नियम का आधार नहीं बनाता है वरन् सर्वोच्च श्रेय की प्राप्ति के ज्ञान को आधार बनाता है । इसके साथ शर्त यह है कि तर्क-बुद्धि के नियमों का पालन किया जाय, किन्तु यह धर्म नियमों के पालन के लिए आज्ञाकारिता को केवल कर्तव्य के प्रत्यय में ही स्थान देता है, प्रत्याशित परिणामों में आज्ञाकारिता की वास्तविक प्रेरणा को स्थान नहीं देता, क्योंकि इनके अनुसार मात्र नियम का विश्वसनीय अनुपालन ही हमें उन परिणामों को प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करता है[1]। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विशुद्ध व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के अन्तिम साध्य और वस्तु-विषय के रूप में 'सर्वोच्च श्रेयस' की धारणा द्वारा नैतिक नियम धर्म का नेतृत्व करता है, क्योंकि धर्म दैवी आदेशों के रूप में समस्त कर्तव्यों का ज्ञान है परन्तु ये आदेश अपने आप में स्वतंत्र प्रत्येक संकल्प-शक्ति के तात्त्विक नियमों के रूप में रहते हैं, उन आदेशों के रूप में नहीं, जिसे एक बाह्य और भिन्न असंगत संकल्प-शक्ति ने अपने स्वेच्छाचारी आदेशों से संलग्न किया है । अन्ततोगत्वा इन नियमों की अन्तिम सत्ता ईश्वर

---

१. लैविस ह्वाइट बैक, इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन, पृ० २३१-३२

के आदेश के रूप में ही समझा जा सकता है, क्योंकि ये नैतिक रूप से एक पूर्ण, पवित्र और शुभ तथा उसी प्राण एक सर्वशक्तिमान इच्छा-शक्ति द्वारा प्राप्त नियम हैं, इनके साथ सामंजस्य स्थापित करके ही हम उस सर्वोच्च श्रेय को प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं जिसे प्राप्त करना हमारा नैतिक कर्तव्य है[1]।

कान्ट व्यावहारिक रूप से कर्म के क्षेत्र में यह दिग्दर्शन करते हैं कि 'सर्वोच्च श्रेयस' ही हमारी कृत्य-बुद्धि की मांग है, यही हमारी नैतिकता है। नैतिकता के लिए ही 'आत्मा की अमरता', इच्छा-स्वातंत्र्य तथा ईश्वर का अस्तित्व इन मान्यताओं को हमें अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता[2] है। हम यह भी कह सकते हैं कि ये प्रत्यय नैतिकता की पूर्वमान्यताएं हैं, इनके अभाव में नैतिकता का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। इस प्रकार 'सर्वोच्च श्रेयस' की सत्ता को नैतिक नियम के लिए कान्ट श्रद्धा में पहले से ही स्वीकार कर लेते हैं और व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की तीन मान्यताओं पर पहुंच जाते हैं और फलस्वरूप वे यह दिखाते हैं कि जिस समस्या को शुद्ध-बुद्धि मीमांसा में हमारी चिन्तनशील तर्क-बुद्धि ने अनुत्तरित छोड़ दिया था, व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा में हमारी कृत्य तर्क-बुद्धि ने इन्हीं मान्यताओं पर विश्वास करके उसका समाधान करने में समर्थ हो जाती[3] है।

इन मान्यताओं के अवलोकन के पश्चात् अब इनसे सम्बन्धित इन तथ्यों पर ध्यान देना अनिवार्य हो जाता है कि क्या अमरता, स्वातंत्र्य और ईश्वर-सम्बन्धी ये मान्यताएं हमारे ज्ञान को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करती हैं, क्या ये मान्यताएं हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के लिए अन्तर्यामी, मूलभूत तथा संघटक तत्व हैं? इनके उत्तर में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि ये नैतिक पूर्वमान्यताएं हैं। ये हमारी नैतिक चेतना में पूर्व-स्वीकृत होने के अर्थ में ही अन्तःमूल एवं संघटक तत्व हैं। कान्ट कहते हैं कि हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि

---

१. क्लीमेंट सी०जे० वैब, कान्ट्स फ़िलासफ़ी ऑफ़ रैलिजन, पृ० ६७
२. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३८५
३. लैविस ह्वाइट बैक, कान्ट, क्रिटीक् ऑफ़् प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२६

जिस वस्तु की आकांक्षा करती है वह एक नियम है और इसी नियम के अनुसार यह अपने आप को तथा उन वस्तु-विषयों को निर्धारित करती है जिनकी उपलब्धि इसे करना होता है,इसलिए व्यावहारिक तर्क-बुद्धि का प्रत्यय एक अन्तर्यामी एवं संघटक सिद्धान्त कहलाता है। कृत्य तर्क-बुद्धि ज्ञान के क्षेत्र में अपरोक्ष रूप से स्वतंत्र विषयी,वाक्य्य ज्ञात अथवा एक अन्तिम सत्ता को ग्रहण नहीं करती है,यह अपने वस्तु-विषयों के तथाकथित वस्तुगत अस्तित्व से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं होती है और न तो इसे यह जानने की ही जिज्ञासा व रुचि रहती है कि आत्मा अमर है या नहीं,ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं। यह उन सत्ताओं को स्वीकार करती है और ऐसा करने में यह कर्म का एक सिद्धान्त प्रदान करती है। कहने का अर्थ यह है कि सब कुछ,जो यह कृत्य बुद्धि कर सकती है वह केवल इसका यही परिलक्षित कराना है कि ये मान्यताएं सर्वोच्च श्रेय की व्यावहारिक धारणा से आबद्ध होती हैं[१]। शुद्ध रूप से नैतिक नियम के आधार पर ही उनकी सत्ता स्थापित की जा सकती है। हम यह नहीं समझ सकते हैं कि स्वातंत्र्य,अमरता आदि किस प्रकार सम्भव हैं क्योंकि एक स्वतंत्र कारण का यथार्थ ज्ञान हमारे अनुभव के स्वरूप से प्राप्त करना असम्भव है। वह वस्तु जिसे हम कह सकते हैं कि 'है' वह एक स्वतंत्र कारण ही है,क्योंकि इसके अभाव में किसी भी नैतिक नियम का अस्तित्व असम्भव है। स्वतंत्र कारण भी अमरता और ईश्वर के अस्तित्व द्वारा ही संभव एवं सत्य है। इस प्रकार यद्यपि इन वस्तु-विषयों का ज्ञान असम्भव है, परन्तु फिर भी उनकी सत्ता में हमारे विवेकशील विश्वास या श्रद्धा को कोई कुतर्क नष्ट नहीं कर सकता है,क्योंकि ये हमारे नैतिक जीवन के लिए अत्यन्त अनिवार्य हैं तथा हमारे मानवीय व्यवहार को सम्भव बनाने वाली मान्यताएं हैं।

इस प्रकार सिद्ध है कि ये सत्ताएं हमारी तर्क-बुद्धि के ही प्रत्यय हैं;हम इन्हें ज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते,परन्तु वस्तु-विषयों के विचारों के रूप में अवश्य ही ग्रहण कर सकते हैं। हमारी सैद्धान्तिक बुद्धि ने भी विचारों के रूप में इनका सम्भव होना सिद्ध किया है। इन प्रत्ययों के संवादित वस्तु-

---

१. लैविस ह्वाइट बैक,कान्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ०२३६

विषयों के अस्तित्व पर हम सन्देह नहीं कर सकते । ये प्रत्यय नैतिक नियम की उपलब्धि की अनिवार्यता के अर्थ में वस्तुगत सत्ता रखते हैं या यह कहिए कि ये उन वस्तुओं की अनिवार्य शर्तें हैं जिन्हें हमारा वस्तु-विषय बनाने के लिए एक अकाट्य व्यावहारिक नियम हमें आदेश देता है,इसी नैतिक अर्थ में ही वे वस्तुगत सत्ता से भी युक्त होते हैं[1] । इतना होते हुए भी हम इनके सम्बन्ध में कोई सैद्धान्तिक संश्लेषणात्मक निर्णय नहीं बना सकते और न तो हम सैद्धान्तिक रूप से यह निर्धारित ही कर सकते हैं कि उनका प्रयोग किस प्रकार होता है ,क्योंकि हम यह नहीं जान सकते कि अपने संवादित वस्तु-विषयों से वे किस प्रकार सम्बन्धित हैं । इस प्रकार हमारे लिए यह कहना सर्वथा असंभव-सा हो जाता है कि हम उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का ज्ञान रखते हैं । हमारी तर्क-बुद्धि उनका सैद्धान्तिक प्रयोग नहीं निर्मित कर सकती,कहने का तात्पर्य है कि वे प्रत्यय चिन्तनात्मक तर्क-बुद्धि द्वारा नहीं जाने जा सकते हैं । परन्तु इस प्रकार जब ये नैतिक प्रत्यय हमारे ज्ञान का विस्तार करने में समर्थ नहीं होते तब हमारे तर्क-बुद्धि का क्षेत्र स्वयं ही श्रद्धा या विश्वास के अर्थ में विस्तृत हो जाता है और वह अवश्यम्भावी रूप से अपने व्यावहारिक प्रयोग में यह विश्वास करने लगती है कि उन प्रत्ययों के अनुरूप वास्तविक वस्तु-विषयों का अस्तित्व है ।

यह सत्य है कि जो प्रत्यय सिद्धान्त के क्षेत्र में वस्तु-विषयों से रहित एवं अनुभवातीत होते हैं वे ही अभ्यास के क्षेत्र में अन्तर्यामी एवं संघटक तत्व हो जाते हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि ये प्रत्यय व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के अनिवार्य वस्तु-विषय के रूप में सर्वोच्च श्रेय की उपलब्धि की सम्भावना के आधार को अपने में समाहित करते हैं[2] । इसके विपरीत हमारी सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि उन प्रत्ययों में केवल ऐसे नियामक सिद्धान्तों को ही प्राप्त करती है जो

---

१. जॉन वाट्सन,दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० ३८७

२. लेविस ह्वाइट बेक,इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० २३७-३८

अनुभव के अन्तर्गत बुद्धि के अभ्यास को आगे बढ़ाने में अपना मूल्य रखते हैं। हमारी सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि अपने आनुभविक परिधि में केवल उन्हीं वस्तु-विषयों के बारे में विचार करती है जिन पर वह अपनी बुद्धि-कोटियों का प्रयोग कर सकती है,इससे परे नहीं। अनुभव से परे एक वस्तु-विषय के अस्तित्व के रूप में किसी निष्कर्ष को प्राप्त करने के लिए तर्क-बुद्धि के नियामक सिद्धान्त अपना कुछ भी मूल्य नहीं रखते हैं। परन्तु फिर भी जब हम एक बार नैतिक चेतना के द्वारा इस नवीन निश्चय के स्वामित्व में सम्मिविष्ट किये जाते हैं, यानी जब हम अपने नैतिक बोध से युक्त होकर उपरोक्त निष्कर्ष के प्राप्ति की असम्भावना पर दृष्टिपात करते हैं,तब हमारी तर्क-बुद्धि एक चिन्तनशील शक्ति के रूप में केवल अपने व्यावहारिक प्रयोग को उचित रूप से सुरक्षित रखने के लिए अनुभव की सीमा से परे प्रवेश करती है और अमरता,स्वातंत्र्य तथा ईश्वर के प्रत्ययों के साथ निषेधात्मक विधि से कार्य करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है,अर्थात् उनका विस्तार नहीं करती वरन् उन पर प्रकाश डालती है, उन्हें स्पष्ट करती है। इस प्रकार तर्क-बुद्धि अन्धविश्वास के स्रोत के रूप में ऐसे मानवतारोप तथा मतान्धता का बहिष्कार करती है जिनमें से क्रमशः प्रथम हमारे ज्ञान को एक असत्य अनुभव के द्वारा विस्तृत करने का दावा करता है तथा दूसरा अनुभव के द्वारा तो नहीं,परन्तु अतीन्द्रिय अन्तःअनुभूति के द्वारा ज्ञान के उसी प्रकार की अपवृद्धि का दावा करता है। हम भलीभांति जानते हैं कि मानवतारोप एवं मतांधता दोनों ही समान रूप से हमारी तर्क-बुद्धि के व्यावहारिक प्रयोग के लिए बाधाएं हैं इसलिए दोनों के बहिष्करण को एक व्यावहारिक दृष्टिकोण से हमारे ज्ञान के एक विस्तार के रूप में समझा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि ईश्वर,स्वातंत्र्य तथा अमरता इत्यादि ये प्रत्यय मानव प्रकृति द्वारा उद्भूत विधेयों द्वारा निर्धारित होते हैं परन्तु इससे यह कदापि नहीं सिद्ध होता है कि हम एक ऐसे मानवतारोप में फंस गये हैं जो तर्क-बुद्धि के विशुद्ध प्रत्ययों को इन्द्रियनिष्ठ रूप प्रदान करता है अथवा हमारा प्रत्यय अतीन्द्रिय विषयों का दावा करने में स्वयं अतीन्द्रिय हो जाता है। अन्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मानव स्वभाव से गृहीत विधेयों के इन प्रत्ययों के उपयोग के प्रति यह आक्षेप प्रामाणिक एवं तर्कसंगत नहीं है कि उनको

इन्द्रियनिष्ठ बना करके हम स्वयं ही मानवतारोप को प्रकट करते हैं या हम उस आरोप को स्पष्ट करते हैं जिसमें अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों के ज्ञान का अतार्किक एवं असंगत रूप से दावा किया जाता है क्योंकि जिन विधेयों का हम प्रयोग करते हैं,वे इच्छा-शक्ति तथा बुद्धि के प्रत्यय हैं,हम उन्हें एक दूसरे से केवल इस प्रकार सम्बन्धित समझते हैं कि नैतिक नियम का प्रत्यय उनकी माँग करता है । कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिक संकल्प-शक्ति की प्रकृति द्वारा इनकी माँग की जाती है और इस प्रकार ये न तो केवल इन्द्रियनिष्ठ होते हैं और न तो अतीन्द्रिय होते हैं,अतः हम इनका एक,विशुद्ध व्यावहारिक उपयोग ही करते हैं । इन विधेयों को उन विधेयों से पृथक् कर दिया जाता है जिन्हें हम अपनी इच्छा-शक्ति और बुद्धि की शक्तियों से जानते हैं और जो इनसे मनोवैज्ञानिक रूप से सम्बन्धित होते हैं[1] । अभिप्राय यह है कि आन्तरिक निरीक्षण द्वारा प्राप्त मनोवैज्ञानिक लक्षणों को एक अन्तिम सत्ता की इच्छा-शक्ति और बुद्धि के साथ असंगत रूप में त्याग दिया जाता है । उदाहरणस्वरूप हम ईश्वर के प्रत्यय को एक ऐसी विमर्शात्मक बुद्धि नहीं प्रदान करते जो धारणाओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करने वाली होती है,इसलिए यह सर्वोच्च सत्ता ईश्वर अपरोक्ष रूप में केवल धारणाओं से ही सम्बन्ध रखती है,प्रत्यक्षों से नहीं । मानवीय प्रत्यक्ष कालसापेक्ष होते हुए एक दूसरे का आनुक्रमिक रूप में अनुगमन करते हैं,परन्तु ईश्वर के प्रत्यक्षों को हम आनुक्रमिक रूप में नहीं समझ सकते,क्योंकि वे कालसापेक्ष नहीं होते हैं । उनकी इच्छा-शक्ति अपनी सन्तुष्टि के लिए उन वस्तु-विषयों पर आधारित नहीं होती जिनको और उन्हें निर्दिष्ट किया जाता है अर्थात् ईश्वर पराश्रित नहीं है । यहाँ स्पष्ट होता है कि सब निर्णयों को पृथक् कर देने से केवल वे ही विधेय शेष रह जाते हैं जो विशुद्ध बुद्धि से सम्बन्धित होकर नैतिक नियम की संभावना के लिए अत्यन्त अनिवार्य होते हैं । अपने नैतिक कार्य को समझने के लिए हम ईश्वर के एक अवबोध की अपेक्षा रखते हैं[2] ।

---

१. लेविस व्हाइट बैक,इमैनुअल कान्ट,दि क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० २३६
२. वही,पृ० २३६

यहाँ इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि यह बोध हमें ईश्वर के विध्यात्मक ज्ञान की माँग करने का अधिकार देता है। हम अपने व्यवहार के सम्बन्ध में ही ईश्वर का ज्ञान रखते हैं। ईश्वर को हम एक अनुभूतिधाम बुद्धि तथा वस्तु-विषयों की ओर निर्देशित एक ऐसी इच्छा-शक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं जिनके अस्तित्व पर उनकी संतुष्टि नहीं आश्रित होती है। परन्तु इस प्रकार से हमारे ज्ञान की सीमा में ईश्वर का स्वरूप नहीं प्रस्तुत होता है, हमारे नैतिक नियम की उपलब्धि के लिए यह पर्याप्त है। कान्ट का कथन है कि अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों के ज्ञान का कोई भी विस्तार सम्पन्न नहीं होता है। परन्तु जहाँ हमारी तर्क-बुद्धि ने हमें यह स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया है कि इस प्रकार के वस्तु-विषय हैं, वहाँ हमारी सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि का तथा सामान्य रूप में अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों से सम्बन्धित हमारे ज्ञान का एक विस्तार संभव हो जाता है, यद्यपि हम उनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं जान पाते हैं। इस क्षेत्र के सापेक्ष विस्तार के लिए तर्क-बुद्धि पूर्णतया अपने विशुद्ध व्यावहारिक शक्ति की ऋणी है। हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा ही ईश्वर, आत्मा आदि प्रत्ययों को हमारे नैतिक नियम के अभ्यास में सीमित कर देती है और हम देखते हैं कि इस प्रकार विशुद्ध चिन्तनशील तर्क-बुद्धि के संवादी विस्तार के अभाव में भी विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि के एक विस्तार की सम्भावना हो जाती है।

प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि दार्शनिक कान्ट ने आत्मा, स्वातंत्र्य तथा ईश्वर के अस्तित्व को अकारण ही नहीं स्वीकार किया है। शुद्ध-बुद्धि मीमांसा में हमें ज्ञात होता है कि शुद्ध-बुद्धि के ऐसे प्रागनुभवी सिद्धान्त हैं जो दृश्य जगत के मूल आधार हैं तथा दृश्य जगत किसी भी प्रकार उनकी अवहेलना नहीं कर सकता है। परन्तु इसके ये नियम हमारे ज्ञान के क्षेत्र तक ही सीमित रह जाते हैं, ईश्वर, जगत आदि परमार्थ वस्तुओं की व्याख्या नहीं कर पाते हैं और फलस्वरूप हमारी बुद्धि विप्रतिषेधों में फंस जाती है। कान्ट ने आगे चल कर व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा में श्रद्धा एवं विश्वास को स्थान दे कर उपरोक्त विप्रतिषेधों का समाधान करने का प्रयास

किया है[१] । कान्ट के विचारानुसार हमारी व्यावहारिक कृत्य बुद्धि भी प्रागनुभवी नियमों का स्रोत है,इसके इन नियमों का सम्बन्ध हमारे नैतिक व्यावहारिक जीवन से होता है । एक कर्ता अपनी कृत्य-बुद्धि के आदेशों की अवहेलना नहीं कर सकता है । हमारी व्यावहारिक बुद्धि `सर्वोच्च श्रेय` की मांग करती है । यही कारण है कि हमें सर्वोच्च श्रेय की सम्भाव्यता तथा उन शर्तों को पूर्वमान्यता देनी पड़ती है जिनके अभाव में `सर्वोच्च श्रेय` ही असम्भव हो जाता है । ये शर्तें अमरता,स्वातंत्र्य तथा ईश्वर के प्रत्यय ही हैं । ये प्रत्यय स्वयं-सिद्ध हैं इसलिए ये सिद्ध होने की अपेक्षा नहीं रखते । ये नैतिकता की अनिवार्य पूर्वमान्यताएं हैं तथा स्वतंत्र एवं निरपेक्ष हैं । इन्हीं के अन्तर्गत हम सर्वोच्च श्रेय को उन्नत करते हैं तथा सम्भाव्य पाते हैं ।

`सर्वोच्च श्रेयस` को उन्नत करने का कर्तव्य स्वयं में ही अकाट्य रूप से निश्चित एवं स्वतंत्र होता है क्योंकि हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के कर्तव्य-बोधक आदेश प्रत्येक दशा में पालनीय होते हैं । नैतिक कर्ता पर नैतिक नियम का प्रभाव ही उसे सर्वोच्च श्रेय की खोज करने तथा उन्नत करने के लिए प्रवृत्त करता है । ये नैतिक नियम ही हमें यह पूर्व-विश्वास दिलाते हैं कि नि:श्रेयस सम्भव है ,क्योंकि यदि ऐसा न होगा तो `सर्वोच्च श्रेय` को पाने का हमारा सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रयत्न मात्र कल्पना में समाप्त हो जायेगा और परिणाम के रूप में हम एक वस्तु-विषय-विहीन शून्य प्रत्यय को प्राप्त करेंगे । अत: नैतिक नियम ऐसे निरपेक्ष अनिवार्य आदेश हैं जिनका पालन अवश्यंभावी है । यदि वस्तुत: ऐसा ही है तो कोई भी सदाचारी व्यक्ति कह सकता है कि `मैं इच्छा करता हूं एक ईश्वर अवश्य हो;मैं इच्छा करता हूं कि इस प्राकृतिक जगत में होते हुए भी मैं इससे इतर अस्तित्व वाला विवेकशील प्राणी रहूं, अन्त में मैं इच्छा करता हूं कि मेरी अवधि अनन्त हो तथा मुझसे मेरा यह विश्वास अपहृत न किया जाय ।` चूंकि मेरे पास इसे समर्पित करने व सीमित करने का कोई अधिकार नहीं है,अत: ये ही सम्पूर्ण विषय हैं जिसमें अभिरुचि

---

१. जान वाट्सन,दि फिलासफी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० ३८६

अपरिहार्य एवं असंदिग्ध रूप से मेरे निर्णय को निर्धारित करती है।"[1] इस प्रकार नि:सन्देह ही नैतिक सिद्धान्त हमारे लिए आत्मगत विषय हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप से ये हमारे अनिवार्य लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित है कि उपरोक्त युक्ति के विरुद्ध 'वाइहैनमान' एक आक्षेप करते हैं। वे मानव प्रकृति की मूल आवश्यकता के रूप में वस्तुगत यथार्थता को स्वीकार करते हैं और अपने आरोप को इस दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं कि उपरोक्त विश्वास एक ऐसे व्यक्ति के प्रेम के समान है जो अपनी ऐसी प्रेमिका के सौन्दर्य की धारणा से अपने आपको विमोहित करता है जिसका अस्तित्व अन्य कहीं नहीं है वरन् उसकी अपनी कल्पना में है।[2] वे वाइहैनमान के आक्षेप को एक विशेष स्थिति में स्वीकार तो करते हैं किन्तु उसका खण्डन भी करते हैं। पुन: अपने दृष्टिकोण को स्थापित करते हुए काण्ट कहते हैं कि वाइहैनमान का आक्षेप एक ऐसे संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होता है जो सिद्धान्तत: नैतिक परिस्थिति से भिन्न है। उनका आक्षेप केवल उसी सीमा तक सत्य एवं उचित है जहाँतक मानव के प्राकृतिक रुझान का प्रश्न है।[3] हम जानते हैं कि प्राकृतिक रुझान वैयक्तिक है। मानव जो कुछ भी सोचता है और जिस बात की धारणा एवं कल्पना से युक्त होता है, वह अनिवार्य रूप से सम्भव तथा वस्तुगत है। किन्तु नैतिक परिस्थिति का सम्बन्ध वैयक्तिक रुझान से नहीं है, उसका सम्बन्ध तो उस स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से है जिसका नैतिक विधान से तादात्म्य है अर्थात् जिसकी प्रामाणिकता वैयक्तिक न होकर सार्वभौमिक है। इसीलिए काण्ट कहते भी हैं कि हमारी शुद्ध बुद्धि ही हमारी कृत-बुद्धि है जो मानव को एक सार्वभौमिक नियम प्रदान करती है, यही हमारी नैतिकता है।[4]

---

१. लैविस ह्वाइट बैक, इमैनुवल काण्ट, दि क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ०२४५

२. वही, पृ० २४५

३. वही

४. " Pure reason is practical of itself alone, and it gives (to man) a universal law, which we call the moral law. "

-- वही, पृ० १४२

यदि वस्तुत: ऐसा ही है तो इस प्रकार की प्रागनुभवी पूर्वकल्पना में इस प्रकार का व्याघात कदापि नहीं प्राप्त होगा, जिसके कारण नैतिक धारणा का विषय वस्तुगत न होकर हो कर मात्र वैयक्तिक सत्ता का द्योतक हो।

व्यावहारिक शुद्ध बुद्धि मीमांसा में काण्ट स्पष्ट करते हैं कि नि:श्रेयस ही हमारा नैतिक आदर्श है, जिसमें सद्गुण तथा आनन्दता दोनों ही समाहित है। यही हमारी नैतिकता है तथा इसके लिए हमें संकल्प-स्वातंत्र्य, अमरता तथा ईश्वर की धारणा को पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है, अन्यथा नैतिकता व 'सर्वोच्च श्रेयस' का कोई अर्थ ही नहीं होगा। इस प्रकार काण्ट कृत्य-बुद्धि-मीमांसा में द्वन्द्वन्याय द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि सर्वोच्च श्रेयस की प्राप्ति ही हमारा नैतिक प्रयत्न है जो उपरोक्त तीन पूर्वमान्यताओं पर ही आधारित है और वह इस कृत्य-बुद्धि अथवा नैतिकता के क्षेत्र में श्रद्धा को स्थान देते हैं।[१]

--

---

१. लेविस व्हाइट बैक, इमैनुअल काण्ट, क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० ४६ तथा, जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ काण्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ४६

" The form in which we obtain assurance of the existence of these objects Kant M calls faith (Glaube), in the technical sense of rational belief."

अध्याय—५

कान्ट के दर्शन में द्वन्द्वन्याय : निर्णय मीमांसा

कान्ट के सम्पूर्ण दर्शन-व्यवस्था का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान, कर्म और भावना--उन्हीं प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति वह क्रमश: अपनी शुद्धबुद्धि मीमांसा, व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा तथा निर्णय मीमांसा में करते हैं। अपनी व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा में कान्ट कहते हैं, "इन दो वस्तुओं के विषयों में मैं जितना अधिक निरन्तर चिन्तन व मनन करता हूँ वे उतना ही अधिक मेरे मन में एक नित्य, नवीन श्रद्धा, भय व विस्मय भर देती हैं, उनमें से एक तो तारों से युक्त अनन्त प्रकाशित आकाश है और दूसरा मेरी अन्तरात्मा में निहित नैतिक नियम।"[1] नैतिक नियम का स्पष्टीकरण वे अपनी द्वितीय मीमांसा में करते हैं तथा सौन्दर्य-बोध एवं स्वातंत्र्य व प्रयोजन बोध को निर्णय मीमांसा में स्पष्ट करते हैं। कान्ट कहते हैं कि इनको हमें केवल कल्पना ही नहीं होती, उनका बोध हमें अनन्त व प्रकाशित आकाश की विशालता व प्रकृति द्वारा ही होता है।

शुद्ध बुद्धि तथा व्यावहारिक बुद्धि मीमांसाओं में कान्ट ने द्वन्द्वन्याय का जहाँ प्रयोग दर्शाया है, उसे देखने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि कान्ट की दर्शन-पद्धति प्राकृतिक जगत और नैतिक या कर्तव्य-जगत में द्वैत उपस्थित कर देती है। उनके अनुसार नैतिक कर्ता होने के कारण मनुष्य स्वतंत्र है, स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से युक्त है, जबकि अपने प्राकृतिक शरीर के कारण वह अखण्ड नियमों से बंधा हुआ भी है। इस प्रकार वे जड़ जगत और आध्यात्मिक जगत में कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित करते हैं।[3] किन्तु यहाँ उतना कहना ही पर्याप्त नहीं है। आगे बढ़ कर कान्ट कहते हैं कि इस प्राकृतिक जगत में सिर्फ यान्त्रिक नियम ही नहीं दृष्टिगत होते बल्कि सौन्दर्य, विशालता एवं उदारता भी दृष्टिगत होती है और ऐसा मालूम

---

१. नैमिस स्माइट बैक, इमैनुअल कान्ट: क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २५८
२. वही।
३. बोसांके, ए हिस्ट्री ऑफ एस्थेटिक्स, पृ० २६०

होता है कि सौन्दर्य,मात्र यान्त्रिक शक्तियों की उत्पत्ति नहीं है,हमारी सौन्दर्यानुभूति सप्रयोजनता का अनुभव भी करती है । इनके अनुसार सौन्दर्य की अनुभूति में प्राकृतिक जगत की यान्त्रिकता तथा नैतिक जगत की स्वतंत्रता दोनों का ही सामंजस्य एवं सम्मिलन होता है । कान्ट का कहना है कि सुन्दरम् की अनुभूति में यान्त्रिकता और स्वतंत्रता का विरोध अपनी तीव्रता का परित्याग कर देते हैं और फलस्वरूप दोनों में सामंजस्य हो जाता है[1] । इस प्रकार कान्ट अपनी निर्णय मीमांसा में भावबोध अर्थात् सौन्दर्यानुभूति तथा सप्रयोजनता का ही विवेचन करते हैं और इनके अनुसार भाव-बोध के आधार तत्त्व भी प्रागनुभवी हैं परन्तु वे इच्छा के प्रागनुभवी तत्त्वों की भांति केवल नियामक हैं, रचनात्मक नहीं ।

कान्ट कहते हैं कि सौन्दर्यपरक रुचि-सम्बन्धी निर्णयों की वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ धारणाएं ही निर्णय-सम्बन्धी विप्रतिषेध उत्पन्न कर देती हैं, जिसे सौन्दर्यपरक निर्णय के द्वन्द्वन्याय के नाम से उद्धृत किया जा सकता है[2] । जब गोचर जगत पर निर्धारित एवं चिन्तनात्मक ये दो निर्णय भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्णय देते हैं और जब निर्धारित निर्णय-सम्बन्धी सिद्धान्तों की भांति अनुचिन्तनात्मक निर्णय के सिद्धान्तों को भी रचनात्मक मान लिया जाता है तब भी आवश्यक रूप से एक द्वन्द्वन्यायात्मक विप्रतिषेध उत्पन्न हो जाता है,इसे कान्ट प्रयोजनमूलक निर्णय का द्वन्द्वन्याय कहते हैं[3] । अत: निर्णय मीमांसा में कान्ट द्वन्द्वन्याय को दो विभागों में दिखाते हैं और उसका समाधान करते हैं,जिनका हम अलग-अलग विवेचन करेंगे :--

---

१. वर्डमान,बोसांके,दि हिस्ट्री ऑफ फ़िलासॅफ़ी,भाग २ पृ० ४१४
२. एच०डब्ल्यू० कैसिरर,ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट,पृ०२८८
३. जेम्स क्रीड मैरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट,पार्ट-२,पृ० ३६

(१) सौन्दर्यपरक निर्णय का द्वन्द्वन्याय
(२) प्रयोजनमूलक निर्णय का द्वन्द्वन्याय

(१)

सौन्दर्यपरक निर्णय का द्वन्द्वन्याय

एक द्वन्द्वन्यायात्मक विरोध के लिए किसी भी वस्तु से सम्बन्धित दो ऐसे तर्कवाक्यों का होना अनिवार्य होता है जो प्रतीयमानतः या वस्तुतः एक दूसरे के व्याघाती हों और साथ ही दोनों तर्कवाक्य समान रूप से एक निरपेक्ष सार्वभौमिक अनिवार्यता तथा प्रामाणिकता का दावा करते हों । द्वन्द्वन्याय को उत्पन्न करने वाला निर्णय बुद्धिसंगत व तर्कसंगत होता है और वह आत्मनिष्ठ नहीं होता वरन् वस्तुनिष्ठ एवं सर्वव्यापी होता है क्योंकि इसी स्थिति में यह प्रत्येक निर्णीत विषय के लिए सार्वभौमिकता का दावा करता है और असंगत तर्क वाक्यों से युक्त होकर द्वन्द्वन्याय को प्रस्तुत कर सकता है । इस प्रकार निर्णय शक्ति के द्वन्द्वन्यायात्मक निर्णयों को एक प्रागनुभवी सार्वभौमिक प्रामाणिकता की अपेक्षा होती है ।

उपरोक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यदि सौन्दर्यपरक रुचि के निर्णय आत्मनिष्ठ हैं और वे सार्वभौमिकता का दावा नहीं करते तो वे परस्पर विरोधी तर्कवाक्यों से युक्त न होंगे और फलस्वरूप वे किसी भी द्वन्द्वन्याय को उत्पन्न नहीं कर सकेंगे । कान्ट कहते हैं कि हमारे बोध के सुखद व असुखद अर्थात् सौन्दर्यपरक निर्णयों की पारस्परिक विरूपता में किसी भी प्रकार का द्वन्द्वन्यायात्मक तत्त्व नहीं है[१] । प्रत्येक व्यक्ति एक विवेकसंगत सौन्दर्य-सम्बन्धी निर्णय में अपनी व्यक्तिगत रुचि को व्यक्त करता है,उसके ये

---

१. "...There is nothing dialectical in the irreconcilability of aesthetic judgements of sense(upon the agreeable and disagreeable)."

-- जेम्स क्रीड मैरीडिथ-कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट,पृ० २०४ ।

निणर्य किसी वस्तु से सम्बन्धित नहीं होते वरन् व्यक्ति की आत्मनिष्ठ अनुभूतियों से सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों की आत्मनिष्ठ अनुभूतियां विभिन्न विरोधी व असंगत निर्णयों को उत्पन्न करती हैं किन्तु फिर भी उनके निर्णयों की असंगतता किसी प्रकार के द्वन्द्वन्याय को उत्पन्न नहीं करती क्योंकि उन्हें एक सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत नहीं प्रस्तावित किया जाता है।

एक विषयी द्वारा अनुभूत सुखद और दुःखद अनुभूतियों से सम्बन्धित निणर्य ही सौन्दर्यपरक निणर्य होते हैं। हमारी सुखद व दुःखद भावनाओं में जो कुछ भी विषयी के प्रति प्रस्तुत होता है,वह आनुभविक होता है इसलिए वह प्रति-रूपण सौन्दर्यपरक निणर्य होता है। सौन्दर्यात्मक निणर्य की मीमांसा में कान्ट अभिरुचि तथा सौन्दर्य के बोध को स्पष्ट करते हैं क्योंकि व्यक्ति की सौन्दर्यात्मक अनुभूतियाँ व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर रहती हैं। कान्ट का कथन है कि सौन्दर्यपरक अनुभूति के चित्रण में जिस वस्तु पर निणर्य दिया जाता है और जो सुखद भाव का आधार होती है उसे सौन्दर्ययुक्त कहा जाता है तथा सुख के भाव द्वारा हमारी निणर्य देने की जो शक्ति है वही अभिरुचि कहलाती है।[१] हम जानते हैं कि किसी भी निणर्य की आत्मनिष्ठता का तात्पर्य किसी बात की प्रामाणिकता का व्यक्तिगत रूप से दावा करना है और वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य किसी बात की सार्वभौमिक प्रामाणिकता का दावा करना है।

---

१. "In the case of an object whose form...,in the mere reflection upon it(without reference to any concept to be obtained of it),is judged as the ground of a pleasure in the representation of such an object,this pleasure is judged as bound up with the representation necessarily ... for every judging being in general.The object is then called beautiful;and the faculty of judging by means of such a pleasure...is called taste."

--पी०डी० व्हिटनै और डैविड एफ० बावर्स, दि हैरिटेज ऑफ़ कान्ट, पृष्ठ- १४४

निर्णय-सम्बन्धी इस प्रकार के दो पक्षों को ध्यान में रखते हुए रुचि के निर्णय की मीमांसा करने पर हमें ज्ञात होता है कि रुचि के प्रत्येक निर्णय भी उपरोक्त वर्णित दोनों तत्त्वों से युक्त होते हैं। परिणामस्वरूप हम इन रुचि-सम्बन्धी निर्णयों के विषय में ये दो धारणाएं प्राप्त करते हैं--(१) रुचि के निर्णय विशुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ होते हैं और (२) ये निर्णय विशुद्ध रूप से वस्तुनिष्ठ हैं। ये दोनों धारणाएं परस्पर विरोधी सिद्धान्तों पर आधारित हैं तथा एक दूसरे की व्याघाती हैं। यहां स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि इस प्रकार के विरोध की प्रतीति सामान्य रूप से रुचि के निर्णयों की सम्भाव्यता के अधिष्ठान के प्रश्न को उपस्थित कर देती है और इनकी सम्भाव्यता को ही संशयपूर्ण बना देती है। अत: हम यहीं कह सकते हैं कि किसी भी सार्वभौमिक प्रामाणिकता या वस्तुगत सिद्धान्त के प्रति व्यक्ति का दावा ही द्वन्द्वन्याय में रुचि के निर्णय को समाविष्ट करता है। कान्ट कहते हैं कि स्वयं रुचि के द्वन्द्वन्याय के रूप में कुछ भी नहीं है। रुचि के निर्णयों की सम्भाव्यता के अधिष्ठान के विषय में विरोधी धारणाएं स्वयं अपने आपको प्रस्तुत करती हैं,इसीलिए रुचि मीमांसा का एक द्वन्द्वन्याय उत्पन्न होता है और यह कहा जा सकता है कि रुचि से सम्बन्धित द्वन्द्वन्याय की जो भी धारणा हमारे समक्ष है वह रुचि के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में रुचि की मीमांसा का द्वन्द्वन्याय[१] है। सौन्दर्यपरक रुचि के निर्णय

१."The only concept left to us of a dialectic affecting taste is one of a dilectic of a Critique of taste (not of taste itself) in respect of its principles: for, on the question of the ground of the possibility of judgements of taste in general, mutually conflicting concepts naturally and unavoidably make their appearance."

--जेम्स क्रीड मेरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ् जजमेंट,पृ० २०४

दो विरोधी लक्षणों से युक्त होते हैं--प्रथम तो वे निर्णय रुचि के विषय होते हैं और द्वितीय वे सार्वभौमिकता का दावा करते हैं। इसी विरोध को कान्ट सौन्दर्यपरक निर्णय का द्वन्द्वन्याय कहते हैं[१]। इस प्रकार रुचि की अतीन्द्रिय मीमांसा एक ऐसे विप्रतिषेध को अपने में समाहित करती है जिसे सौन्दर्यपरक निर्णय का द्वन्द्वन्याय कहा जा सकता है।

हम देखते हैं कि इस प्रकार रुचि-सम्बन्धी अनिवार्य एवं अपरिहार्य विप्रतिषेध उत्पन्न हो जाता है। इसकी अपरिहार्यता एवं अनिवार्यता को दर्शाते हुए यह कहा जा सकता है कि रुचि से सम्बन्धित निर्णयों के विषय में दो सामान्य युक्तियां निर्मित हो सकती हैं :-- एक तो यह कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत रुचि होती है अर्थात् रुचि-सम्बन्धी निर्णय के आधार आत्मनिष्ठ होते हैं। मनुष्य अपनी सुखप्रद व दु:खप्रद अनुभूतियों के विषय मेंअपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार निर्णय देता है। ये निर्णय भिन्न-भिन्न होते हुए भी पारस्परिक भिन्नता के विषय नहीं बनते। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक व्यक्ति का रुचि-सम्बन्धी निर्णय इस बात का कोई दावा नहीं करता और न इस अधिकार की मांग ही करता है कि उसे दूसरों की अनिवार्य सहमति प्राप्त हो[२]। अत: प्रथम सामान्योक्ति द्वारा स्पष्ट होता है कि रुचि

---

१. " Judgements of aesthetic taste seem to have two conflicting features: their being matters of taste and their claim to universality ....Kant expresses this conflict as an antinomy-- the 'antinomy of aesthetic judgement.' "

--एस० कॉरनर,कान्ट,पृ० १९६

२. जैम्स क्रीड मैरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ० २०५,तथा एच०डब्ल्यू० कैसिरर,ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ०२८८-८६,और कर्नार्ड --कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ० ४२.

सम्बन्धी निर्णय का आधार केवल आत्मगत है । दूसरा सामान्य कथन यह है कि रुचि के विषय में किसी प्रकार के तर्क का स्थान नहीं है । यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सार्वभौमिक प्रामाणिकता के दावे की स्वीकृति देते हुए तथा रुचि-सम्बन्धी निर्णय में दूसरों की अनिवार्य सहमति की मान्यता देते हुए इस कथन का प्रतिपादन किया गया है । सामान्य अर्थ में यह कहा जा सकता है कि दूसरा कथन पहले कथन का ही परिणाम है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत रुचि से युक्त होता है अत: इसके विषय में तर्क करने की कोई आवश्यकता नहीं है । परन्तु वास्तव में दूसरे कथन का अर्थ यह है कि रुचि के निर्णय किस प्रकार के हैं; इसे प्रमाणों व तर्कों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है । इनके विषय में यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि इन निर्णयों का अधिष्ठान आत्मगत नहीं है वरन् वस्तुगत है । ये निश्चित एवं अनिश्चित दोनों प्रकार की धारणाओं पर आधारित हो सकते हैं । कान्ट कहते हैं कि यह भी संभव हो सकता है कि सौन्दर्यपरक रुचि-सम्बन्धी निर्णय प्रत्येक व्यक्ति के सहमति की आकांक्षा करता हो । कहने का तात्पर्य है कि किसी वस्तु के सौंदर्य के प्रति निर्णय देने में व्यक्ति अपनी स्वतंत्र व्यक्तिगत रुचि न रखता हो वरन् उसके लिए उसे प्रत्येक व्यक्ति के सहमति की आवश्यकता हो[१] । अत: रुचि-सम्बन्धी निर्णय के विषय में विवाद उठाया जा सकता है,तर्क नहीं किया जा सकता है ।

कान्ट का कथन है कि वास्तव में उपरोक्त दोनों तर्क-कथनों के बीच एक मध्यवर्ती कथन लुप्त है,जो दूसरे तर्क-कथन में अन्तर्निहित है । यह लुप्त कथन इस प्रकार का है--'रुचि के विषय में विवाद उठाया जा सकता है[२] ।' यह लुप्त

१, "The judgement of taste requires the agreement of every one;and he who describes anything as beautiful claims that every one ought to give his approval to the object in question and also describe it as beautiful,"

--बर्नार्ड,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ० ८२

२, वही० जेम्स क्रीड मेरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ० २०५

कथन स्पष्ट रूप से पहले कथन का विरोध करता है जिसमें रुचि को विशुद्ध रूप से आत्मगत समझा गया है । यहां यह लक्षित होता है कि कान्ट तर्क और विवाद में भेद करते हैं तथा वे कहते हैं कि तर्क और विवाद वहीं तक समान हैं जहां तक उन दोनों में निर्णयों के विरोध को समाप्त करके हम सहमति उत्पन्न करना चाहते हैं, किन्तु भेद यह है कि तर्क करने में हम प्रमाणों की भांति निश्चित धारणाओं के अनुसार सहमति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और ऐसा करने में हम यह स्वीकार कर लेते हैं निर्णय वस्तुगत धारणाओं पर आधारित हैं[१]। यहां यह सिद्ध होता है कि रुचि के निर्णय केवल व्यक्तिगत प्रामाणिकता की अपेक्षा नहीं करते । दूसरों के द्वारा इसका विरोध भी हो सकता है इसलिए ये निर्णय वस्तुगत व सार्वभौमिक प्रामाणिकता से भी युक्त हो सकते हैं और फलस्वरूप निम्न प्रकार के रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध उत्पन्न हो जाते हैं जिसे कान्ट 'सौन्दर्यपरक निर्णय का द्वन्द्वन्याय' कहते हैं :--

पक्ष -- रुचि के निर्णय धारणाओं पर आधारित नहीं होते क्योंकि आधारित होने पर इनके विषय में तर्क करना संभव होता अर्थात् इसके सत्यों को प्रमाणों द्वारा निर्धारित किया जा सकता । अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि धारणाओं पर आधारित होने से ये निर्णय विरोध का विप्रदर्शन करते और फलतः प्रमाणों को स्वीकार करते[२]।

प्रतिपक्ष -- रुचि के निर्णय धारणाओं पर आधारित होते हैं अन्यथा रुचि के निर्णयों की विभिन्नता के बावजूद भी इनके विषय में विवाद करना संभव न होता अर्थात् इस बात का दावा करना भी सम्भव न होता कि इस प्रकार के निर्णयों में अन्य व्यक्तियों की अनिवार्य सहमति होती[३]।

---

१. एच० डब्लू० कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट, पृ० २८६
२. जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट, पृ० २०६
३. एच०डब्लू० कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट, पृ० २६०

रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का समुचित समाधान

रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध के पक्ष और प्रतिपक्ष का निरीक्षण करने से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि रुचि-सम्बन्धी निर्णयों में वस्तु विषय का उल्लेख जिस धारणा या संप्रत्यय के लिए किया जाता है,उसे सौन्दर्यपरक निर्णय के दो सिद्धान्त वाक्यों में दो विभिन्न अर्थों में अपनाया गया है।कान्ट के अनुसार हमारी अतीन्द्रियात्मक सर्वेक्ष० निर्णय शक्ति के लिए ये दो अर्थ अनिवार्य भी हैं किन्तु यही द्वयर्थकता ही एक दूसरे से संभ्रमित होकर एक स्वाभाविक तथा अपरिहार्य भ्रम उत्पन्न कर देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार एक निर्णय को दूसरे के साथ मिला कर भ्रमित कर देने से जो भ्रम उत्पन्न होता है वह असंदिग्ध रूप से प्राकृतिक है। कान्ट का कथन है कि जब तक सौन्दर्यपरक निर्णयों से सम्बन्धित दो सिद्धान्त वाक्यों की द्वयर्थकता को हम नहीं समझेंगे तब तक हम उन सिद्धान्तों के बीच के विरोध का समाधान नहीं कर सकेंगे ,जो सिद्धान्त प्रत्येक रुचि-सम्बन्धी निर्णय के मूल में निहित है।

सौन्दर्यपरक निर्णय के द्वन्द्वन्याय के अन्तर्गत रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का पक्ष यह व्यक्त करता है कि रुचि के निर्णय आत्मगत हैं यानी इसके निर्णय किसी धारणा पर आधारित नहीं है और प्रतिपक्ष यह व्यक्त करता है कि रुचि के निर्णय वस्तुगत हैं यानी इसके निर्णय निश्चित धारणाओं पर आधारित होते हैं। इस स्थिति में यहां यह प्रश्न उठता है कि--क्या वस्तुत: रुचि के निर्णय किसी भी धारणा का निर्देश नहीं करते हैं या किसी निश्चित धारणा का निर्देश करते हैं ? उत्तरस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि यदि रुचि के निर्णय को वैध घोषित होना है और अपने सार्वभौमिक प्रामाणिकता के दावे को अर्थ प्रदान करना है तो इसे अवश्य ही किसी धारणा का उल्लेख करना चाहिए। अतीन्द्रिय सिद्धान्तों के अनुसार हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि रुचि-सम्बन्धी निर्णय किसी विशेष प्रकार की धारणा का उल्लेख करते हैं क्योंकि यदि ऐसा न होता तो यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए किसी प्रकार की अनिवार्य प्रामाणिकता का दावा नहीं कर सकते थे,यद्यपि ये धारणाएं आत्यन्तिक रूप से बुद्धि की धारणाओं से पृथक हैं।[१]

---

१. जेम्स क्रीड मेरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ् जजमेंट,पृ० २०६

किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि एक धारणा द्वारा ही इन रुचि-सम्बन्धी निर्णयों को प्रामाणिकता प्राप्त हो सकती है। हमारे समक्ष दो प्रकार की धारणाएं प्रस्तुत हो सकती हैं -- (१) निर्धारित एवं निर्धार्य धारणाएं, ये बुद्धि की धारणाएं हैं। ये हमें ज्ञान प्रदान करती हैं। इन धारणाओं का कार्य ही प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्धारित करना है और उन्हीं प्रत्यक्षों द्वारा निर्धारित होना है। कान्ट कहते हैं कि ये धारणाएं इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के विषयों द्वारा निर्धारित होने की सामर्थ्य रखती हैं और प्रत्यक्ष भी इन धारणाओं के अनुरूप होने में समर्थ हैं।[1] सभी आनुभविक तथा प्रागनुभवी धारणाएं निर्धारित एवं निर्धार्य धारणाएं होती हैं। (२) अनिर्धारित एवं अनिर्धार्य धारणाएं, ये प्रज्ञा की अतीन्द्रिय धारणाएं हैं। इन्हें अगोचर की अतीन्द्रिय तर्कबुद्धिपरक् धारणाएं कहते हैं। ये सम्पूर्ण गोचर प्रत्यक्षों के आधार पर स्थित होती हैं इसलिए ये सैद्धान्तिक रूप से निर्धारित नहीं हो सकतीं।[2] शुद्धबुद्धि-मीमांसा में भी स्पष्ट होता है कि मानव मस्तिष्क बुद्धिकोटियों से भिन्न इस प्रकार की धारणाओं का सृजन करता है जिन्हें 'प्रत्यय' कहा गया है।[3] ये प्रत्यय हमारी तर्कबुद्धि प्रज्ञा की अनिवार्य उत्पत्ति हैं। चूंकि तर्कबुद्धि प्रज्ञा अपने सहज स्वभाव से ही अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों की धारणाओं को निर्मित करती हैं इसलिए ये प्रत्यय हमें ज्ञान नहीं प्रदान कर सकते।[4]

---

१. एच०डब्लू० कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट, पृ०२९२, तथा जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट, पृ० २०६-७

२. वही पृ० २०७

३. एन०के० स्मिथ, इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ३०६

४. एच०डब्लू० कैसिरर, कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट, पृ० २९२

अब हमें यह विचार करना है कि रुचि से सम्बन्धित निर्णय जिस धारणा के लिए निर्दिष्ट होते हैं, वह किस प्रकार की धारणा है और हम उनके विप्रतिषेध का समाधान करने के लिए किस धारणा को मान्यता दे सकते हैं ?

हम जानते हैं कि हमारी बुद्धि सदैव अपनी ज्ञानात्मक सीमा से आगे नहीं जा सकती है, इसलिए यह हमें परमार्थ व वस्तु-स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकती । यदि यह वस्तु-स्वलक्षणों का निरपेक्ष ज्ञान प्रदान करती तो यह वस्तुओं के वास्तव यथार्थ स्वरूप से अवगत होकर उनका यथार्थ एवं निश्चित निरूपण प्रस्तुत करती और तब हमें एक ऐसा निर्णय न प्राप्त होता जो अनिर्धारित व अनिधार्य धारणा का उल्लेख करता है । क्योंकि अतीन्द्रिय अनिर्धारित अधिष्ठान के रूप में किसी भी वस्तु का अभाव होने से हमारे सभी निर्णय निर्धारित एवं सुनिश्चित धारणाओं पर आधारित होते हैं । अत: हमारे ज्ञान की सीमा निर्धारित है, हम वस्तु-स्वलक्षणों को नहीं जान सकते हैं । यही कारण है कि हम आत्मनिष्ठ निर्णय बनाते हैं और अपने वस्तु-विषयों के निरूपण को अतीन्द्रिय तत्व की अनिधार्य तथा अनिर्धारित धारणा पर आश्रित करते हैं । कान्ट के अनुसार रुचि के निर्णयों की प्रकृति को अतीन्द्रियात्मकता सिद्धान्त के द्वारा ही अभिव्यक्त किया जा सकता है । रुचि मस्तिष्क की एक विशेष शक्ति का स्वरूप है, जो धारणाओं से स्वतंत्र विभिन्न तत्वों से युक्त होती है किन्तु यह अतीन्द्रिय तत्व की अनिश्चित धारणा का उल्लेख भी करती है । रुचि विषयक निर्णय इन्द्रियसंवेद्य वस्तु-विषयों पर प्रयुक्त होते हैं, किन्तु बुद्धि के लिए वस्तुविषयों की एकत्रता धारणा का निश्चय करना इनका लक्ष्य नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत रुचि होती है । एक वस्तु किसी व्यक्ति के लिए संतोषप्रद हो सकती है, हर्ष का कारण हो सकती है, किन्तु दूसरे के लिए नहीं भी हो सकती अत: रुचि-विषयक निर्णय की क्षमता व्यक्तिगत निर्णयकर्ता के लिए सीमित होती है । ये निर्णय संज्ञानात्मक नहीं होते हैं । रुचि-सम्बन्धी निर्णय अनुभूतिवाम रूप से किसी व्यक्ति की सुखानुभूति से सम्बन्धित होता है, इसलिए एक व्यक्तिगत प्रत्यय के रूप में यह केवल वैयक्तिक

निर्णय है । इसी व्यक्तिगत अर्थ में ही इसकी वैधता भी सीमित होती है । किन्तु हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि रुचि-विषयक निर्णय के अन्तर्गत एक वस्तु-विषय और एक विषयी के सम्बन्ध का प्रत्यय समाहित है और इसी सम्बन्ध पर ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस प्रकार के निर्णयों का एक अनिवार्य विस्तार आधारित होता है । इसे स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि एक रुचि-सम्बन्धी निर्णय में वस्तु-विषय तथा विषयी के सम्बन्ध का निरूपण निहित होता है । इसलिए हम ऐसे निर्णयों को विस्तृत करते हैं और यह विश्वास करते हैं कि एक रुचि का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है तथा यह सब की सहमति की अपेक्षा करता है । इस प्रकार के सभी निर्णय एक विशेष धारणा को पूर्वमान्यता देते हैं । परन्तु यह विशेष धारणा प्रत्ययीकरण द्वारा निर्धारित नहीं होती है इसलिए इसके द्वारा किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है और न ही रुचि-विषयक निर्णय के किसी प्रमाण को ही इस पर आधारित किया जा सकता है । यह धारणा प्रतिगोचर का एक विशुद्ध प्रत्यय है अर्थात् अतीन्द्रिय तत्त्व की विशुद्ध तर्कबुद्धिपरक धारणा है,जो सम्पूर्ण इन्द्रिय-संवेद्य गोचरमय वस्तुओं तथा निर्णायक विषयी के आधार पर स्थित होती है । इसी दृष्टिकोण द्वारा रुचि के निर्णय-सम्बन्धी सार्वभौमिक प्रामाणिकता के दावे का प्रतिपादन भी संभव होता है ।

हम जानते हैं कि हमारी सौन्दर्यानुभूति की वृत्ति प्रकृति में अज्ञात भाव से सप्रयोजनता का अनुभव करती है । सौन्दर्यमूलक निर्णय अनुचिन्तनात्मक होते हैं,और हमारी यह अनुचिन्तनात्मक शक्ति ही हमें वह सामर्थ्य प्रदान करती है, जिसके द्वारा हम प्रकृति के प्रत्यय को समझते हैं । इतना ही नहीं,ये निर्णय स्वयं

---

१. जैम्स क्रीड मैरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ जजमेन्ट,पृ० २०७,तथा जॉन वाट्सन,दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० ५०६

अपने आपको हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाते हैं। कान्ट का कहना है कि प्रकृति के एक आत्मनिष्ठ सप्रयोजनता का सिद्धान्त ही हमारे रुचि-सम्बन्धी निर्णयों का मूलाधार[1] है। यह आत्मनिष्ठ सप्रयोजनता का सिद्धान्त अतीन्द्रिय सिद्धान्त है क्योंकि यह प्रकृति और इसके यान्त्रिक नियमों से सम्बन्धित हैं। हमारी बुद्धि इस तथ्य की व्याख्या करने में असमर्थ है कि प्रकृति में सुन्दर वस्तुएं क्यों हैं। किसी वस्तु की सुन्दरता का निर्णय करने में भी हम अपनी बुद्धि से परे चले जाते हैं और उसमें हम उन गुणों को भी आरोपित कर देते हैं जिन्हें हमारी बुद्धि नहीं जानसकती है। इस प्रकार सौन्दर्यमूलक निर्णय को प्रस्तुत करने में हम वस्तु-विषय से सम्बन्धित अपने निरूपण को विस्तृत करने का प्रयास करते हैं और अपने इस प्रयत्न में हमें प्रकृति के एक अतीन्द्रिय सिद्धान्त का उल्लेख करना पड़ता है।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि विशाल गतिशील प्रकृति का अवलोकन करते हुए मानव मस्तिष्क अपने ही अन्दर प्रकृति का अतिक्रमण करने की क्षमता से युक्त हो जाता है और सौन्दर्यपरक अनुचिंतनात्मक निर्णय प्रस्तुत करने में अतीन्द्रिय वस्तुओं की अनिर्धारित एवं अनिवार्य धारणा का विवरण देता है। हमारे रुचि-सम्बन्धी निर्णय ज्ञानात्मक नहीं हैं वरन् आत्मगत है। यह ऐसा निर्णय है जो वस्तु-विषय के प्रत्ययात्मक निरूपण पर प्रयुक्त होता है परन्तु यह अपने में इस तथ्य को समाहित करता है कि प्रत्येक मनुष्य सौन्दर्यपरक अनुचिन्तन के सिद्धान्त का प्रयोग कर सकता है और उसका प्रयोग उसे करना चाहिए। इसलिए अतीन्द्रिय तत्त्व की अनिर्धारित धारणा के लिए इसका उल्लेख किया जाता है। परन्तु रुचि के निर्णय अगोचर की धारणा को निर्धारित नहीं कर सकते हैं।

हमारे विवरण से स्पष्ट होता है कि ~~इस कथन से~~ सम्पूर्ण रुचि-विषयक निर्णय एक धारणा पर आधारित हैं। यह अपेक्षित धारणा हमारी निर्णय-शक्ति के लिए प्रकृति की आत्मगत सप्रयोजनता व अनुकूलता के

१, एच० डब्लू० कैसिरर, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेन्ट, पृ० २६४

सामान्य अधिष्ठान की धारणा[1] है। परन्तु हमें यह नहीं विस्मृत करना चाहिए कि यह एक अनिर्धार्य धारणा है इसलिए ज्ञान के लिए यह निरर्थक है। इसके द्वारा वस्तु-विषय से सम्बन्धित किसी प्रकार का ज्ञान न तो प्राप्त ही किया जा सकता है और न तो सिद्ध ही किया जा सकता है। रुचि के निर्णयों को निर्धारित करने वाला अधिष्ठान मानवता के अतीन्द्रिय आधार की धारणा में स्थित होता है इसलिए रुचि का निर्णय एक ही समय में प्रत्येक व्यक्ति के लिए वैध होता है और एक विशिष्ट निर्णय के रूप में सीधे-सीधे प्रत्यक्षीकरण के साथ कार्यरत होता है। रुचि के निर्णय को एक अनिर्धारित अतीन्द्रिय धारणा पर आधारित करने से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि-- रुचि-सम्बन्धी दो व्याघाती तर्ककथन एक दूसरे से संगति रखते हैं। उनमें कोई विरोध नहीं रह जाता और इस प्रकार उनका व्याघात समाप्त हो जाता है,यद्यपि ऐसा करने में हमें अपने ज्ञान की सीमा से परे जाना पड़ता है। कान्ट कहते हैं कि दोनों तर्कवाक्यों की धारणाओं की संभाव्यता की व्याख्या करने में हम अपनी ज्ञान-शक्ति का अतिक्रमण कर जाते हैं।[2]

शुद्ध बुद्धि मीमांसा में ही हम इस तथ्य से अवगत हो चुके हैं कि--अनुभवातीत भ्रम हमारी तर्क बुद्धि प्रज्ञा की ही उपज है,इसलिए मानव-बुद्धि के लिए विप्रतिषेध[3] अपरिहार्य एवं स्वाभाविक है। इस आत्यन्तिक अनिवार्य विप्रतिषेध का समाधान करने के लिए हमारे पास एकमात्र उपाय यही है कि हम अतीन्द्रिय दर्शन के मौलिक अतीन्द्रिय सिद्धान्तों का प्रयोग करें। हमारे सौन्दर्यपरक रुचि-सम्बन्धी निर्णय शुद्ध बुद्धि की धारणा नहीं हैं,सौन्दर्य की अनुभूति में प्रकृति जगत की यान्त्रिकता तथा नैतिक कर्तव्य-जगत की स्वतंत्रता का सामंजस्य एवं सम्मिलन होता है। अतः इसकी धारणा अतीन्द्रिय है जिसका क्षेत्र मानव तर्क बुद्धि के लिए अज्ञेय है,अगम्य है। यह अतीन्द्रिय क्षेत्र एक ओर तो गोचर के रूप में ग्राह्य यान्त्रिक प्रकृति के अतीन्द्रिय अधिष्ठान को अपने में समाविष्ट करता है तथा

---

१. जेम्स क्रीड मेरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ् जजमेंट,पृ० २०७

२. वही,पृ० २०८

३. एन०के० स्मिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ् प्योर रीज़न,पृ० ३०० तथा ३२७

दूसरी ओर कर्त्तव्य-जगत की स्वतन्त्रता के रूप में ग्राह्य मानवता के अतीन्द्रिय अधिष्ठान को । अत: रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध के समाधान के लिए हम यह स्वीकार करते हैं कि रुचि के निर्णय एक ऐसी धारणा पर आधारित हैं जिसका अधिष्ठान अतीन्द्रिय है और समाधान स्वरूप रुचि-विषयक विप्रतिषेध के पक्ष और प्रतिपक्ष हमें निम्न प्रकार से संशोधित रूप में प्राप्त होते हैं :-

पक्ष -- रुचि-विषयक निर्णय एक निर्धारित धारणा पर नहीं आधारित होते ।

प्रतिपक्ष--रुचि-विषयक निर्णय एक अनिर्धारित धारणा पर आधारित होते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि ये गोचर के अतीन्द्रिय अधिष्ठान की धारणा पर आधारित होते हैं।[१]

इस पक्ष-प्रतिपक्ष के दो तर्कवाक्यों के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं रह जाता है । अब पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि रुचि के आत्मगत सिद्धान्त द्वारा ही हम निर्णय-शक्ति के उस रहस्य को जान सकते हैं जिसका स्रोत हमारे अन्तर्गत अतीन्द्रिय तत्त्व के अनिर्धारित प्रत्यय हैं । यदि यह कहा जाय कि एक व्यक्ति विशिष्ट निर्णय को पूर्वमान्यता देते हुए रुचि का निर्णय सुख पर आधारित होता है अथवा सार्वभौमिक प्रामाणिकता का दावा करते हुए यह निर्णय पूर्णता के सिद्धान्त पर आधारित होता है तो एक ऐसा विप्रतिषेध उत्पन्न हो जाता है जिसका पूर्ण रूप से समाधान नहीं हो सकता है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रुचि के निर्णय को चाहे विशुद्ध आत्मगत रूप में समझा जाय, चाहे विशुद्ध वस्तुगत रूप में, इसका परिणाम एक ऐसे विप्रतिषेध के रूप में ही प्राप्त होता है जिसका समाधान असम्भव हो जाता है । अत: शुद्ध बुद्धि तथा व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा की भांति इस प्रसंग में भी रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध हमें इन्द्रियगोचर जगत से परे दृष्टिपात करने के लिए बाध्य कर देते हैं तथा इसी अतीन्द्रिय जगत में हमारी समस्त प्रागनुभवी

---

१. जेम्स क्रीड मेरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेन्ट, पृ० २०८

शक्तियों की एकता के विषय की खोज करने के लिए भी हमें बाध्य कर देते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई साधन व उपाय नहीं है जिसके द्वारा तर्कबुद्धि प्रज्ञा का स्वयं अपने साथ ही सामंजस्य हो सके। अतः सौन्दर्य-मूलक द्वन्द्वन्याय में रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का समाधान भी अतीन्द्रिय दर्शन के मूलगत सिद्धान्तों का प्रयोग करके ही सम्भव हो सकता है और हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि रुचि के निर्णय एक अनिर्धारित धारणा पर आधारित होते हैं, जो गोचर के अतीन्द्रिय अधिष्ठान की धारणा है। कान्ट का कथन है कि रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का प्रदर्शन एवं समाधान केवल अनुचिन्तनात्मक सौन्दर्यपरक निर्णय के एक सिद्धान्त के रूप में रुचि की एक धारणा पर आश्रित है।[1]

सौन्दर्यमूलक निर्णय के द्वन्द्वन्याय की विस्तृत एवं समुचित विवेचना करते हुए कान्ट इसकी समीक्षा भी करते हैं। यहां उनके तत्सम्बन्धी समीक्षात्मक विचार को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा।

कान्ट के अनुसार अतीन्द्रिय दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का प्रयोग करके ही हम रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का समाधान कर सकते हैं। इस अतीन्द्रिय दर्शन में ही हम प्रज्ञा के प्रत्यय को बुद्धि की धारणाओं से अलग करते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि शुद्ध बुद्धि प्रज्ञा के प्रत्यय तथा बुद्धि की धारणाओं में क्या भेद है, क्या हमसे सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या द्वारा इनकी विभिन्नता को समझा जा सकता है? परन्तु यहां यह ध्यान रखना है कि इस प्रसंग में हमारा प्रमुख विषय पारिभाषिक शब्दों का विवेचन नहीं है।

कान्ट के दर्शन में बुद्धि कोटियां बुद्धि की धारणाएं हैं, जो नियमों से कल्पना का समन्वय प्रस्तुत करती हैं। बुद्धि-कोटियों का उचित कार्य प्रत्ययों को संश्लेषित करने के प्रयत्न में कल्पना को एक संश्लेषणात्मक एकता का नियम प्रदान करना है।[2]

---

1. " Kant declares that his "Exhibition" and solution of the antinomy rests upon the proper concept of taste as a(principle of) merely reflective aesthetic judgement."

--एच०डब्लू० कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट, पृष्ठ ३६६।

२. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ११२

बुद्धि की धारणा एक ऐसे अनुभव पर आधारित की जा सकती है जो पर्याप्त रूप से इसके अनुरूप होता है,इसीलिए इसे अन्तर्वर्ती धारणा भी कहते हैं[1]।ये ही वे साँचे हैं जिनमें ढल कर,देश काल के द्वार से आये हुए संवेदन ज्ञान का रूप धारण करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये धारणाएं अनुभवजन्य ज्ञान की अनिवार्य शर्तें हैं;अनुभव की संवेदनजन्य सामग्री इन्हीं से अनुरूपित होती है।अत: कहा जा सकता है कि बुद्धि की धारणाएं ही सम्पूर्ण प्रागनुभवी संश्लेषणात्मक निर्णयों की अनिवार्य शर्तें हैं;इनके अभाव में किसी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं हो सकता है[2]। ये अपने समन्वय करने की शक्ति के द्वारा असम्बद्ध तथा अव्यवस्थित इन्द्रिय संवेदनों को व्यवस्थित एवं सार्थक रूप प्रदान करती हैं। बुद्धि की सभी धारणाएं प्रमाण्य होती हैं क्योंकि इनसे अनुरूपित वस्तु-विषय प्रत्यक्षानुभव में प्रदत्त होने की क्षमता रखते हैं। देश काल के अन्तर्गत ही ये गोचर को निर्धारित करती हैं,किन्तु वास्तविक अर्थ में ये शून्य हैं,ये विचार के आकारमात्र हैं;केवल इनके द्वारा किसी निर्धारित वस्तु-विषय का ज्ञान नहीं हो सकता है। ये धारणाएं विभिन्न इन्द्रिय-संवेदनों को विशुद्ध ज्ञाता की शक्ति द्वारा अर्थात् समाकलन की एकता द्वारा संश्लेषित एवं सुसम्बद्ध करती हैं[3]। ये आकृतिबद्ध धारणाओं की भाँति कल्पना के संश्लेषण को निर्दिष्ट करती हैं,आकार-योजना के अभाव में ये किसी वस्तु-विषय को प्रत्युपस्थापित नहीं कर सकतीं। अत: बुद्धि की इन धारणाओं को इन्द्रिय प्रदत्त प्रत्यक्षों या संवेदनों से ही वस्तुगत अर्थ प्राप्त होता है[4]।

---

१. महफी और बर्नार्ड,कान्ट्स प्रोलिगोमिना टू एनी फ्यूचर मैटाफिजिक्स,पृ०१०

२. जॉन वाट्सन,दि फिलासफी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड,पृ० १६७

३. एन०के०स्मिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न,पृ० १६५

४. वही,पृ० १८७

अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रत्यय विशेष आत्मगत या वस्तुगत सिद्धान्त के अनुसार वस्तु-विषयों के प्रति निर्दिष्ट प्रतिरूपण हैं, किन्तु ये हमें वस्तु-विषयों का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकते हैं। कान्ट का कहना है कि प्रत्यय तर्कबुद्धि प्रज्ञा की अनिवार्य धारणाएं हैं जिसके अनुरूप कोई भी वस्तु-विषय०व० इन्द्रियानुभव में नहीं प्राप्त होते हैं। ये धारणाएं अतीन्द्रिय प्रत्यय कहलाती हैं तथा अनुभव द्वारा प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञान को प्रतिबन्धों की निरपेक्ष समग्रता के द्वारा निर्धारित रूप में ग्रहण करती हैं। तर्कबुद्धि की धारणाओं के सम्बन्ध में ये दो विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं--(१) या तो ये एक प्रत्यय के लिए ऐसे आत्मनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार निर्दिष्ट होती हैं जो संज्ञानात्मक शक्तियों अर्थात् कल्पना और बुद्धि का समन्वय करता है। इस अर्थ में ये सौन्दर्यात्मक प्रत्यय कहलाते हैं। (२) अथवा ये वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार एक धारणा के लिए निर्दिष्ट होती हैं। ये बुद्धि की धारणा से भिन्न हैं तथा ये हमें वस्तु-विषय का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकती हैं। इस अर्थ में तर्क बुद्धि के प्रत्यय विवेकशील प्रत्यय कहलाते हैं, और इनमें सम्मिलित धारणा अतीन्द्रिय धारणा कहलाती हैं। बुद्धि की धारणाओं की भांति ये अतीन्द्रिय प्रत्यय अनुभव में नहीं प्राप्त हो सकते हैं। सौन्दर्यात्मक प्रत्यय कल्पना के प्रतिरूप हैं जिसमें इन्द्रियजनित प्रत्यक्षों की प्रचुर राशि समाहित होती है। किसी कलापूर्ण कृति के सौन्दर्य का निर्णय देने में हम इस तथ्य से अवगत होते हैं कि हमारे इस निर्णय में हमारी कल्पना और बुद्धि की शक्तियों का सामंजस्य होता है, किन्तु हम यह नहीं अभिव्यक्त कर सकते हैं कि यह सामंजस्य किस प्रकार उत्पन्न होता है, क्योंकि हमारे कल्पनात्मक प्रत्यय प्रत्यक्ष बुद्धि की नियत धारणाओं द्वारा निर्धारित होते हैं। कान्ट के विचारानुसार एक सौन्दर्यमूलक

---

१. एम०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पृ० ३१८-१६

२. महफी और बर्नार्ड, कान्ट्स प्रोलिगोमिना टू एनी फ्यूचर मैटाफिज़िक्स, पृ०८१

"All pure cognitions of the understanding have this feature, that their concepts present themselves in experience and their principles can be confirmed by it; whereas the transcendent cognitions of reason can not, either as ideas, appear in experience, or as propositions ever be confirmed or refuted by it."

प्रत्यय एक संज्ञान नहीं बन सकता है। यह कल्पना का एक ऐसा प्रत्यक्ष है जिसके लिए कोई[1] भी पर्याप्त धारणा नहीं प्राप्त होती है। इन प्रत्ययों से विवेकशील प्रत्ययों की सादृश्यता दिखाते हुए यह कहा जा सकता है कि--विवेकशील प्रत्यय एक ऐसी अतीन्द्रिय धारणा से युक्त होता है जिसका हमें कोई पर्याप्त प्रत्यक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है, इसलिए सौन्दर्यमूलक प्रत्ययों की भांति इनका भी संज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है। इनकी विभिन्नता को दिखाते हुए यह स्पष्ट होता है कि सौन्दर्यात्मक प्रत्ययों में निहित हमारी अनुभूतियों को हमारी विचार-शक्ति समुचित रूप से व्यक्त करने में असमर्थ होती है। कहने का अर्थ है कि हमारे सौन्दर्यपरक निर्णय जिन अनुभूतियों से युक्त होते हैं, विचार शक्ति उनको उसी रूप में नहीं अभिव्यक्त कर पाती है। कल्पना-शक्ति जो कुछ दर्शाती है हम विचारशील प्रत्यय में उसकी अपेक्षा अधिक चिन्तन कर सकते हैं।

जब हम एक विचारशील प्रत्यय पर विचार करते हैं तब हमारी तर्कबुद्धि प्रज्ञा कल्पना और बुद्धि को एक दूसरे से पृथक करके हमें एक अतीन्द्रिय जगत पर विचार करने के लिए बाध्य कर देती है। तर्कबुद्धि के अनुभवातीत प्रत्यय अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों की निश्चित धारणाएं हैं और तर्कबुद्धि का सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ है तथा अप्रतिबद्ध का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त बुद्धिकोटियों को प्रत्ययों पर प्रयुक्त होने से तथा कल्पना में उनको संश्लेषित होने से मुक्त करता है। ये अनुभवातीत प्रत्यय निश्चित हैं जैसे--आत्मा, ईश्वर तथा विश्वकारण के प्रत्यय। एक अतीन्द्रिय जगत का उच्च सिद्धान्त ही यह स्पष्ट करता है कि हमारी तर्क बुद्धि की धारणा की अपेक्षा कल्पना-शक्ति अधिक चिन्तन करती है, अधिक समझती है, किन्तु ये दोनों शक्तियां एक दूसरे के साथ एक संगति एवं सामंजस्य में रहती हैं। इस प्रकार हम इनके सामंजस्य की संभाव्यता का वस्तुगत ज्ञान नहीं

---

१. जेम्स क्रीड मेरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ् जजमेंट, पृ० २१०

रख सकते हैं । कल्पना-शक्ति और बुद्धि का सम्बन्ध एक अनियत सम्बन्ध है, जिसे इन्द्रिय-जगत और नियत धारणाओं से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि बोधगम्य नहीं बना सकती है, केवल अतीन्द्रिय जगत का सिद्धान्त ही इसे व्यक्त कर सकता है । सौन्दर्यात्मक प्रत्यय बुद्धि और कल्पना को एक दूसरे से पृथक नहीं करते हैं । अतीन्द्रिय सिद्धान्त इस बात की व्याख्या नहीं कर सकते कि हम सौन्दर्यात्मक बोध की शक्ति क्यों रखते हैं, जिसमें प्रकृति की यान्त्रिकता तथा नैतिक स्वातंत्र्य का सामंजस्य होता है ।

सौन्दर्यात्मक प्रत्यय को कल्पना का एक अविमर्शणीय प्रतिरूप तथा विवेकशील प्रत्यय को तर्कबुद्धि की एक अप्रामाणिक धारणा कहा जा सकता है । प्रथम प्रत्यय आत्मनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न होता है और दूसरा प्रत्यय वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न माना जाता है । ये दोनों प्रकार के प्रत्यय स्वेच्छा से उत्पन्न नहीं होते हैं । मानव, कल्पना-शक्ति, बुद्धि एवं तर्कबुद्धि प्रज्ञा से युक्त होता है इसलिए उसका मस्तिष्क विवेकशील या वस्तुगत तथा सौन्दर्यात्मक यानी आत्मगत प्रत्ययों का स्वाभाविक एवं अपरिहार्य रूप से विचार करता है । तर्कशास्त्र में सिद्ध किये जाने की क्षमता और अक्षमता के अनुसार ही तर्कवाक्य प्रमाण्य और अप्रमाण्य कहलाते हैं । प्रमाण्य धारणाओं से काण्ट उन धारणाओं को समझते हैं जिनका प्रत्यक्ष में उल्लेख किया जा सकता है । सभी विवेकशील धारणाएं अप्रामाण्य होती हैं । गोचर के अतीन्द्रिय अधिष्ठान की बौद्धिक धारणाएं जैसे--वस्तु-स्वलक्षण तथा नैतिक स्वातन्त्र्य की धारणाएं सब अप्रामाण्य होती हैं । काण्ट का विचार है कि जिस प्रकार विवेकशील प्रत्यय के बारे में कल्पना प्रत्यक्षों से युक्त होकर भी प्रदत्त धारणाओं को नहीं प्राप्त कर सकती है उसी प्रकार सौन्दर्यात्मक प्रत्यय के बारे में बुद्धि अपनी धारणाओं के माध्यम से उस अन्तर्प्रत्यक्ष की समग्रता को नहीं प्राप्त कर सकती जिसे कल्पना एक प्रदत्त प्रतिरूप से संयुक्त करती है[१] । इसी अर्थ में

---

१. जेम्स क्रीड मेरेडिथ, काण्ट्स क्रिटीक् ऑफ् जजमेंट, पृ० २१२

सौन्दर्यात्मक तथा विवेकशील दोनों ही प्रत्यय अविमर्शणीय हैं। कान्ट के अनुसार सौन्दर्यमूलक तथा विचारशील दोनों प्रकार के प्रत्ययों का सिद्धान्त तर्कबुद्धि प्रज्ञा में ही है।सौन्दर्यपरक निर्णय का द्वन्द्वन्याय तर्कबुद्धि प्रज्ञा की उत्पत्ति है और यह प्रज्ञा ही निर्णय-शक्ति के सिद्धान्तों पर ही निर्णय देती है,यद्यपि कान्ट के इस तथ्य को समझना हमारे लिए कठिन हो जाता है। कान्ट सौन्दर्यात्मक प्रत्ययों की एक शक्ति के रूप में 'प्रतिभा' शब्द की व्याख्या करते हैं और इस प्रकार वह स्पष्ट करते हैं कि मानवीय प्रतिभा की उत्पत्ति में विषयी के प्रकृति की ही प्रधानता क्यों रहती है,एक चेतन उद्देश्य क्यों नहीं रहता जो सौन्दर्यपूर्ण वस्तुओं के उत्पादन के रूप में कला को नियम प्रदान करता है। जो कुछ भी सौन्दर्ययुक्त ललित कलाओं के प्रतिमानों के रूप में कार्यरत होता है,वह विषयी की सम्पूर्ण शक्तियों का अतीन्द्रिय अधिष्ठान है,जिसे बुद्धि की धारणाओं और नियमों से नहीं प्राप्त किया जा सकता है। हमारा प्रमुख उद्देश्य इस अतीन्द्रिय अधिष्ठान के सम्बन्ध में सभी ज्ञानात्मक शक्तियों के पूर्ण सामंजस्य को उत्पन्न करना है। कान्ट के मतानुसार यह उद्देश्य हमें प्रकृति के एक बोधगम्य अंश द्वारा प्रदत्त है। ललित कलाओं में सौन्दर्यात्मक और अप्रतिबद्ध प्रयोजनीयता के लिए अतीन्द्रिय अधिष्ठान एक ऐसे आत्मनिष्ठ मापदण्ड के रूप में कार्यशील होता है जो प्रत्येक व्यक्ति को आनन्दित करने का दावा करता है,अतः कला को एक वस्तुनिष्ठ नहीं वरन् सार्वभौमिक रूप से एक प्रामाणिक अनुभव निरपेक्ष आत्मनिष्ठ सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए[२]। ऐसा मालूम होता है कि कान्ट ललित कलाओं की उत्पत्ति इसी पर दिये निर्णयों से ही मानते हैं,इनके अनुसार हमारे सौन्दर्यपरक

---

१. जेम्स क्रीड मैरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमैन्ट,पृ० २१२

२. वही,पृ० २१२-१३

निर्णय स्वतंत्र होते हैं । सम्पूर्ण संज्ञानात्मक शक्तियों के सामंजस्य से सम्बन्धित एक तर्कसंगत विषय को हम सौन्दर्यात्मक प्रत्ययों को उत्पन्न करने वाली अतीन्द्रिय शक्ति में ही प्राप्त कर सकते हैं ।

कान्ट की समीक्षात्मक विवेचना से हमें ज्ञात होता है कि वह इस विचार-दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं कि प्रागनुभवी सिद्धान्तों पर निर्णय देते हुए तर्क-बुद्धि प्रज्ञा द्वारा ही सम्पूर्ण सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक बुद्धि के विप्रतिषेधों की उत्पत्ति होती है । इसलिए वह सौन्दर्यमूलक रुचि-सम्बन्धी निर्णय के विप्रतिषेध को भी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा पर आरोपित कर देते हैं । यहां यही हमारा विचारणीय विषय बन जाता है । हम पहले ही इस तथ्य से अवगत हो चुके हैं कि कान्ट के अनुसार स्वयं रुचि के द्वन्द्वन्याय के रूप में कुछ भी नहीं है, केवल इसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में रुचि-मीमांसा का एक द्वन्द्वन्याय है[१]। जब हमें रुचि के सिद्धान्तों का एक विप्रतिषेध प्राप्त होता है तभी रुचि की एक अतीन्द्रिय मीमांसा अपने में द्वन्द्वन्याय नामक एक अंश को समाहित करती है । यह विप्रतिषेध तभी उत्पन्न होता है जब निष्कर्षस्वरूप दो विरोधी तर्कवाक्यों को तर्कबुद्धि प्रस्तुत करती है । प्रथम तो वह निर्णय के आत्मनिष्ठ पक्ष का विचारावलोकन करती है और इसी पर एक निरपेक्ष वैधता का आरोपण करके इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि रुचि के निर्णय किसी प्रागनुभवी सिद्धान्त पर निर्भर नहीं होते हैं, दूसरे निर्णय के वस्तुनिष्ठ पक्ष पर विचार करते हुए इस पर उसी निरपेक्ष वैधता को आरोपित करके इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि रुचि के निर्णय एक प्रागनुभवी सिद्धान्त पर निर्भर होते हैं । अतः स्पष्ट है कि सौन्दर्यमूलक निर्णयों के विरोध भी तर्कबुद्धि प्रज्ञा की ही उत्पत्ति है ।

बुद्धि, तर्कबुद्धि-प्रज्ञा तथा निर्णय, हमारी ये तीन प्रकार की संज्ञानात्मक शक्तियां ही सैद्धान्तिक व व्यावहारिक बुद्धि और निर्णय शक्ति के विप्रतिषेधों

---

१. जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जजमेंट, पृ० २०४

का कारण है । ये सभी शक्तियां एक उच्च ज्ञानात्मक शक्ति के रूप में अपना प्रागनुभवी सिद्धान्त रखती हैं और इन सिद्धान्तों पर तथा इनके उपयोगों पर निर्णय वैसे मैं तर्कबुद्धि प्रज्ञा उनसे प्रदत्त प्रतिबद्ध के लिए एक अप्रतिबद्ध की अविरल रूप से मांग करता है । यह मांग वह तब तक करती है जब तक कि वह प्रतिबद्ध को गोचर या आभास के रूप में स्वीकार करके इसे एक अगोचर सत्ता यानी वस्तु-स्वलक्षण पर नहीं आश्रित कर देती । अत: कान्ट इन तीन प्रकार के विप्रतिषेधों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं -- (१) ज्ञानात्मक शक्ति के लिए तर्कबुद्धि प्रज्ञा का एक विप्रतिषेध है,जो अप्रतिबद्ध तक विस्तृत बुद्धि के सैद्धान्तिक प्रयोग से सम्बन्धित है । (२) सुख-दु:ख की अनुभूतियों के लिए प्रज्ञा का एक विप्रतिषेध, जो निर्णय-शक्ति के सौन्दर्यमूलक प्रयोग से सम्बन्धित है । (३) इच्छा-शक्ति के लिए तर्क-बुद्धि का एक विप्रतिषेध,जो स्व-वैधानिक तर्कबुद्धि के व्यावहारिक प्रयोग से सम्बन्धित है[2] । ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धि केवल मन की ज्ञानात्मक शक्ति के लिए,निर्णय केवल सुख-दु:ख की अनुभूति अर्थात् मन की भावनात्मक शक्ति के लिए तथा तर्कबुद्धि प्रज्ञा केवल इच्छा-शक्ति अर्थात् मन की क्रियात्मक शक्ति के लिए प्रागनुभवी सिद्धान्तों से युक्त है । कान्ट कहते हैं कि बुद्धि, निर्णय तथा तर्कबुद्धि प्रज्ञा नामक तीन संज्ञानात्मक शक्तियां ही तीन प्रकार के विप्रतिषेधों का प्रमुख कारण हैं,जिनमें से प्रत्येक उच्च संज्ञानात्मक शक्ति के रूप में एक प्रागनुभवी सिद्धान्त को अनिवार्य रूप से धारण करती है[3] ।

हमें स्पष्ट रूपेण ज्ञात होता है कि सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक बुद्धि के विप्रतिषेध स्वाभाविक एवं अपरिहार्य हैं और इनके समाधान के लिए एकमात्र अतीन्द्रिय अधिष्ठान का ही उल्लेख प्राप्त होता है । सौन्दर्यमूलक विप्रतिषेध के समाधान के लिए भी कान्ट एक अतीन्द्रिय अधिष्ठान का ही संकेत करते हैं ।

१.जेम्स क्रीड मैरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ० २२३
२. बर्निन एडीशन,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ० ३४५
३. " **The Reason for there being three kinds of antinomy is that there are three cognitive [redacted] faculties,namely understanding,judgement and Reason,each of which as a higher cognitive faculty must have its a priori principle,"**

--एस०डब्लू०कैसिरर,ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ०३०७

तथा इस प्रकार के निर्णय को भी तर्कबुद्धि प्रज्ञा का ही प्रच्छन्न निर्णय बताते हैं। उनका कहना है कि रुचि के निर्णय प्रागनुभवी नहीं हैं वरन् वास्तव में और तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के प्रच्छन्न निर्णय हैं। अन्य शब्दों में ये एक वस्तु की पूर्णता के विषय में प्रयोजनमूलक निर्णय हैं, किन्तु हमारे चिन्तन सम्बन्धी भ्रम के कारण सौन्दर्यमूलक निर्णय कहलाते हैं[1]। यद्यपि रुचि के निर्णयों के स्पष्टीकरण में कान्ट यह दर्शाते हैं कि रुचि-सम्बन्धी निर्णय का उपरोक्त विवेचन इसकी सुरक्षा के साधन के रूप में सन्तोषजनक नहीं है। किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में वह अतीन्द्रिय प्रत्ययों के तीन प्रकार के वर्गों का प्रतिपादन करते हैं-- (१) प्रकृति के अधिष्ठान के रूप में अतीन्द्रिय का प्रत्यय। (२) हमारी संज्ञानात्मक शक्ति के लिए प्रकृति की आत्मनिष्ठ प्रयोजनीयता के सिद्धान्त के रूप में अतीन्द्रिय का प्रत्यय (३) स्वातंत्र्य के प्रयोजनों के रूप में तथा नैतिक जगत के अन्तर्गत नैतिक स्वातंत्र्य से इन प्रयोजनों की अनुरूपता के रूप में अतीन्द्रिय का प्रत्यय[2]।

इस प्रकार सौन्दर्यमूलक विप्रतिषेध को एक अतीन्द्रिय अधिष्ठान का उल्लेख करके ही समाप्त किया जा सकता है क्योंकि सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक बुद्धि के विप्रतिषेधों की भांति यह भी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा की स्वाभाविक एवं अत्याज्य उत्पत्ति है। अतः अन्य मीमांसाओं की भांति निर्णय मीमांसा में सौन्दर्यमूलक द्वन्द्वन्याय के रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का समाधान करने के लिए भी कान्ट अतीन्द्रिय दर्शन के मूलतत्व अतीन्द्रिय सिद्धान्तों का ही प्रयोग करते हैं[3] और अपने इस द्वन्द्वन्याय द्वारा वह यह दर्शाते हैं कि हमारी सौन्दर्यानुभूति में प्रकृति जगत की यान्त्रिकता तथा नैतिक जगत की स्वतंत्रता का सम्मिलन एवं सामंजस्य होता है।

---

१. जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमैन्ट, पृ० २१४-१५

२. वही, पृ० २१५

३. एच० डब्ल्यू कैसिरर, कमैंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमैंट, पृ० २६०-६१

हम जानते हैं कि बुद्धि, निर्णय तथा तर्क-बुद्धि प्रज्ञा ये हमारी तीन ज्ञानात्मक प्रक्रियाएं हैं और ये सभी प्रागनुभवी तत्वों से युक्त होती हैं। निर्णय-शक्ति, बुद्धि और तर्कबुद्धि प्रज्ञा के बीच मध्यस्थता करके प्राकृतिक जगत तथा स्वातंत्र्य जगत के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करती है[1]। निर्णय-शक्ति की हमारी भावना है अर्थात् इसका अर्थ भाव-बोध है। कान्ट निर्णय-मीमांसा में भाव-बोध का ही स्पष्टीकरण करते हैं। कान्ट के अनुसार भाव-बोध प्रकृति की अनन्त विशालता द्वारा प्राप्त होता है। प्रकृति में एक ओर तो सौन्दर्य एवं उदात्तता प्राप्त होती है तथा दूसरी ओर एकरूपता एवं सप्रयोजनता प्राप्त होती है। प्रयोजनमूलक निर्णय मीमांसा में कान्ट प्रकृति की एकरूपता एवं सप्रयोजनता की व्याख्या करते हैं।

गोचर विषयों की समष्टि के रूप में प्रतीत होने वाली विशाल प्रकृति पर विचार करने के लिए हमारी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के पास ये दो विकल्प हो सकते हैं कि या तो यह प्रकृति का विचार बुद्धि के प्रागनुभवी नियमों से प्रारम्भ करे अथवा विशेष प्रकार के अनिश्चित व विस्तृत नियमों से आरम्भ करे। सामान्य रूप से निर्णय वह ज्ञानात्मक शक्ति है जो प्रकृति के विशेष पृथक प्रत्यक्षों का एक सर्वव्यापी नियम के अन्तर्गत विचार करती है[2]। एक दिये हुए सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत विशेषों को सम्मिलित करने वाला निर्णय निर्धारित निर्णय कहलाता है। ये निर्णय मन की स्वतंत्र शक्ति नहीं है और ये किसी स्वतंत्र सिद्धान्तों से भी युक्त नहीं होते क्योंकि ये कोई नियम नहीं उत्पन्न कर सकते हैं। सार्वभौमिक नियम को भी ये बुद्धि द्वारा प्राप्त करते हैं। अतः इनका कार्य केवल बुद्धि द्वारा प्रस्तुत सार्वभौमिक अतीन्द्रियात्मक नियमों के अन्तर्गत ही इन्द्रियनिष्ठ प्रत्यक्षों की कल्पना करना होता है[3]। इस प्रकार ये बुद्धि की

---

१. जैम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ जजमैन्ट, पृ० ३८

२. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट, पृ० ३११

३. जैम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ जजमैन्ट, पृ० १८

धारणाओं को यथार्थता प्रदान करते हैं । हम जानते हैं कि इस गोचर प्रकृति के विशिष्ट नियम बहुसंख्यक एवं विभिन्न होते हैं, इसलिए हमारी तर्कबुद्धि द्वारा निर्धारित निर्णय द्वारा निर्मित प्रकृति की एकमात्र व्यवस्था से परे जाने के लिए विवश हो जाती है और परिणामस्वरूप वह विशाल अनन्त प्रकृति का विचार एक ऐसे विशेष अनिश्चित एवं विस्तृत नियमों के आधार पर करने लगती है, जो हमें प्राप्त नहीं होता है । वह निर्णय, जो विशेष प्रदत्त प्रत्ययों का एक ऐसे सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत सम्मिलित करता है जो प्रदत्त नहीं होता, वह अनुचिन्तनात्मक निर्णय कहलाता है । यह अनुचिन्तनात्मक के एक ऐसे सिद्धान्त से युक्त होता है, जो हमें वस्तु-विषयों पर केवल चिन्तन करने के लिए सक्षम बनाता है । हमारा मस्तिष्क प्रकृति का अध्ययन करने में आवश्यक रूप से यह पूर्वनिर्धारित करता है कि प्रकृति के विशेष और आनुभविक नियम अव्यवस्थित संघात नहीं हो सकते हैं । प्रकृति में प्राकृतिक नियमों की एक विशेष व्यवस्था है । हम प्रकृति के आनुभविक नियमों-सम्बन्धी अपनी खोज में अनुचिन्तनात्मक निर्णय के सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं । यह अनुचिन्तनात्मक निर्णय उन वस्तु-विषयों के लिए प्रयुक्त होता है, जिन्हें हम एक नियम के द्वारा वस्तुगत रूप से निर्धारित नहीं कर सकते क्योंकि हमारे पास इन वस्तु-विषयों की एक ऐसी धारणा का अभाव होता है, जिसे हम विशेष विषयों की व्याख्या करने वाले सिद्धान्त के रूप में अपना सकें[१] । हम जानते हैं कि संज्ञानात्मक शक्तियों के अभाव में अनुचिन्तनात्मक निर्णय-शक्ति वस्तुओं का वस्तुगत ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती इसलिए यह स्वयं अपने लिए एक सिद्धान्त के रूप में कार्य करती है । किन्तु इसका यह सिद्धान्त बुद्धि के एक सिद्धान्त के रूप में नहीं समझा जा सकता है, यह आत्मनिष्ठ सिद्धान्त के रूप में कार्य करता है ।

---

१. जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट पार्ट-२ क्रिटीक ऑफ टिलियोलॉजिकल जजमेंट, पृ० ३५ ।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि निर्धारित निर्णय एक प्रदत्त सार्वभौमिक धारणा के अन्तर्गत विशेष को सम्मिलित करते हैं और अपने इस सम्मिवेशन की प्रागनुभवी शर्तों को प्रदान भी करते हैं जैसे--शुद्ध धारणाएं,बुद्धिकोटियां आदि। अनुचिन्तनात्मक निर्णय विशेष प्रत्ययों को एक ऐसे सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत सन्निविष्ट करते हैं जो हमें प्राप्त नहीं होता है,इसलिए अनुचिन्तनात्मक निर्णय उस सार्वभौमिक नियम की खोज में प्रयत्नशील रहता है। निर्धारित व अनुचिन्तनात्मक निर्णयों के अन्तर को निगमनमूलक व आगमनमूलक तर्कों के भेद की भांति समझा जा सकता है,क्योंकि अनुमान तर्क प्रणाली के अन्तर्गत निगमन में हम सामान्य से विशेष की ओर जाते हैं तथा आगमन में विशेष से सामान्य की ओर जाते हैं[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव मस्तिष्क प्रकृति को दो विभिन्न प्रकारों से देखता है। वैज्ञानिकों के अनुसार केवल प्रकृति के यान्त्रिक सिद्धान्त ही प्राकृतिक जगत की यथार्थ व्याख्या कर सकते हैं। इसके विपरीत प्रयोजनवादी विचारकों के अनुसार प्राकृतिक जगत की प्रयोजनात्मक व्याख्या ही इसकी एक सन्तोषप्रद व्याख्या हो सकती है और वस्तुओं की अन्तिम कारण-सम्बन्धी खोज ही उनके स्वरूप का ज्ञान प्रदान कर सकती है। इस दृश्यमान प्रकृति के अन्तर्गत जब हम अपने खोज-सम्बन्धी कार्य को उचित रूप से करते हैं,तब यहां निर्णय की व्यवस्थापना के लिए एक ऐसे विशिष्ट सिद्धान्त की

१, जी०आर०जी० म्यौर,ए स्टडी ऑफ़ हीगल्स लॉजिक,पृ० १६७

"Determinant judgement subsumes the particular under a given universal concept, although it also supplies the priori conditions of that subsumption,viz.the pure concepts, the K categories.Judgement is merely reflective when a particular object alone is given and the universal has to be found for it .

If these two types of judgement be developed into inference,clearly the distinction between them becomes that between deduction and induction."

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि निर्धारित निर्णय एक प्रदत्त सार्वभौमिक धारणा के अन्तर्गत विशेष को सम्मिलित करते हैं और अपने इस सम्मिवेशन की प्रागनुभवी शर्तों को प्रदान भी करते हैं जैसे--शुद्ध धारणाएं, बुद्धिकोटियां आदि। अनुचिन्तनात्मक निर्णय विशेष प्रत्ययों को एक ऐसे सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत सम्मिविष्ट करते हैं जो हमें प्राप्त नहीं होता है, इसलिए अनुचिन्तनात्मक निर्णय उस सार्वभौमिक नियम की खोज में प्रयत्नशील रहता है। निर्धारित व अनुचिन्तनात्मक निर्णयों के अन्तर को निगमनमूलक व आगमनमूलक तर्कों के भेद की भांति समझा जा सकता है, क्योंकि अनुमान तर्क प्रणाली के अन्तर्गत निगमन में हम सामान्य से विशेष की ओर जाते हैं तथा आगमन में विशेष से सामान्य की ओर जाते हैं[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव मस्तिष्क प्रकृति को दो विभिन्न प्रकारों से देखता है। वैज्ञानिकों के अनुसार केवल प्रकृति के यान्त्रिक सिद्धान्त ही प्राकृतिक जगत की यथार्थ व्याख्या कर सकते हैं। इसके विपरीत प्रयोजनवादी विचारकों के अनुसार प्राकृतिक जगत की प्रयोजनात्मक व्याख्या ही इसकी एक सन्तोषप्रद व्याख्या हो सकती है और वस्तुओं की अन्तिम कारण-सम्बन्धी खोज ही उनके स्वरूप का ज्ञान प्रदान कर सकती है। इस दृश्य-मान प्रकृति के अन्तर्गत जब हम अपनी खोज-सम्बन्धी कार्य को उचित रूप से करते हैं, तब यहां निर्णय की व्यवस्थापना के लिए एक ऐसे विशिष्ट सिद्धान्त की

---

१. जी०आर०जी० म्यौर, ए स्टडी ऑफ़ हीगल्स लॉजिक, पृ० १८७

"Determinant judgement subsumes the particular under a given universal concept, although it also supplies the priori conditions of that subsumption, viz. the pure concepts, the K categories. Judgement is merely reflective when a particular object alone is given and the universal has to be found for it.

If these two types of judgement be developed into inference, clearly the distinction between them becomes that between deduction and induction."

अनिवार्य अपेक्षा होती है, जिसकी उपलब्धि निर्णय द्वारा ही होती है । अतः जब गोचर प्रकृति पर ये दो निर्धारित तथा अनुचिन्तनात्मक निर्णय विभिन्न प्रकार से निर्णय देते हैं और जब दोनों निर्णय अनुभव के वस्तु-विषयों पर एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, तब एक विप्रतिषेध उत्पन्न हो जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि जब निर्धारित निर्णय के सिद्धान्तों की भाँति अनुचिन्तनशील निर्णय के सिद्धान्तों को भी रचनात्मक मान लिया जाता है, तब अनिवार्य रूप से एक द्वन्द्वन्यायात्मक विप्रतिषेध उत्पन्न हो जाता है[1] । इसी विप्रतिषेध को कान्ट प्रयोजनमूलक निर्णय का द्वन्द्वन्याय कहते हैं ।

अनुचिन्तनशील निर्णय प्रागनुभवी शक्ति से युक्त होते हैं तथा यह नियामक सिद्धान्तों के साथ कार्य करता है । प्रकृति के विशिष्ट नियमों के खोज से सम्बन्ध में जो नियामक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं उन्हें हम पक्ष तथा प्रतिपक्ष के रूप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं :--

पक्ष --भौतिक वस्तुओं के सम्पूर्ण उत्पादन और उनके स्वरूपों का अनुमान विशुद्ध रूप से यान्त्रिक नियमों के अनुसार सम्भव होना चाहिए ।

प्रतिपक्ष--भौतिक प्रकृति के कुछ उत्पादन की सम्भावना का अनुमान विशुद्ध यान्त्रिक नियमों के अनुसार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उनके अनुमान के लिए कारणता के नियम की आवश्यकता होती है तथापि हम इस सम्बन्ध में एक अन्तिम कारण की आकांक्षा करते हैं[2] ।

प्रकृति के वस्तु-विषय कुछ शर्तों के अन्तर्गत ही सम्भव होते हैं और इन शर्तों को रचनात्मक सिद्धान्त निर्धारित करते हैं । उपरोक्त पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा प्रदर्शित नियामक सिद्धान्तों को रचनात्मक सिद्धान्तों में परिवर्तित कर देने से उनकी स्थिति निम्न प्रकार की हो जाती है :--

---

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ४५३, तथा जेम्स क्रीड मेरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेन्ट, पार्ट २ क्रिटीक ऑफ टिलियोलॉजिकल जजमेंट, पृ० ४०

२. वही, पृ० ३७

पक्ष--भौतिक वस्तुओं के समस्त उत्पादन केवल यान्त्रिक नियमों द्वारा ही सम्भव होते हैं।

प्रतिपक्ष--भौतिक वस्तुओं के कुछ उत्पादन केवल यान्त्रिक नियमों द्वारा नहीं सम्भव होते हैं।[१]

हम देखते हैं कि पूर्ववर्णित पक्ष तथा प्रतिपक्ष केवल चिन्तनात्मक निर्णय के सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करते हैं, इसलिए वे वस्तुत: व्याघाती नहीं हैं। किन्तु जब उन दोनों तर्कवाक्यों को रचनात्मक मान लिया जाता है तब वे परस्पर व्याघाती हो जाते हैं और फलत: हमें स्वयं निर्णय के स्वरूप से ही उत्पन्न एक विप्रतिषेध की उपलब्धि होती है। क्योंकि हमें सम्बन्धित तर्कबुद्धि प्रज्ञा गोचर वस्तुओं के संघटक को एक प्रागनुभवी सिद्धान्त नहीं प्रदान कर सकती, इसलिए वह उपरोक्त प्रकार के किसी भी सिद्धान्त को सिद्ध नहीं कर सकती। भौतिक जगत की सभी घटनाएं और प्रकृति के समस्त उत्पादनों का निर्णय विशुद्ध यान्त्रिक नियमों द्वारा सम्भव है, इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि यान्त्रिक नियमों के अतिरिक्त उन प्राकृतिक जगत की घटनाओं के सम्बन्ध में निर्णय देने का अन्य साधन सम्भव नहीं है।[२] इससे द्वारा केवल इस तथ्य को समर्थन प्राप्त होता है कि इन्द्रियग्राह्य गोचर वस्तु-विषयों के नियम-सम्बन्धी अथवा विशिष्ट प्रकृति विषयक ज्ञान को प्राप्त करने के प्रयत्न में हमें वस्तु-विषयों को प्रकृति का विशुद्ध यान्त्रिक उत्पत्ति समझना चाहिए। जहां तक हमारे अनुभव की गम्यता है, हमें यही ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण प्रकृति एक ऐसी यान्त्रिक व्यवस्था है, जिसमें सम्पूर्ण विभिन्न वस्तुएं सापेक्ष रूप में निर्धारित होती हैं। इसे व्यक्त करते हुए यह कहा जा सकता है कि--प्रत्येक वस्तु का

---

१. जेम्स फ्रोड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेन्ट, पार्ट २ क्रिटीक ऑफ टेलियोलॉजिकल जजमेंट, पृ० ३७

२. वही, पृ० ३८

अपने से बाह्य व भिन्न किसी दूसरी वस्तु से जिस प्रकार का सम्बन्ध होता है,उसी सम्बन्ध के अनुसार वह नियत होती है । इस गोचरमय प्रकृति से सम्बन्धि हमारे सभी निर्णय कारण-कार्य नियम द्वारा संचालित होते हैं । कान्ट के अनुसार कारणता के सार्वभौमिक नियम से ही यान्त्रिक सिद्धान्तों की उत्पत्ति होती है और कारणता का नियम बुद्धि की ही उपज[१] है । प्रकृति की यान्त्रिक व्यवस्था के अंशों के रूप में कुछ निर्धारित वस्तु-विषयों की हम प्रत्यक्ष रूप से उचित व्याख्या नहीं कर पाते हैं,तब हम आवश्यक रूपसेएक अन्तिम कारण अर्थात् प्रयोजन कारण की धारणा का अनुगमन करते हैं । इस विस्तृत प्रकृति की यान्त्रिक व्यवस्था में हमें सोद्देश्यता दृष्टिगत होती है,अत: हमें एक प्रयोजन कारण की कल्पना करनी ही पड़ती है,इसकी हम उपेक्षा नहीं कर पाते हैं । इस प्रकार हम एक आत्मनिष्ठ या नियामक सिद्धान्त के रूप में प्रयोजन-कारण की धारणा का प्रयोग करते हैं और प्रकृति-सम्बन्धी अपने विशिष्ट ज्ञान को आगे बढ़ाते हैं । हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि वस्तुओं का निर्धारण केवल यान्त्रिक नियमों द्वारा ही सम्भव है । जब हम प्रकृति के विशि नियमों की खोज में प्रयत्नशील रहते हैं तब हम स्वीकार करते हैं कि प्राकृतिक यन्त्रवाद के सिद्धान्त द्वारा ही वस्तुओं की विशुद्ध रूप से व्याख्या होती है; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वस्तुओं को निर्धारित करने का कोई अन्य साधन सम्भव नहीं है । यहां हम केवल यही स्पष्ट करना चाहते हैं कि हमारी तर्क बुद्धि प्रज्ञा का जैसा मौलिक स्वरूप है,उस रूप में वह प्रकृति के प्रच्छन्न अधिष्ठान की खोज निश्चय ही नहीं कर सकती है । अपने ज्ञान की सीमाओं को समाप्त करके यन्त्रवाद तथा प्रयोजनकारण के द्वारा हम प्रकृति के वस्तु-विषयों की व्याख्या नहीं कर पाते हैं,इसलिए प्रकृति के अधिष्ठान-सम्बन्धी

१, एच०डब्लू कैसिरर,ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमैन्ट,पृ० ३४५

हमारी समस्या अनिर्णीत ही रह जाती है । हम जानते हैं कि अपने स्वभाव विशेष के कारण तर्क बुद्धि प्रज्ञा सैद्धान्तिक प्रयोग में प्रकृति के अतीन्द्रिय अधिष्ठान का ज्ञान देने में पूर्णतया असमर्थ होती है ,इसलिए प्रयोजनकारणवाद अथवा चिन्तनात्मक निर्णय के सिद्धान्त प्रकृति के निश्चित स्वरूपों का निर्धारण नहीं करते हैं और न तो हम इसी तथ्य को ही स्वीकृति या अस्वीकृति दे पाते हैं कि--विशुद्ध यान्त्रिक साधन द्वारा ही प्राकृतिक जगत की व्याख्या हो सकती है । हमारे चिन्तनात्मक निर्णय आत्मनिष्ठ अधिष्ठान पर कार्य करते हैं और प्रकृति में स्थित वस्तुओं के लिए प्रच्छन्न अधिष्ठान की खोज करते हैं;ये प्राकृतिक यन्त्रवाद के सिद्धान्त से भिन्न हैं[1] । इस प्रकार प्रयोजनमूलक निर्णय के विप्रतिषेध तभी उत्पन्न होते हैं जब इन्हें रचनात्मक मान लिया जाता है ।

प्रयोजनमूलक निर्णय-सम्बन्धी विप्रतिषेध का समाधान एवं समीक्षात्मक विवेचन -

यान्त्रिक कारणवाद और प्रयोजनकारणवाद--इन दो चिन्तनात्मक सिद्धान्तों को नियामक मान लेने से प्रयोजनमूलक विप्रतिषेध समाप्त हो जाता है[2] ।

हम जानते हैं कि हमारे अनुभव के वस्तु विषय केवल आभास हैं,वस्तु-स्वलक्षण नहीं हैं । गोचर प्रकृति की व्याख्या करने वाले यान्त्रिक और प्रयोजनात्मक दो विभिन्न सिद्धान्त वस्तु-स्वलक्षणों पर नहीं प्रयुक्त हो सकते हैं । गोचर प्रकृति आभास है तथा वस्तु स्वलक्षण परमार्थ है । हम गोचर प्रकृति के अन्तिम अधिष्ठान को अगोचर में खोजते हैं,किन्तु हमें उसका कोई ज्ञान प्राप्त नहीं होता है । वस्तु-स्वलक्षणों को हम केवल आभास के रूप में ही जान सकते हैं,उनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हमें नहीं हो सकता है । हमारी सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा वस्तुनिष्ठ निर्णयों को नहीं निर्मित करती है,ईश्वर,जीव तथा

---

१. जेम्स फ्रीड मेरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट,पार्ट-२,क्रिटीक ऑफ़ टिलियोलॉजिकल जजमेंट,पृ० ३६

२. एच०डब्लू० कैसिरर,ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट,पृ० ३४४

ज्ञात के रूपों में यह अप्रतिबद्ध के प्रत्ययों को प्रतिष्ठित करती है, किन्तु उनके अनुरूप वस्तु-विषयों को नहीं प्रदान कर सकती है । हमारा सम्पूर्ण ज्ञान गोचर तक ही सीमित है, किन्तु तर्कबुद्धि प्रज्ञा अगोचर से भी सम्बन्ध रखती है, इसलिए यह केवल नियामक सिद्धान्तों से ही युक्त होती है, रचनात्मक सिद्धान्तों से नहीं । अपने इसी विशेष स्वभाव के कारण हमारी तर्कबुद्धि हमें यह स्वीकार करने के लिए बाध्य कर देती है कि ` सम्भव ` और ` वास्तविक ` में भेद है । यहां हमारा अभिप्राय यह है कि हमारे ज्ञान की शक्तियों के विशिष्ट स्वभाव के कारण ही यह भेद उत्पन्न होता है । हमारी बुद्धि मूर्त विशेषों के लिए इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर निर्भर है, और वस्तुएं जैसी अपने आप में हैं, इन्द्रिय प्रत्यक्ष हमें उस रूप में उन्हें नहीं जानने देता है । किन्तु यदि हमारी बुद्धि अनुभूतिकाम है तो हमारे ज्ञान का विषय सदैव वास्तविक ही होगा, क्योंकि जिस वस्तु का हमें प्रत्यक्ष होता है, वह उस समय यथार्थ ही होती है । यह ` संभव ` और `वास्तविक ` का भेद आत्मनिष्ठ है और यह उस मानवीय तर्कबुद्धि के लिए उपयुक्त है जो अनुभूतिकाम नहीं है वरन् विमर्शात्मक है, तर्कमूलक है, क्योंकि हम सदैव इस रूप में भी विचार करते हैं कि--` कुछ है `, किन्तु एक वस्तु-विषय की धारणा में हम उसे नहीं जान सकते । यह भेद वस्तु-स्वलक्षणों पर प्रयुक्त नहीं होता है । तर्क बुद्धि प्रज्ञा अपनी अदम्य प्रवृत्ति द्वारा एक अप्रतिबद्ध प्रत्यय के रूप में वस्तुओं के मूल अधिष्ठान को मान्यता देती है । इस अधिष्ठान में भी ` यथार्थ ` और सम्भव ` का पृथक्करण नहीं है , यह प्रज्ञा का एक अपरिहार्य प्रत्यय है, किन्तु इसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । अत: सम्भव तथा यथार्थ के भेद का कोई वस्तुगत उपयोग नहीं है । मानवीय बुद्धि अपने उपयुक्त सीमाओं में ही क्रियाशील होती है । हम निर्विघ्न रूप से एक अनुभूतिकाम बुद्धि को मान्यता दे सकते हैं, ऐसी बुद्धि के लिए ` आपातिक ` और ` अनिवार्य ` के बीच

---

१. जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट, पार्ट-२ क्रिटीक् ऑफ़ टिलियोलॉजिकल जजमेंट, पृ० ५६

किसी प्रकार का भेद नहीं है अर्थात् इसके लिए सम्भव और यथार्थ अभिन्न हैं।

कान्ट यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य विचारशील होने के साथ संवेदनशील भी है। एक ओर तो नैतिक कर्ता होने के कारण वह स्वतंत्र है तथा दूसरी ओर अपने प्राकृतिक शरीर के कारण यह अखण्ड नियमों से बंधा हुआ है। अतः हमारी सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि प्रज्ञा जब प्रकृति के मूल अधिष्ठान के रूप में अप्रतिबद्ध अप्रतिबद्ध अनिवार्यता के प्रत्यय को मान्यता देती है, तब हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा भी अपनी स्वतंत्रता या अप्रतिबद्ध कारणता को मान्यता प्रदान करती है। व्यावहारिक तर्क बुद्धि प्रज्ञा की स्वतंत्रता इसके अपने नैतिक आदर्श सम्बन्धी चेतना में ही निहित होती है। सैद्धान्तिक प्रज्ञा की अप्रतिबद्ध अनिवार्यता तथा व्यावहारिक प्रज्ञा की अप्रतिबद्ध कारणता की भिन्नता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक कार्य, जो नैतिक दृष्टि से अनिवार्य होता है, वह भौतिक दृष्टि से आपातिक समझा जाता है क्योंकि नैतिक बाध्यता भौतिक घटना के रूप में स्वतंत्र कार्य के परिणाम से युक्त नहीं होती है। व्यावहारिक तर्क बुद्धि नैतिक नियमों को निरपेक्ष आदेश व कर्तव्यों के रूप में प्रस्तुत करती है। किन्तु वस्तुतः सैद्धान्तिक और व्यावहारिक नियमों में कोई भेद नहीं है क्योंकि 'है' और 'होना चाहिए' अभिन्न हैं। व्यावहारिक नियम कार्य करने में समर्थ है और सैद्धान्तिक नियम यथार्थ को स्पष्ट करने में समर्थ हैं। जो परम शुभ है, उसे ही तर्क बुद्धि प्रज्ञा, हम पर आरोपित करती है, केवल यही संभव है, यही यथार्थ है। जब हम नैतिक नियमों की चेतना द्वारा एक बोधगम्य जगत के स्वारूपिक अवस्था के रूप में स्वातंत्र्य के अस्तित्व का अनुमान करते हैं तब यह हमारे लिए एक अतीन्द्रिय धारणा हो जाती है और फलस्वरूप यह हमारे कर्मों को निर्धारित करने वाले संघटक सिद्धान्त के रूप में कार्य नहीं करती है[2]। इसका कारण यह

---

१. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ४५७

२. वही, पृ० ५६

है कि हमारे कर्म सैद्धान्तिक रूप से गोचर प्रकृति के अंश होते हैं । प्राकृतिक इच्छाओं से युक्त होते हुए हम आंशिक रूप से इन्द्रियनिष्ठ प्राणी हैं, किन्तु विचारशील होने के कारण हम स्वतंत्र भी हैं । स्वतंत्रता एक सार्वभौमिक नियामक सिद्धान्त है, किन्तु यह नियामक सिद्धान्त हमारी स्वतंत्रता की प्रकृति को वस्तुगत रूप से निर्धारित नहीं करता है । यह प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति को स्वातंत्र्य के प्रत्यय के अनुरूप इस प्रकार कार्य करने का आदेश देता है जैसे कि यह रचनात्मक सिद्धान्त हो । चूंकि हमारी बुद्धि अनुभूतिकाम न होकर रचनात्मक हो जाती है और सामान्य से विशेष की ओर गमन करती है, इसलिए हम प्रकृति के यान्त्रिक नियम और प्रयोजनमूलक नियम में भेद करने के लिए बाध्य हो जाते हैं । कान्ट का कथन है कि हम केवल विशेषों के समूह द्वारा ही प्रगति नहीं कर सकते हैं । हमारे पास साध्य तक विशेष की अनुकूलता का कोई ज्ञान नहीं है, इसलिए हमारा निर्णय तब तक निर्धारित नहीं हो सकता जब तक कि वह एक ऐसे सार्वभौमिक सिद्धान्त से युक्त नहीं होता जिसमें वह विशेष को समाहित कर[1] सके । हमारी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा भी अपने आपको विशेषों से रिक्त किसी नियम से संतुष्ट नहीं कर सकती है । विशेष और सामान्य में संगति नहीं होती है, इसीलिए हमारे लिए विशेषों को सार्वभौमिक नियम में सम्मिलित करना असम्भव हो जाता है । जहां कहीं भी सार्वभौमिक सामान्यों द्वारा विशेषों को आपातिकता दिखायी देती है, वहां हम उन दोनों की अनुरूपता द्वारा ही प्रगति पर बढ़ सकते हैं । अत: यहां यह व्यक्त होता है कि प्राकृतिक उत्पत्तियों की धारणा सोद्देश्य है, उनमें अनुकूलता है । हमारे विशेष एक अनुलंघनीय तथा अपरिहार्य नियम को अनुरूपित करते हैं और ये नियम निर्णय के लिए अनिवार्य होते हैं, किन्तु हम नियमों के प्रत्यय को स्वयं वस्तु-विषयों पर आरोपित नहीं किया जा सकता है । प्रयोजन का प्रत्यय तर्क बुद्धि प्रज्ञा का एक आत्मनिष्ठ एवं नियामक सिद्धांत

---

१. वही ।

है। अत: कान्ट का कथन है कि प्रयोजनमूलक निर्णय के विप्रतिषेधों के समाधान के लिए हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि यान्त्रिक और प्रयोजन-मूलक दोनों ही सिद्धान्त नियामक सिद्धान्त हैं तथा चिन्तन के केवल आत्म-निष्ठ सिद्धान्त हैं। इनका प्रयोग करके हम वस्तु-स्वलक्षणों के विषय में कुछ नहीं कह सकते। मानव-मस्तिष्क उपरोक्त दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का प्रयोग उनके उचित स्थान पर कर सकता है।[1]

निर्णय केवल विचार को ही एक शक्ति नहीं है, यह अनुभव जगत से भी सम्बन्धित होता है, इसलिए यह सार्वभौमिक तथा विशेष दोनों प्रकार के नियमों से युक्त होता है। निर्णय अपने भाव-बोध की शक्ति द्वारा प्राकृतिक धारणाओं के क्षेत्र तथा स्वातंत्र्य की धारणा के क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित करता है। मानव मस्तिष्क इस अनन्त व विस्तृत गोचर प्रकृति के एक तार्किक व्यवस्था की मांग करता है क्योंकि वह उसे जानने में असमर्थ है। निर्णय-शक्ति स्वयं अपने आत्म-निष्ठ नियमों के साथ चिन्तन के सिद्धान्त में प्रकृति के एक प्रागनुभवी विधि को निर्मित करता है। प्रकृति की सम्भाव्यता के लिए ही यह प्रागनुभवी सिद्धान्त से युक्त होता है।[2] कान्ट का यह विश्वास है कि निर्णय-शक्ति से ही प्रकृति एक तार्किक व्यवस्था के स्वरूप के अनुसार आनुभविक नियमों के अन्तर्गत अपने सार्वभौमिक नियमों का विशेष रूप से उल्लेख करती है।[3] गोचर प्रकृति में विभिन्न वस्तुओं की व्यवस्था दृष्टिगत होती है। ये वस्तुएं निश्चित रूप से सप्रयोजनता से युक्त प्रतीत होती हैं। प्रयोजन के प्रत्यय को हम साध्य के

---

१. एच०डब्लू०कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ जजमेंट, पृ० ३४४.

"...Kant's solution of the antinomy is this. Mechanical and teleological principles are both merely subjective principle of reflection; and in applying them we do not assert anything about things as they are in themselves. The view which is put forward by him in our section is that the human mind may employ both principles, each in its proper place."

२. जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ जजमेन्ट, पृ० २५

३. एच० डब्लू० कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर जजमेंट, पृ०११६-

अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं और साध्य के साधनों के अर्थ में भी प्रयुक्त कर सकते हैं। एक वस्तु जब स्वयं ही अपना कारण और कार्य होती है अर्थात् वह स्वयं अपना कारण होती है तभी वह प्राकृतिक साध्य हो सकती है। हमारा अनुभव निर्णय शक्ति को एक वस्तुनिष्ठ भौतिक प्रयोजन के धारणा की ओर ले जाता है, यही धारणा प्रकृति में साध्य की धारणा[१] है। यह साध्य की धारणा एक ऐसे प्रत्यय के रूप में अस्तित्वयुक्त होता है जो वस्तुओं द्वारा विधेयित नहीं की जा सकती है। किन्तु फिर भी प्राकृतिक साध्य के प्रत्यय के अनुरूप प्राकृतिक उत्पत्ति का प्रकृति में अस्तित्व है, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि हम प्राकृतिक साध्य का प्रयोग एक संघटक सिद्धान्त के रूप में कर सकते हैं। कान्ट कहते हैं कि तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के आत्मा, ईश्वर आदि अन्य प्रत्ययों से सम्बन्धित कोई भी वस्तु-विषय हम प्रकृति में नहीं प्राप्त करते हैं, अतः प्राकृतिक साध्य के प्रत्यय तथा तर्कबुद्धि के अन्य प्रत्ययों में एक सुस्पष्ट भेद है। प्राकृतिक साध्य का प्रत्यय निर्णय-सापेक्ष है, इसलिए अनुभव के वस्तु-विषयों को सम्भव बनाने के लिए सामान्यतया यह केवल हमारी बुद्धि का प्रयोग है। इस सम्बन्ध में निर्णय निर्धारित नहीं होते वरन् केवल चिन्तनात्मक होते हैं। प्राकृतिक साध्य का प्रत्यय स्वयं वस्तु-विषय को निर्धारित नहीं कर सकता है, यह वस्तु-विषयों को प्रयोजन के नियामक या आत्मनिष्ठ सिद्धान्त के अन्तर्गत लाने के लिए स्वयं चिन्तनात्मक रूप से प्रयुक्त होता है। अतः यह हमारे मानवीय बुद्धि की ही एक विशिष्टता है कि हम प्राकृतिक वस्तुओं का निर्णय प्रयोजन के प्रत्यय के निर्देश द्वारा करते हैं। कान्ट का कथन है कि हमारी एक उच्च अनुभूतिपरक बुद्धि को रचना के अनुसार ही हम प्रकृति के उत्पादन या वस्तुओं को प्रयोजनों के रूप में जानते हैं।[२] इसके विपरीत हमारी एक उच्च बुद्धि यह

" The specific principle of judgement is therefore as follows: Nature specifies its universal laws into empirical laws in accordance with the form of logical system on behalf of the faculty of judgement."

१. जॉन वाट्सन, दि फिलासफी आफ कान्ट, पृ० ३२४

२. एच० डब्लू० कैसिरर, कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट, पृ० ३७३-७४

भी स्वीकार करती है कि एक अन्तिम प्रयोजन कारण के आश्रय के अभाव में भी यन्त्रवाद-धारणा द्वारा वस्तुओं की व्याख्या हो सकती है। इस प्रकार हमारी बुद्धि और इसके निर्णय-शक्ति के सम्बन्ध में एक विशिष्ट आपातिकता दिखायी देती है, इस आपातिकता के लक्षण का निर्धारण ही हमारी अपनी बुद्धि और अन्य की बुद्धि में भेद प्रदर्शित करता है।[१]

उपरोक्त तथ्य के स्पष्टीकरण में हम यह कहते हैं कि हमारी बुद्धि का एक ऐसा स्वरूप भी है ~~जो~~ जो वैयक्तिक बुद्धि को निर्मित करने में सामान्य से विशेष की ओर अग्रसर नहीं होती, क्योंकि इसके अन्तर्गत बुद्धि और प्रकृति के विशेष नियमों के बीच एक अपरोक्ष सम्बन्ध अवश्य होता है और इसीलिए यहां किसी प्रकार की आपातिकता को स्थान नहीं मिलता है। ऐसी बुद्धि को हम अनुभूतिक्षम बुद्धि कह सकते हैं। इसी बुद्धि की धारणा के कारण ही हम अपनी निर्णय-शक्ति से प्राकृतिक वस्तुओं की अनुकूलता को सम्भाव्यता पर विचार करने में समर्थ होते हैं। इस बुद्धि के अन्तर्गत वस्तु-विषयों का उसी रूप में विचार किया जाता है, जिस रूप में वे प्रत्यक्षत: प्रस्तुत होते हैं, इसीलिए यहां यथार्थ और 'संभव' के बीच भेद नहीं होता है। निर्णय-शक्ति और प्राकृतिक सिद्धान्तों के बीच के भेद को हम पुन: इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि प्राकृतिक नियमों को निर्णय-शक्ति से इस प्रकार अनुरूपित होना है कि प्रयोजन की नियामक कारणा के ~~माध्यम~~ माध्यम से हम अपने अनुभव को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध बना सकें।

हम जानते हैं कि निर्णय-शक्ति हमारी बुद्धि से पृथक् एक अनुभूतिक्षम बुद्धि के प्रत्यय का बहिष्कार नहीं करती, इसीलिए यह अनुभूतिक्षम बुद्धि 'संपूर्ण' को अपरोक्षतया समझते हुए संश्लेषणात्मक सामान्यों से विशेषों की ओर

---

१. जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट, पार्ट-२, क्रिटीक् ऑफ़ टिलियोलॉजिकल जजमेंट, पृ० ५१।

गमन करती है । जिन सामान्यों के साथ यह कार्यारम्भ करती है, उनसे परे जाकर इसे सामान्य के लिए विशेषों को प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है । कहने का तात्पर्य यह है कि यह बुद्धि समग्र को अंशों से या अंशों से समग्र को पृथक् नहीं समझती है, परिणामस्वरूप अंशों के सम्बन्ध में इसके लिए कोई भी आपातिकता नहीं है । किन्तु हमारी बुद्धि तार्किक व विमर्शात्मक होती है, इसलिए यह हमें प्रकृति के अन्तर्गत प्रत्येक यथार्थ समष्टि को यान्त्रिक व्यवस्था के रूप में देखने के लिए बाध्य कर देती है । अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अपनी बुद्धि के स्वरूप के कारण हम प्रकृति में उपलब्ध किसी भी समष्टि को अंशों की संयुक्त प्रेरक शक्तियों के परिणाम के रूप में ग्रहण करते हैं । इस प्रकार हम अंशों से समग्र की ओर दृष्टिपात करते हैं, किन्तु इसके विपरीत हमारी आदिरूपित या अनुभूतिपरक बुद्धि अंशों को, उनके सम्बन्ध और उनकी विशिष्ट प्रकृति को दृष्टि से समग्र में ही ग्रहण करती है । जहां तक हमारी तर्कमूलक बुद्धि का सम्बन्ध है, इसके अनुसार अंशों का सम्बन्ध समग्र को पूर्वमान्यता नहीं देता है । अतः हम यह कह सकते हैं कि एक समग्र का 'प्रत्यय' ही जो अंशों के सम्बन्ध में और स्वरूप की व्याख्या करता है । इस स्थिति में समग्र को परिणाम या उत्पत्ति के रूप में तथा उसके प्रत्यय को उत्पत्ति के कारण के रूप में ग्रहण किया जाता है अर्थात् उत्पत्ति को साध्य के रूप में स्वीकार किया जाता है ।[१] अपनी बुद्धि के स्वरूप के ही कारण हम निश्चित प्राकृतिक उत्पत्तियों को प्राकृतिक नियमों द्वारा नहीं स्वीकार करते वरन् यान्त्रिक कारणता से भिन्न एक अन्तिम प्रयोजन कारण के प्रत्यय द्वारा उत्पन्न मानते हैं । यह अन्तिम कारण के प्रत्यय का उपयोग भी हमारी बुद्धि की देन है इसलिए इसे वस्तु-स्वलक्षणों पर आरोपित नहीं किया जा सकता है । यह हमें गोचर वस्तुओं का भी ज्ञान नहीं दे सकता है । चूंकि हम वस्तुओं का अवलोकन साधनों और साध्यों के रूप में करते हैं इसलिए हमारी बुद्धि उन्हें निर्धारित करने के लिए विवश हो

---

१. जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ् जजमेंट, पार्ट-२, क्रिटीक ऑफ् टिलियोलॉजिकल जजमेंट, पृ० ६४

जाती है। इस प्रकार हम सम्पूर्ण प्राकृतिक उपलब्धियों को अभिव्यक्त करने की एकमात्र विधि के रूप में अन्तर्वर्ती प्रयोजन कारण को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु यही दृढ़ विश्वास ही असंतोष का कारण बन जाता है।[1] यहां इस आदिरूपित बुद्धि के अस्तित्व को सिद्ध करना अनावश्यक हो प्रतीत होता है। यहां यह दिखाना ही उचित है कि हम आदिरूपित अथवा अनुभूतिपरक बुद्धि के विपरीत अपनी बुद्धि की सापेक्ष और सीमित स्वरूप की खोज करते हैं। एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करने वाले विभिन्न अंशों द्वारा उत्पन्न समष्टि की धारणा हमें एक यन्त्रवाद का प्रत्यय प्रदान करती है। यह प्रत्यय समष्टि की धारणा को साध्य के रूप में वहां उपलक्षित करता है,इसीलिए यह संगठित सत्ताओं के विशिष्ट लक्षण को अभिव्यक्त करने के लिए अपर्याप्त है।[2] इस व्यवस्थित सत्ताओं में जो वस्तु-विषय प्रस्तुत रहते हैं। इन वस्तु-विषयों की सम्भाव्यता की व्याख्या उस समष्टि के प्रत्यय से पृथक नहीं कर सकते, जिसके द्वारा अंशों के संयोग और आकार निर्धारित होते हैं। ~~किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संगठित एवं व्यवस्थित सत्ताएं यान्त्रिक शक्ति की उत्पत्ति हैं।~~ किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संगठित एवं व्यवस्थित सत्ताएं यान्त्रिक-शक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उन्हें यान्त्रिक शक्ति की उत्पत्ति न मानना तो इस तथ्य का समर्थन करना है कि कोई भी बुद्धि सम्भवतः यह विचार नहीं कर सकती कि अंश इकाई में संयुक्त हैं। कान्ट स्पष्ट करते हैं कि यदि हम भौतिक सत्ताओं को वस्तु-स्वलक्षणों के रूप में समझने का अधिकार रखते हैं तो प्राकृतिक व्यवस्थाओं की यान्त्रिक उत्पत्ति असम्भव हो जाती है, क्योंकि इस स्थिति में तो इस प्रकार की इकाई, जो प्राकृतिक वस्तुओं के स्वरूपों की सम्भाव्यता के अधिष्ठान को बनाती है, देश-स्थित इकाई की भांति हो जाती है। देश वस्तुओं के उत्पत्ति का यथार्थ अधिष्ठान नहीं है, यह केवल उनकी

---

१. एच०डब्लू० कैसिरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट, पृ० ३८२

२. जैम्स क्रीड मेरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट, पार्ट-२ क्रिटीक् ऑफ़ टिलियोलाजिकल जजमेंट, पृ० ६५

आकारिक शर्त है । देश के अन्तर्गत कोई भी अंश निर्धारित नहीं होते हैं,अंश समष्टि के साथ अपने सम्बन्ध में ही निर्धारित होते हैं अत: समष्टि का प्रस्तुतिकरण ही अंशों के प्रस्तुतिकरण की शर्त है[१] ।

हम प्राकृतिक जगत के यथार्थ अधिष्ठान और अतीन्द्रिय के एक प्रत्यय को प्राप्त करते हैं । इस अधिष्ठान को ज्ञान द्वारा अनुभव की व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है । जहां तक हमारा सम्बन्ध गोचर जगत से है,हम यान्त्रिक नियमों का ही प्रयोग करते हैं । ये नियम ही देश व काल के अन्तर्गत प्रस्तुत होने वाली वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते हैं । प्रकृति का यन्त्रवाद केवल गोचर पर ही लागू होता है,इसलिए प्रकृति के आकारों व विशिष्ट नियमों की इकाई तथा सामंजस्य का आविष्कार नहीं किया जाता है । प्रकृति का अतीन्द्रिय अधिष्ठान तर्कबुद्धि प्रज्ञा का एक वस्तु-विषय है । जब स्वयं गोचर के विभिन्न लक्षणों को गोचर के अतीन्द्रिय अधिष्ठान के प्रत्यय के साथ मिला देते हैं,तब हम दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए हमारे समक्ष केवल 'अन्तिम कारण' का प्रत्यय ही रहता है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रयोजनमूलक निर्णय-शक्ति बुद्धि और तर्कबुद्धि प्रज्ञा द्वारा प्रकृति के वस्तुनिष्ठ अर्थात् वास्तविक सप्रयोजनता की कल्पना करती है[२] । यान्त्रिक और प्रयोजनात्मक--इन दो विभिन्न सिद्धान्तों द्वारा प्रकृति पर निर्णय दिया जाता है । यान्त्रिक सिद्धान्त गोचर के रूप में परिलक्षित होने वाले वस्तु-विषयों पर प्रयुक्त होता होता है तथा प्रयोजनमूलक सिद्धान्त गोचर और अगोचर के सम्भाव्य समन्वय के लिए अपेक्षित होता है,अत: ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के प्रतिकूल नहीं होते हैं । इस प्रकार प्रयोजनमूलक सिद्धान्त एवं प्राकृतिक

---

१. एच० डब्लू० कैसिरर,ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ०३८३-८४

२. जेम्स क्रीड मेरेडिथ,कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट,पृ० ३४

"...The teleological judgement....is meant..the faculty of estimating the real finality (objectivity of nature) by understanding and reason."

वस्तुओं के एक यान्त्रिक उद्भव के सिद्धान्तों में कोई व्याघात नहीं दृष्टिगत होता है। जब प्रकृति की वस्तुओं को विशेष लक्षणों से युक्त होने के कारण हम प्राकृतिक साध्यों के रूप में ग्रहण करते हैं, तब यान्त्रिक नियमों द्वारा उनकी व्याख्या करना असम्भव हो जाता है। कान्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि कोई भी मानवीय ससीम बुद्धि यान्त्रिक कारणों द्वारा सरलतम संगठित सत्ता की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी नहीं होती, इसलिए इस प्रकार की वस्तुओं से सम्बन्धित हमारे निर्णयों में अन्तिम कारण का सिद्धान्त अपरिहार्य एवं आवश्यक हो जाता है अर्थात् ज्ञान के विस्तार के लिए यह अनिवार्य है।[१] इस प्रकार विश्व-कारण के रूप में इस सप्रयोजनता-सम्बन्धी सर्वोच्च स्रोत को हम मौलिक बुद्धि में हा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसी अन्तिम कारण की खोज में हम ईश्वर के अस्तित्व की नैतिक सिद्धि प्रदान करते हैं।

एक नैतिक प्रयोजनवाद के आधार पर हमारी सैद्धान्तिक तर्क बुद्धि जगत के एक बुद्धियुक्त कारण को स्वीकार करती है। नैतिक-प्रयोजनवाद के आधार पर व्यावहारिक तर्क-बुद्धि द्वारा हम नैतिक नियमों से युक्त होते हैं; ये नैतिक नियम हमें अपने आप में ही युक्त कारणता को मान्यता देने के लिए बाध्य कर देते हैं। कर्म की प्रेरणा की दृष्टि से नैतिक प्रयोजन । प्राकृतिक जगत से पूर्णतया स्वतंत्र है किन्तु कर्म के परिणाम की दृष्टि से यह प्राकृतिक जगत से सम्बन्धित होता है। नैतिक नियमों के अनुसार हमारे कृत कर्म प्राकृतिक भौतिक वातावरण पर प्रभाव डालते हैं। हम जानते हैं कि मानव एक स्वतंत्र नैतिक कर्ता होते हुए भी संवेदनशील प्राणी है, प्राकृतिक प्राणी है, इसलिए कर्मों में नैतिक उद्देश्यों का स्पष्टीकरण उसकी अपनी संवेदनशील प्रकृति पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। मानव कर्मों के प्रभाव से बाह्य जगत भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है। यहाँ हमारी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा एक ऐसे सिद्धान्त की खोज करने के लिए बाध्य हो जाती है, जिसका विश्व से परे एक स्वतंत्र अस्तित्व हो और जो नैतिकता के अन्तिम साध्य और प्रकृति की

---

१. जेम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेंट, पृ० ६६

अभाव नहीं रहता है, किन्तु नैतिक प्राणी के रूप में वह अपने लिए परम रूप से अनिवार्य साध्य को नियत करता है । प्रयोजनात्मक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि--चिन्तनशील बुद्धिजीवी प्राणी के लिए निरपेक्ष नैतिक नियमों के अन्तर्गत रहने वाला अन्तिम साध्य ही है जिसे वह अपने लिए निर्धारित करता है । इस प्रकार नैतिक नियम के अन्तर्गत बौद्धिक सत्ताएं संपूर्ण सृष्टि के अन्तिम साध्य[1] हैं ।

प्राकृतिक व यान्त्रिक रूप से व्यवस्थित जगत का निवासी होने के कारण विवेकशील प्राणी अपने कर्मों के फलस्वरूप सानन्दता के आकांक्षी होते हैं । सानन्दता के साथ सद्गुण का सामंजस्य ही हमारा सर्वोच्च नि:श्रेयस है, यही हमारा विवक्षित साध्य है, यही नैतिक नियम की अनुरूपता में परम शुभ है । हम जानते हैं कि प्राकृतिक अनिवार्यता के स्वरूप में कोई भी वस्तु हमें यह कहने का अधिकार नहीं प्रदान करती कि नैतिक नियम के व्यावहारिक अनिवार्यता की साक्षात् अनुभूति हो सकती है । यदि हमें अपनी तर्क बुद्धि की समस्त मांगों की पूर्ति करना है और परम नि:श्रेयस को सद्गुण और सानन्दता के अनुपात में ग्रहण करना है तो हमें प्रकृति से भिन्न एक ऐसे कारण को

---

१. जॉर्ज टिपलें ह्विटनी और बावर्स, दि हेरिटेज़ ऑफ़ कान्ट, पृ० २३६

" That "rational beings under the moral law" are the final end of all creation is a conclusion to which ~~xMxk~~ Kant thought even "the commonest understanding "would give consent. Without man the whole of nature would be a waste and "invain." But it is not merely as a natural object that he is the final end, for what worth he has in this respect is conditioned on his animal nature and is bestowed on him by his environment. What gives man absolute worth and thereby fits him to be the final end he ~~w~~ owes to the value reason has--to the specifically moral value he acquires by living up to his character as a rational being, Of man so for as he is moral the question "why he ...exists"?, is therefore meaningless. This is implied in the very meaning of morality."

मान्यता देनी चाहिए जो सानन्दता और नैतिकता दोनों साध्यों को एकताबद्ध करके सामंजस्य में लावे । यह कारण नैतिक ही हो सकता है, यान्त्रिक कारण नहीं हो सकता है । इस प्रकार परम साध्य की धारणा एक नैतिक कारण के अस्तित्व को या जगत के रचयिता के अस्तित्व को पूर्वस्वीकृति देती है । इस प्रकार हमारे समक्ष नैतिक चेतना का ही अधिष्ठान है जिसके आधार पर हम यह प्रतिष्ठित एवं प्रतिपादित कर सकते हैं कि सृष्टि के एक अंतिम कारण अथवा परम साध्य का अस्तित्व है । कहने का तात्पर्य यह है कि एक नैतिक प्रयोजन का अस्तित्व है ।

` परम साध्य की अनुभूति होनी चाहिए; तर्क बुद्धि प्रज्ञा की इस अपरिहार्य मांग को औचित्यपूर्ण बनाने के प्रयत्न में ही हमें नैतिक प्रयोजनवाद से ईश्वर-मीमांसा की ओर अग्रसर होना पड़ता है । जब तक हम यह नहीं स्वीकार करते कि बौद्धिक और नैतिक गुणों से युक्त ईश्वर ने ही प्रकृति तथा हमारे नैतिक परम साध्य में संगति उत्पन्न की है, तबतक हम तर्क बुद्धि प्रज्ञा द्वारा अपेक्षित प्रकृति और नैतिक साध्य के सामंजस्य की सम्भाव्यता को नहीं जान सकते हैं । इस विषय से सम्बन्धित निर्णय निर्धारित निर्णय नहीं होते हैं अपितु अनुचिन्तनात्मक निर्णय होते हैं । नि:सन्देह परम नैतिक नियमों की स्थापना करने वाली तर्कबुद्धि प्रज्ञा उस तर्कबुद्धि से पूर्णतया स्वतंत्र है, जो उस प्रकृति में अनुबन्धनों को प्रस्तुत करती है जिसमें नैतिक नियमों की अनुभूति की जा सकती है । दूसरे प्रकार की तर्क-बुद्धि प्रज्ञा सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा से सम्बन्धित होती है, व्यावहारिक प्रज्ञा से नहीं । परन्तु हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि जगत के सर्वोच्च बुद्धिमय कारण में भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक तर्कबुद्धि प्रज्ञा के विरोध की भांति एक विरोध है और उसमें भी परम साध्य के लिए प्राकृतिक साध्यों द्वारा अपेक्षित कारणता से भिन्न एक कारणता अपेक्षित है । अत: हम इस प्रकार का अनुमान नहीं कर सकते कि जगत का सर्वोच्च कारण एक नैतिक प्राणी है, जो विशिष्ट साध्यों के प्रत्यय को स्थापित करता है तथा उनकी अनुभूति के लिए आगे बढ़ता है । हम इस तथ्य को भी मान्यता नहीं दे

सकते हैं कि--सर्वोच्च कारण की सत्ता एक ऐसी सत्ता है, जो प्रयोजनयुक्त होकर ही प्रकृति के अनुकूल व्यवस्था बनाती है, इसलिए नैतिक नियमों के साथ इसका लय हो जाता है। हमारे लिए यह जानना असंभव हो जाता है कि तर्कबुद्धि की रचना द्वारा परम साध्य और सापेक्षिक साध्यों के विरोध को किस प्रकार समाप्त करके उनमें संगति एवं सामंजस्य लाया जा सकता है, क्योंकि इसे तो केवल नैतिक नियमों के साथ प्रकृति की अनुकूलता द्वारा ही निष्पादित किया जा सकता है। अत: जगत का सर्वोच्च कारण केवल जगत का रचयिता या शासक नहीं है वरन् विश्व को नैतिक नियम प्रदान करने वाला भी है। हमारी तर्क-बुद्धि अपने मौलिक स्वरूप के विरुद्ध ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण निर्धारित निर्णयों के सिद्धान्तों द्वारा करती है तभी व्याघात उत्पन्न होता है। अन्तिम कारण या प्रयोजन के प्रत्यय के द्वारा ही हम अपने आप को परम सत्ता के स्वरूप की अनुभूति करा सकते हैं, किन्तु ये सिद्धान्त केवल नियामक हैं, रचनात्मक या संघटक नहीं। अत: प्रयोजनमूलक निर्णयसम्बन्धी विप्रतिषेध को समाप्ति हम यान्त्रिक कारणवाद तथा प्रयोजन कारणवाद दोनों चिन्तनात्मक सिद्धान्तों को नियामक मानकर ही कर सकते हैं। अत: इस प्रकार सिद्ध होता है कि प्रयोजनमूलक निर्णय-शक्ति, बुद्धि और तर्कबुद्धि प्रज्ञा द्वारा प्रकृति के वस्तुनिष्ठ अंतिम सप्रयोजनता का अनुमान करती है।

--

अध्याय--५

शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग

अब तक हम इस विषय के निरूपण में पूर्णतया व्यस्त थे कि दार्शनिक कान्ट के शुद्ध बुद्धि,कृत्य बुद्धि तथा निर्णय-सम्बन्धी मीमांसाओं में द्वन्द्वन्याय का क्या प्रयोग है ? तत्सम्बन्धी विषय में हमारा जो कुछ भी विवेचन है पुन: उसकी आवृत्ति करना अनावश्यक है,यहां हमें केवल यह अवलोकन करना है कि कान्ट की सम्पूर्ण कृतियों में द्वन्द्वन्याय का कार्य ही उनके दर्शन का कार्य है,और यही वह आलोचना है,जिसके द्वारा वे तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के मताग्रही व सैद्धान्तिक प्रक्रिया को समझाते हैं अर्थात् तर्क-बुद्धि के प्रत्येक ऐन्द्रिय या अतीन्द्रिय क्षेत्रों में प्रभाव रखने के दावे को समझाते हैं । जब उनके आलोचनात्मक अभिगम का प्रमुख अभिप्राय एक प्रागनुभवी विधि से तर्क बुद्धि के विस्तार अथवा सीमा को निर्दिष्ट करना होता है,तब यह अपने पीछे एक अवशेष भी छोड़ जाती है ,यह अवशेष ज्ञान का अवशेष है तथा यह वस्तु-विषयों का ऐसा संज्ञान है जो व्यवहार या गोचर के क्षेत्र की रचना करता है । यह संभव हो सकता है कि कान्ट की आलोचना का प्रमुख लक्ष्य तर्क-बुद्धि की श्रद्धा व विश्वास के दावे को सुरक्षित रखना था,क्योंकि वह कहते भी हैं कि " मैं ज्ञान का परिसीमन इसलिए कर रहा हूं ताकि श्रद्धा को स्थान दे सकूं[१] ।" परन्तु ऐसा करने में वह सफल नहीं हो सके क्योंकि ज्ञान क्या है, इसे वह भलीभांति नहीं बतला सके । इसलिए हम कह सकते हैं कि कान्ट के दर्शन में द्वन्द्वन्याय का एकमात्र समर्थित एवं प्रमुख लक्ष्य अतीन्द्रिय या अगोचर अथवा परमार्थ या अप्रतिबद्ध को ज्ञान की परिधि से निष्कासित करके उसकी रक्षा करना था । कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान की सीमा में कान्ट ने इसे स्थान ही नहीं दिया । जब द्वन्द्वन्याय युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के तर्काभासित विरोधों, युक्ति-युक्त सृष्टि-विज्ञान के विप्रतिषेधों,अथवा ईश्वर एवं नैतिकता,अभिरुचि तथा

---

१. लेविस व्हाइट बैक,इमैनुअल कान्ट,क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रीज़न,पृ० १३

प्रयोजन इत्यादि के पात्रों से सम्बन्धित विषयों के बौद्धिक प्रमाणों की न्याय-असंगतता को अभिव्यक्त करता है,तब कान्ट इसे कैवल एक आलोचना का ही स्तर प्रदान करते हैं,जिसका आत्यन्तिक उद्देश्य तर्क-बुद्धि प्रज्ञा को चेतना के सैद्धान्तिक स्तर पर उसकी सीमाओं का बोध कराना है । यहां श्रद्धा के ज्ञात तथा तर्क-बुद्धि के ज्ञात दोनों ही मौलिक रूप में इस प्रकार भिन्न हो जाते हैं कि उनके बीच की इस भिन्नता को,उन्हें ज्ञान के अन्तर्गत लाकर दूर नहीं किया जा सकता है अर्थात् उनके बीच की खाई को ज्ञान द्वारा पाटा नहीं जा सकता है । हम जानते हैं कि किसी भी प्रकार की नैतिक,आध्यात्मिक अथवा सौन्दर्यात्मिक आनन्द की अनुभूति को तार्किक या बौद्धिक सांचे में नहीं ढाला जा सकता है[१] । तर्क कैवल ज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत ही क्रियाशील होता है तथा उपरोक्त स्थितियां अति-बौद्धिक हैं,इसलिए वे ज्ञान से परे हैं और इसी कारण तर्क से भी परे हैं,अत: परमार्थ या अतीन्द्रिय के लिए कोई तर्क नहीं है[२] । इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कान्ट ने प्रयत्न किया और श्रद्धा के ज्ञात को मान्यता दी । यह कहा जा सकता है कि कान्ट द्वारा गृहीत श्रद्धा के ज्ञात की न्याय-औचित्यता अतीन्द्रिय और अप्रतिबद्ध के लिए एक अद्वितीय तर्क है परन्तु फिर भी कान्ट अपने प्रयत्न में कैवल असफल ही नहीं रहे वरन् उन्होंने श्रद्धा का ज्ञान के साथ,ज्ञान का नैतिकता के साथ और ज्ञान का आध्यात्मिक अनुभूति के साथ सामंजस्य हो सकता है इसे दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया ।

---

१. लेविस व्हाइट बेक,इमैनुअल कान्ट,क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रिज़न,पृ० १४

२. एच० डब्लू० कैसिरर,ए कमेंट्री आन कान्ट्स क्रिटीक आफ जजमेन्ट,पृ० ५३

"We may now conclude our examination of the transcendental dialectic. We have learned from it that Kant's investigation into reason and it's concept has confirmed the fact that the human mind is excluded from our knowledge of supersensible objects. Our field is the world of experience."

शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय जो स्थिति उत्पन्न करता है वह पूर्णतया एक भिन्न स्थिति है। हम शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय के व्यापक लक्ष्य और कार्य के बारे में विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे परन्तु इस सम्बन्ध में हम जो कुछ भी संकेत कर सकते हैं, वह यह है कि कान्ट तथा शंकर के द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी विचारों में मूलत: विभिन्नता है। द्वन्द्वन्याय के प्रयोग द्वारा शंकर जो कुछ भी दर्शाते हैं, वह तर्क बुद्धि की मलागृही व सैद्धान्तिक प्रक्रिया नहीं है बल्कि इसके द्वारा वह आनन्दमय जीवन के उस आदर्श से संलग्न विभिन्नताओं की न्याय असंगतता को दर्शाते हैं जिस आदर्श को हमें खोजना होता है। भ्रम-निवारण की जागृति की अवस्था में रह कर हम जीवन और वस्तुओं के प्रति वस्तुगत दृष्टिकोण द्वारा निर्धारित उद्देश्यों के साथ अपने आपको एकरूपित करके उस आदर्श को पाने के लिए बाध्य रहते हैं। शंकर के द्वन्द्वन्याय का लक्ष्य केवल वस्तुगत दृष्टिकोण के आत्मघाती स्वरूप को दिखाना है। यह वस्तुगत दृष्टिकोण इस अर्थ में आत्म-असिद्ध है कि यह आनन्दमय जीवन या मुक्त जीवन से असंगत है। आनन्दमय अन्तर्ज्ञान अर्थात् जीवन-दृष्टि जिसमें सम्पूर्ण कामनाएं तृप्त एवं शान्त हो जाती है और जिसमें भय, इच्छा या अभाव नहीं होता वह दृष्टि नित्यानन्द के लिए द्वैत, नानात्व आदि बाधक तत्वों को कोई भी स्थान नहीं देती। यहां हम अपने प्रतिपादित एवं विवेचित विषय का एक संक्षिप्त तथा सांकेतिक विवरण देते हैं। शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय आलोचना करने के लिए एक समीक्षा नहीं है जैसा कि हम कान्ट तथा माध्यमिक दर्शन में प्राप्त करते हैं। यहां द्वन्द्वन्याय के प्रमुख दो लक्ष्य हैं -- (१) यह दिखाना कि केवल अद्वैत दर्शन ही उस मोक्ष के लिए एक उचित बीजमंत्र है जो सम्पूर्ण मूल्यों का मूल्य है। केवल शंकर के दर्शन में ही नहीं जिसे कि हमें स्पष्ट करना है वरन् सब कथित अद्वैत इतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में भी अद्वैत ही बीजमंत्र है,[१]

---

१. श्री एस०एस० राय, दि हैरिटेज आफ शंकर, पृ० १४६-५०

(२) यह दिखाना कि मुक्ति ही जिसे कैवल्य और निर्वाण के रूप में वर्णित किया गया है, जीवन का आदि एवं अन्त अर्थात् सब कुछ है, सर्वोत्तम एवं सर्वोच्च लक्ष्य है, परम नि:श्रेयस है[१]। अन्य अद्वैत दर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदाय चाहे वह शास्त्र-सम्मत हों या शास्त्र विरुद्ध, चाहे वैदिक हों या अवैदिक, चाहे वेद-सम्मत हों या वेद-विरोधी, सभी एक साहचर्य एवं सामंजस्य रखते हुए भी आंशिक दृष्टिकोणों से युक्त हैं तथा सभी ने एक अपूर्ण दृष्टि से इस आनन्दमय अस्तित्व को देखा है। शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय का प्रयोजन केवल दृष्टि-सम्बन्धी इसी भूल को प्रदर्शित करना है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की उनके द्वारा आलोचना का उद्देश्य उनका खंडन करना तथा उन्हें निरर्थक प्रदर्शित करना नहीं था[२]। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रयत्न केवल यह दिग्दर्शित करना है कि यदि मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य तथा निर्वाण इत्यादि ही सब दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य है तो इससे यही स्पष्ट होता है कि इनमें एक अभेद दृष्टि ही कार्यशील होगी। इसलिए स्पष्ट रूप से हमें यह तथ्य प्राप्त होता है कि शंकर द्वारा विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की आलोचना करने का प्रमुख लक्ष्य उनकी विभिन्नताओं को दिखाने की अपेक्षा उनमें निहित भारतीय आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक चेतना की एकता को उपलब्धित करना था[३]।

---

१. पद्मपाद की पंचपादिका, वाल्यूम सी-७, अनुवादक डी० वेंकटरमइया, सम्पादक बी० भट्टाचार्य, पृ० ३७ (भूमिका में)
"The realisation of the ātman's identity with the Absolute is the highest human end--Paramapuruṣārtha."

२. श्री एस०एस० राय, दि हैरिटेज आफ शंकर, पृ० १५५
"Without standing in a situation antagonistic to other systems of Indian philosophical thought, the Advaita only helps to invest them with a transparency, which they lack in a false perspective."

३. स्वामी हनुमानदास जी षट्शास्त्री हिन्दी व्याख्याकार, महाकवि श्री हर्ष-प्रणीत, खण्डनखण्डखाद्यम्, श्री शंकर मिश्र विरचित 'शांकरी' सहित 'तत्त्व-

अत: शंकर के अद्वैत दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों के बीच जो असमानता है, उसकी अपेक्षा किसी भी भारतीय दार्शनिक विचार एवं कान्ट के दर्शनके बीच एक महान् अन्तर है । इसलिए कान्ट के विचार दर्शन तथा भारतीय विचार-दर्शन के मध्य एक अन्यन्त गहन खाईं दृष्टिगत होती है ।

शंकर के अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की उनकी आलोचना के विषय में द्वन्द्वन्याय का क्या प्रयोग है, यहां हम इसी का विवेचन करेंगे । विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय-सम्बन्धी शंकर की द्वन्द्वन्यायात्मक आलोचना का विवेचन हम निम्न दो समुदायों में करेंगे —

(१) शास्त्र-सम्मत समुदाय जिसमें सांख्य, वैशेषिक तथा अन्य आस्तिक दर्शन सम्मिलित हैं ।

(२) शास्त्र-विरोधी समुदाय जिसमें बौद्ध तथा जैन आदि दर्शन सम्मिलित हैं ।

शंकर द्वारा सांख्य दर्शन की आलोचना

प्राचीन भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सांख्य दर्शन की भी गणना एक अत्यन्त प्राचीन सम्प्रदाय के रूप में की जाती है[१] । एक ऐसा दर्शन सम्प्रदाय है जो दो प्रकार के प्रमाणों का दावा करता है :--(१) शास्त्र-सम्मत होने के कारण यह दर्शन धर्मग्रन्थों, शास्त्रों व श्रुति का समर्थन प्राप्त करने का दावा करता[२] है और (२) उत्कृष्ट रूप से निगमनात्मक या तर्कमूलक स्वरूप का होने के कारण जैसा कि इसका नाम भी `सांख्य दर्शन` है इसकी तर्क की वृत्ति उपलब्धित होती[३] है । वस्तुत: यह एक ऐसा दर्शन सम्प्रदाय है जिसके अनिवार्य अवयव तथा वैचारिक रूप इत्यादि अनुमान या तर्क से ही व्युत्पन्न हुए हैं । यह एक अनुमान-

---

१. डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्णविरचित सांख्यकारिका की विस्तृत भूमिका एवं भाषानुवाद सहित `अनुराधा` संस्कृत-हिन्दी विशद व्याख्या) पृ० १६

२. वही, पृ० २८-२६

प्रधान दर्शन है । परन्तु फिर भी सांख्य के विषय में जो कुछ कहा जा सकता है वह यह है कि सांख्य दर्शन पर वेद-शास्त्र के वचनों का प्रभाव है क्योंकि इसके प्रमुख सिद्धान्त किसी भी पहलू में श्रुति-वचनों से विरोध एवं असंगतता नहीं रखते ।

अद्वैत ब्रह्म-दर्शन के समर्थक के रूप में शंकराचार्य जी सांख्य दर्शन की आत्यन्तिक विशेषताओं तथा उसके विस्तृत विवेचन को द्वन्द्वन्यायात्मक परीक्षा का विषय बनाते हैं । द्वन्द्वन्यायात्मक परीक्षा का तात्पर्य है एक ऐसी परीक्षा जो पूर्णरूपेण तर्क पर आधारित है । ब्रह्मसूत्र पर की गयी अपनी व्याख्या में शंकर ने यह दिखाया है कि सांख्य दर्शन के प्रथम सिद्धान्त, उद्देश्य तथा अन्य सिद्धान्त सम्बन्धी विस्तृत विशेषताएं श्रुति के अभिप्राय एवं उचित अर्थ से सामंजस्य नहीं रखते, संगति नहीं रखते[१] ।

द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में सांख्य-दर्शन के सैद्धान्तिक आस्थाओं के अन्तर्गत एक विशुद्ध बौद्धिक या तार्किक समीक्षा की गयी है । यह संभव है कि एक मन्द-बुद्धि व्यक्ति अपनी अल्प-बुद्धि से सांख्य दर्शन जैसे किसी भी दर्शन से भ्रमित हो सकता है, इसलिए तार्किक रूप में यह दर्शाना व प्रमाणित करना अत्यावश्यक हो जाता है कि सांख्य दर्शन के सिद्धान्त तथा मत सर्वोच्च ज्ञान के स्वरूप से असंगत होते हुए बौद्धिक रूप से अरक्षणीय है जबकि केवल यह ज्ञान ही सर्वोच्च लक्ष्य अर्थात् मुक्ति की अनुभूति के लिए सहायक भी है । अतः शंकराचार्य द्वारा की गयी सांख्य दर्शन की आन्वीक्षात्मक परीक्षा का उद्देश्य इसका खण्डन मात्र करने के लिए ही सांख्य-दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन करना नहीं है । यहाँ पर विवक्षित लक्ष्य वेदान्त मत के सारभूत सिद्धान्तों की रक्षा प्रतिपक्षी की असंगतता को दिखा कर करना है, परन्तु प्रतिपक्षी की यह असंगतता केवल श्रुति के अर्थों से ही नहीं दिखाना है बल्कि वैध अनुमान के सिद्धान्तों व मापदण्डों से भी दृष्टिगत कराना है । इसके अतिरिक्त सांख्य द्वारा प्रतिपादित अनुमान तथा सिद्धान्तों का खण्डन करने में शंकर का प्रमुख स्वीकृत एवं प्रकट लक्ष्य यह

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा भाषानुवाद सहित, भाग दो, अध्याय २ पा-१, अधि-१ सू० १ पृ० ६३६

निग्दर्शित करना है कि सांख्य दर्शन सम्प्रदाय की प्रमुख भूल यह है कि इसने अपने संपूर्ण विचार एवं सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों को तर्क पर ही निर्मित किया है। तर्क तो केवल श्रुति का सहायक ही हो सकता है, यह स्वयं अपने आप सत्ता अथवा सत्य का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकता है[१]। जब तार्किक रूप से स्वीकृत किसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए तर्क का प्रयोग किया जाता है, केवल तभी तर्क को एक त्रुटिपूर्ण स्थान नहीं दिया जाता है।

प्रस्तुत विवेचित विषय के प्रसंग में ये दो बातें महत्वपूर्ण एवं विचारणीय हैं—

(१) सांख्य-दर्शन की आलोचना से उत्पन्न प्रमुख सिद्धान्तों व तथ्यों को तात्विक रूप में प्रस्तुत करना।

(२) यह दिखाना कि कहां तक सांख्य दर्शन के विचार-दृष्टि में सुधार करके और उसे पुनर्व्यवस्थित करके इस पक्ष का समर्थन किया जा सकता है कि पाश्चात्य दर्शनों की अपेक्षा सब भारतीय दर्शन-व्यवस्थाएं अद्वैत दर्शन के अधिक समीप हैं। अत: यहां हम सांख्य दर्शन को अद्वैत दर्शन के अत्यधिक समीप लाने का प्रयत्न करेंगे परन्तु यह व्यक्त करते समय हमें इस तथ्य को विस्मृत नहीं कर देना है कि जिस रूप में सांख्य दर्शन प्रस्तुत किया गया है, वह असंगतताओं एवं विरोधों से युक्त है तथा सर्वोच्च ज्ञान के लक्ष्य एवं प्रयोजन के विरुद्ध चला जाता है।

अद्वैत तथा सांख्य दोनों ही दर्शनों द्वारा स्वीकृत यह सर्वोच्च ज्ञान मोक्ष अर्थात् सर्वोच्च पुरुषार्थ या अंतिम मूल्य का समधिकारी है।

(१)

सांख्य दर्शन की एक बौद्धिक पुनर्परीक्षा के रूप में वर्णित करने की आवश्यकता क्यों उत्पन्न होती है तथा इसमें क्या-क्या त्रुटियां व कमियां निहित हैं, इनको शंकराचार्य जी बादरायण रचित ब्रह्मसूत्र के रचनानुपपत्त्यधिकरणम् की अपनी समीक्षा में निम्न प्रकार से निरूपित करते हैं —

---

१. पी०नागराज राव, इन्ट्रोडक्शन टू वेदान्त, पृ० ३४-३५ तथा पृ० ११३-१४

जब सांख्य विचारक उस मूलभूत कारण के स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयत्न करते हैं जिस प्रमुख कारण से जगत की रचना हुई है तब वे यह युक्ति देते हैं कि उस कारण को एक ऐसी सामान्य विशेषता से युक्त होना चाहिए जिसे हम संपूर्ण रचना या कार्यों में उपस्थित पाते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत में सामान्य परिलक्षित होने वाला तत्व ही जगत का मूल या अंतिम कारण होना चाहिए । दृष्टान्त के रूप में वे कहते हैं कि जिस प्रकार सभी पार्थिव रचनाएं जैसे घट इत्यादि पार्थिव होने के सामान्य गुण से युक्त होती हैं अर्थात् मृत्तिका का होना उनमें सामान्यतया व्याप्त है,इसलिए निश्चित ही उनके कारण के रूप में मृत्तिका को ही स्वीकार किया जाता है,उसी प्रकार जगत-सम्बन्धी आभ्यन्तर एवं बाह्य सभी अनुभूतियां जिनसे हम सम्बन्धित होते हैं,उन सर्वसामान्य अनुभवात्मक गुणों से युक्त हैं,जिन्हें सुखप्रद,दुःखप्रद तथा मोह के नाम से वर्णित किया जाता है । अतः सांख्य के अनुसार यह स्वीकार करना औचित्यपूर्ण है कि जगत का मूल कारण सुख-दुःख तथा मोह से निर्मित एक सामान्य अधिष्ठान ही है । अन्त में सांख्य दार्शनिक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि प्रधान या प्रकृति सुख-दुःख व मोह इन तीनों गुणों से युक्त है क्योंकि जगत में सभी पदार्थ इनसे परिपूर्ण दृष्टिगत होते हैं तथा किसी भी पदार्थ की भांति यह प्रकृति अचेतन भी है इसलिए जगत का अन्तिम मूल सर्वसामान्य कारण प्रकृति है ।[१] उदाहरणस्वरूप एक मृत्तिका का ढेर तथा इसके विभिन्न रूपान्तरण घट इत्यादि जिसे हम इसके परिणामी कार्यों के रूप में समझते हैं,चेतन पुरुष या आत्माओं के प्रयोजनों तथा आवश्यकताओं को तृप्त करते हैं । सांख्यों का यह मत है कि जगत में सब बाह्य एवं आभ्यन्तरिक विकार सुख,दुःख मोहात्मकता से युक्त हैं इसलिए इनका असाधारण कारण भी इन्हीं तीनों गुणों से युक्त होना चाहिए,जो सुख-दुःख मोहात्मक सामान्य है वह त्रिगुणात्मक प्रकृति प्रधान ही है ।[२]

---

१. डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी,सांख्यकारिका,भूमिका में,पृ० ८२

२. वही,पृ० ८३-८४

मृत्तिका की भांति यह अचेतन पुरुष के भोग और कैवल्य रूप अर्थ को सिद्ध करने के लिए अपने स्वभाव से ही विचित्र विकार रूप से कार्यशील रहती है।[1] सब प्रकट या प्रत्यक्ष तथा कार्यगत परिणामों या वस्तुओं की सीमा पर आधारित अन्य विशिष्ट तर्क विचार अप्रकट प्रधान या प्रकृति के विषय में स्वीकृत अनुमान का ही समर्थन करते हैं, अतः सांख्य यह अनुमान करते हैं कि सुख-दुःख मोहात्मक प्रधान ही जगत का मूल हेतु है।[2]

सांख्य की इस स्थिति के विरुद्ध हमें इस तथ्य का समर्थन करना है कि अचेतन प्रधान या प्रकृति से इस विचित्र जगत का निर्माण असम्भव है अर्थात् प्रकृति जगत का मूल कारण नहीं है।

हम देखते हैं कि सांख्य मत का अनुमान अनुभव एवं निरीक्षित दृष्टान्तों पर ही आधारित है परन्तु वस्तुतः जगत में कहीं भी हमें कोई ऐसा दृष्टान्त एवं अनुभव नहीं प्राप्त होता जिसमें प्रकृति के समान एक अचेतन तत्व एक चेतन नियन्त्रणकर्ता तथा निर्देशक के अभाव में किसी भी कार्यगत परिणाम को उत्पन्न करे तथा मानव को विभिन्न विशेष आवश्यकताओं को तृप्त करने में समर्थ हो। हमें स्पष्टतः प्रतीत होता है कि जगत में सर्वत्र परिलक्षित होने वाली वस्तुओं जैसे भवन, महल, शयन आसन तथा विभिन्न अट्टालिकाओं की रचना एक बुद्धिमान कलाकार ही काल के एवं आवश्यकता के अनुसार सुख की प्राप्ति एवं दुःख का निवारण करने के लिए अचेतन प्राकृतिक पदार्थों द्वारा ही करता है। इतना ही नहीं संपूर्ण बाह्य जगत में मानव के शुभाशुभ अनेक भिन्न-भिन्न कर्मफल के उपभोग के लिए एक उपयुक्त स्थल प्रदान करने के प्रयोजन से पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि जैसे अनेक तत्व भी प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त मानव तथा अन्य जीव पशु इत्यादि की भी सृष्टि में हमें वैचित्र्य दृष्टिगत होता है, हमारा शरीर विभिन्न असाधारण अवयवों से युक्त है तथा विभिन्न जातियों से युक्त असाधारण अवयवों से सुसज्जित

---

१. ईश्वरकृष्ण विरचिता, भावानुवाद एवं अनुराधा संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता, सांख्यकारिका, पृ० ५६

२. डाक्टर ब्रजमोहन चतुर्वेदी, सांख्य कारिका, भूमिका, पृ० ८२-८३

एवं रचित तथा अनेक कर्मफलों के अनुभव के अधिष्ठान रूप दृश्यमान शरीर से युक्त सभी प्राणिमात्र इत्यादि आध्यात्मिक जगत की रचना में भी वैचित्र्य दृष्टिगत होता है, क्या ऐसे अद्भुत विश्व का सृजन एक अचेतन जड़प्रधान द्वारा स्वीकार करना हमारे लिए संभव एवं उचित है ? किसी भी अचेतन पदार्थ जैसे मिट्टी, पत्थर इत्यादि में हमें इस प्रकार की शक्ति नहीं दिखायी देती कि वह चेतन कुम्भकार या शिल्पी के अभाव में ही घट या महल का निर्माण कर दे, इसके लिए एक चेतन कर्ता का होना अत्यन्त आवश्यक है[१]। अत: यदि हम प्रधान को ही अद्भुत जगत का मूल कारण स्वीकार करते हैं, तब इसे भी एक अन्य चेतन तत्त्व से अधिष्ठित मानना होगा तथा यह युक्ति प्रस्तुत करनी होगी कि अचेतन प्रधान या प्रकृति भी एक चेतन तत्त्व द्वारा ही नियन्त्रित व मार्गदर्शित होकर ही जगत का एक विचित्र कार्यरूप परिणाम में सृजन करती है। जब हम जगत के प्रमुखतया मूल कारण के निर्धारण का प्रयत्न करते हैं तब हमें इसके उपादान व निमित्त सभी कारणों का विचार करना चाहिए क्योंकि ऐसा कोई भी नियम तथा औचित्य नहीं है कि घट के कारण पर विचार करते समय हम केवल उसके उपादान कारण मिट्टी को ही प्रमुखता प्रदान करें तथा उसके चेतन बुद्धिमान निमित्त कारण का परित्याग कर दें। हमें एक चेतन बुद्धिमान कारण को अपरिहार्य रूप से मान्यता देनी चाहिए। ऐसा करने में हम किसी भी प्रमाण जैसे श्रुति, वेद आदि का विरोध नहीं करते वरन् उनको अनुगृहीत ही करते हैं, क्योंकि श्रुति स्वयं ही एक क्रियाशील चेतन कारण को मान्यता प्रदान करके उसका प्रतिपादन करती है। अत: संक्षेप में हमें यह कहना होगा कि प्रधान जगत का मूल कारण नहीं हो सकता क्योंकि इसकी वैचित्र्यपूर्ण कृति इसके सामर्थ्य से परे की वस्तु है[२]।

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रभा भाषानुवाद सहित, भाग दो, अध्याय-२ पा० २, अधि० १ सू० १, पृ० ११२१

२. वही, पृ० ११२१ तथा स्वामी श्री हनुमानदास जी षट्शास्त्री व्याख्याकार, एवं डा० वीरमणिप्रसाद उपाध्याय भूमिका लेखक, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी हिन्दी व्याख्यासहितम्. अ० २ पा० २. पृ० ४४७ ।

सांख्य-विचारक यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि समग्र आन्तरिक एवं बाह्य कारणों में सुख-दु:ख तथा मोह ही व्यापक गुण है,इसलिए उनका प्रमुख तथा मूलभूत कारण प्रधान या प्रकृति भी इन्हीं गुणों से विशेषित तत्वों को अपने में समाहित करेगी[१]।परन्तु इस कथित तथ्य का निराकरण हमारे अनुभव द्वारा हो जाता है। हम जानते हैं कि सुख दु:ख इत्यादि हमारी आन्तरिक दशाएं तथा अनुभूतियां हैं और वे कभी भी बाह्य पदार्थों को विशेषित नहीं करतीं। इन वस्तुओं का गुण विशेष इनका रंग-रूप,आकार विस्तार तथा शब्द आदि हैं परन्तु ये सुख दु:ख के समान कभी नहीं हो सकते हैं। बाह्य पदार्थ भले ही हमारे सुख दु:ख व आसक्ति के उत्तेजक कारण हो सकते हैं किन्तु वे स्वयं दुख सुख नहीं हो सकते हैं। हमें स्पष्ट रूप से यह परिलक्षित होता है कि एक ही विषय-वस्तु विभिन्न व्यक्तियों में पुरुष-वासना के वैचित्र्य से किसी में सुख बुद्धि,किसी में दु:ख बुद्धि तथा किसी में आसक्ति या मोह-वृत्ति उत्पन्न करते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न मानसिक अवस्थाओं तथा रुचियों के कारण विभिन्न वृत्तियां उत्पन्न करती है,उदाहरण स्वरूप एक ही ध्वनि एक व्यक्ति के लिए सुखप्रद होती है,दूसरे के लिए दु:खप्रद तथा एक तीसरे व्यक्ति के लिए सुख दु:ख रहित उपेक्षणीय होती है[२]। अत: उपरोक्त युक्ति भी त्रुटिपूर्ण है।

प्रधान को जगत के मूल कारण के रूप में मान्यता देने के लिए सांख्य दार्शनिक इसके समर्थन में यह तर्क भी देते हैं कि तत्वों के संयोग तथा संसर्ग के कारण ही अनेक आन्तरिक तथा बाह्य विषयों की ससीमता एवं परिमितता अथवा पृथकता निर्धारित होती है क्योंकि सीमित वस्तुएं जैसे एक वृक्ष का जड़ रूप में आना तथा उसका अंकुरित होना इत्यादि कई तत्वों के संसर्ग से ही ~~सम्भव~~ सम्भव होता है। ये सभी वस्तुएं जटिल व मिश्रित स्वरूप की होती हैं तथा उनके निर्माण में भी अनेक जटिल तत्व ही कार्यशील रहते हैं,अत: इनका कहना है कि चूंकि ब्रह्म एक अद्वैत,असीमित तत्व है और वहां तत्वों की अनेकता का कोई

---

१. डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी,सांख्यकारिका,भूमिका पृ० ८३

२. जार्ज थीबू,दि वेदान्त सूत्र (विद दि कमेंट्री बाई शंकराचार्य) पार्ट-१,अ०दो, पा० दो,पृ० ३६६

भी स्थान नहीं है,इसलिए शुद्ध नहीं वरन् सत्व,रज व तम तथा इन जटिल तथा मिश्रित तत्वों को समाहित करने वाली प्रधान प्रकृति ही उनका मूल कारण हो सकती है।[१]

अद्वैत दर्शन-धारणा के अनुसार सांख्य की उपरोक्त युक्ति भी तर्कसंगत नहीं है। इनको युक्ति-अनौचित्यता को दर्शाते हुए इनका यह कहना है कि यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि ससीमता या परिमितता संसर्ग की पूर्व अपेक्षा करती है तब हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि सत्व,रजस व तमस इन गुणों को भी एक दूसरे से परिमित होने के कारण अर्थात् इनमें समान परिमितत्व होने से इनको भी संयोग या संसर्ग की पूर्वमान्यता वैसी होगी तथा उत्पन्न होने के लिए अनेक तत्वों की आकांक्षा करनी होगी। परन्तु सांख्य के अनुसार ये तीनों ही गुण किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करते बल्कि स्वयं ही अन्तिम कारण त्रिगुणमयी प्रकृति की रचना करते हैं,अतः संसर्गाभाव से भी प्रकृति जगत का कारण नहीं सिद्ध होती है।[२] इसके अतिरिक्त कारण-कार्य के सरल सम्बन्ध से भी बाह्य एवं आभ्यन्तरिक समग्र वस्तुओं के अनुभव के लिए प्रधान जैसे एक अचेतन आदि कारण की सिद्धि व अनुमिति नहीं होती है। यद्यपि अपेक्षापूर्वक निर्मित शयन् आसन आदि वस्तुओं के सम्बन्ध में कार्य-कारण भाव दृष्टिगत होता है तथापि यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि उनकी उत्पत्ति केवल उपादान पदार्थों से ही सम्भव है,कहने का तात्पर्य यह है कि असंदिग्ध रूप से एक निमित्त चैतन कारण की अपेक्षा भी कर सकते हैं,जिसके अभाव में कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता है।[३] अतः इस प्रकार भी सांख्य का अचेतन प्रधान जगत का मूल कारण नहीं हो सकता है।

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा,ब्रह्मसूत्र,शांकरभाष्य,रत्नप्रभा भाषानुवादसहित,भाग दो, अ०२ पा० २ अधि-१ सू०१,पृ० ११२३-२४

२. वही,पृ० ११२३-२४

३. व्याख्याकार स्वामी श्री हनुमानदास जी षट्शास्त्री तथा डा० वीरमणिप्रसाद उपाध्याय (भूमिका लेखक),ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्, ` ब्रह्मसूत्र ब्रह्मतत्वं विमर्शिनी ` हिन्दी व्याख्यासहितम्,अध्याय २,पा० २,पृ० ४४७

शंकराचार्य जी प्रधान कारणवाद की अनौचित्यता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि हम विश्व-रचना की समस्या पर विचार न भी करें तब भी हम इस तथ्य से अवगत नहीं हो सकते कि जड़ प्रकृति या प्रधान में रचनादि कार्यों के लिए किसी प्रकार की प्रवृत्ति या क्रियाशीलता किस प्रकार संभव है, क्योंकि जगत की रचना करना तो दूर की बात है, जड़ प्रकृति में किसी भी प्रवृत्ति का होना भी असम्भव प्रतीत होता है। हम जानते हैं कि सत्व, रजस व तमस इन तीनों की साम्यावस्था ही प्रकृति या प्रधान[1] है और यही प्रकृति की स्वाभाविक तथा अव्यक्त अवस्था है, जिसमें इसके संघटक तत्व एक दूसरे के विरुद्ध संतुलित रूप में विद्यमान रहते हैं, इसलिए इनमें से किसी को भी एक दूसरे पर कोई प्रधानता या आधीनता नहीं रहती है। परन्तु प्रकृति या प्रधान में सर्जनात्मक प्रवृत्ति तब प्रारंभ होती है जबकि साम्यावस्था में विक्षोभ हो और उसके संघटक त्रिगुण परस्पर आधीनता एवं श्रेष्ठता के द्वारा सम्बन्धित हों अर्थात् किसी गुण का प्राधान्य या तिरोभाव होने के कारण अन्य गुणों का अंगत्व, शेषत्व हो। यह मौलिक प्रवृत्ति जड़ एवं अचेतन है। कोई भी जड़ पदार्थ जैसे मृत्तिका, काष्ठ, वस्त्र, रथ तथा घट आदि किसी चेतन या बुद्धिमान कर्ता जैसे कुम्भकार व कारीगर इत्यादि के अभाव में किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने की प्रारम्भिक या पहल-शक्ति नहीं रखता है हम दृष्ट से ही किसी अदृष्ट को समझ सकते हैं तथा सिद्ध कर सकते हैं। कि चूंकि हम किसी भी चेतनशून्य जड़ वस्तु में किसी मौलिक प्रवृत्ति को कभी भी नहीं देख सकते जब तक कि वह किसी चेतनकर्ता द्वारा अधिष्ठित न हो इसलिए सांख्य द्वारा प्रतिपादित अचेतन प्रधान में भी प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती[2] है। अतः अचेतन प्रधान भी स्वतंत्र रूप से स्वयं ही जगत का कारण नहीं हो सकता, इस प्रकार भी सांख्य के प्रधान कारण का अनुमान अतार्किक सिद्ध हो जाता है।

सांख्य विचारक पुनः यह आक्षेप प्रस्तुत कर सकते हैं कि केवल चेतन में भी प्रवृत्ति नहीं दृष्टिगत होती है। इसके उत्तर में शंकर यह कहते हैं कि उपरोक्त

---

१. "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।" - सांख्य प्रवचनसूत्र १।६१

२. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य - रत्नप्रभा भाषानुवाद सहित, भाग दो, अ०२, पा० दो, अधि० १ सू०२, "अचेतन प्रधान की साम्यावस्थाप्रच्युतिरूप प्रवृत्ति की चेतन के बिना उपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए भी प्रधान जगत का कारण नहीं हो सकता।"- पृ० ११२५।

युक्ति सत्य है परन्तु हमें इस सत्य पर भी विचार करना चाहिए कि चेतन तथा अचेतन के परस्पर सम्बन्ध से ही सृष्टि की प्रवृत्ति होगी, कहने का अभिप्राय यह है कि रथ इत्यादि अचेतन पदार्थ सारथी आदि चेतन पदार्थों की संयुक्तता से ही प्रवृत्त होते हैं। जब चेतन तथा जड़ दोनों एक दूसरे के संसर्ग में ही प्रवृत्त होते हैं तब हमारा यह प्रश्न पुन: अनिर्णीत ही रह जाता है कि प्रवृत्ति का अधिष्ठाता कौन है—चेतन या जड़ क्योंकि चेतन भी तो अचेतन के सायोग से ही क्रियाशील प्रतीत होता है। सांख्य चिन्तक प्रधान-कारणवाद का प्रतिपादन करते हुए यह युक्ति देते हैं कि प्रवृत्ति प्रत्यक्ष रूप से रथ, देह इत्यादि अचेतन में ही परिलक्षित होती है, अदृष्ट चेतन में नहीं, इसलिए प्रवृत्ति उसी की है जिसमें वह दृश्य है। उनकी युक्ति का तात्पर्य यह है कि केवल चेतन ही रथ तथा शरीर की भांति किसी प्रवृत्ति के आश्रय के रूप में दृष्टिगत नहीं होता है, हम किसी जड़ पदार्थ के साहचर्य एवं संयोग से ही चेतन का अनुमान भी करते हैं, चेतन से चेतन के संयोग द्वारा नहीं, दृष्टान्त स्वरूप शरीर से आत्मा का अनुमान होता है, आत्मा से आत्मा का नहीं। वस्तुत: शरीर ही प्रवृत्तिमान होता है, चार्वाक दार्शनिक भी इसी युक्ति का समर्थन करते हुए यह कहते हैं कि चेतन की प्राप्ति देह के सम्बन्ध से ही होती है।[१] इसलिए सांख्य-दार्शनिक इस निष्कर्ष की मान्यता देते हैं कि प्रत्यक्ष, दृष्ट आश्रय अचेतन वस्तु में ही प्रवृत्ति की उपपत्ति संभव है, अदृष्ट चेतन में नहीं इसलिए अचेतन ही प्रवृत्ति का अधिष्ठाता है।[२]

उपरोक्त वर्णित सांख्य मत के विरुद्ध अद्वैत दार्शनिक शंकर चेतन को ही प्रवृत्तिशील मानते हुए इसी को सम्पूर्ण क्रियाशीलता अथवा प्रवृत्ति का अन्तिम व एकमात्र अधिष्ठाता स्वीकार करते हैं। सांख्य मत की अनौचित्यता को सिद्ध करते हुए वह कहते हैं कि हम इस तथ्य का विरोध नहीं करते कि प्रवृत्ति अचेतन में दृष्टिगत होती है, परन्तु इसके साथ ही हम इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं

---

१. स्वामी श्री हनुमानप्रसाद जी षट्शास्त्री (व्याख्याकार) तथा डा० बी०पी० उपाध्याय (भूमिका लेखक), ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्यम्, ब्रह्मतत्वविमर्शिनी- हिन्दी व्याख्यासहितम्, अ०२ पा० २, पृ० ४४६

२. जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र (शांकरभाष्य सहित) पार्ट-१ अं०२ पा० २ सू०२, पृ० ३६८ ।

कर सकते कि--अचेतन में प्रवृत्ति चेतन के कारण ही सम्भव है क्योंकि चेतन के अस्तित्व से ही अचेतन का अस्तित्व है । चेतन के अभाव से अचेतन का अभाव भी प्रत्यक्षत: दिखायी देता है जैसे--दाह एवं प्रकाश लकड़ी या ईंधन में भी दृष्टिगत होते हैं केवल अग्नि में नहीं, परन्तु उनका अस्तित्व अग्नि से ही संभव है, लकड़ी का अग्नि से संयोग होने पर ही दाह एवं प्रकाश दिखायी देता है वियोग होने पर नहीं इसलिए कोई भी व्यक्ति उनके अस्तित्व की कल्पना केवल ईंधन या लकड़ी से नहीं कर सकता है । चेतन का शरीर के साथ संयोग होने पर ही शरीर में प्रवृत्ति दिखायी देती है । चार्वाक् दार्शनिक भी देह तथा चेतना को एक ही समझते हुए इस तथ्य को मान्यता प्रदान करते हैं कि चेतन शरीर रूपी अचेतन रथ का प्रवर्तक होता है । अत: अद्वैत दार्शनिक प्रवृत्ति का प्रवर्तक चेतन को ही स्वीकार करते[1] हैं तथा सांख्य मत के प्रधान-कारणवाद को तर्क-संगत नहीं कहते हैं ।

सांख्य दर्शन में पुरुष को निष्क्रिय तथा उदासीन माना गया है, इसलिए वे उपरोक्त अद्वैत सिद्धान्त पक्ष के विरुद्ध अपना यह प्रतिपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि एक शुद्ध चेतन निष्क्रिय पुरुष किस प्रकार किसी भी वस्तु में क्रिया प्रवृत्त कर सकता है अथवा वह किस प्रकार क्रियाशील या प्रवृत्तिशील हो सकता है । अपने प्रतिपक्षी की इस युक्ति का निराकरण करते हुए शंकराचार्य जी कहते हैं कि यदि अन्य पदार्थ प्रवृत्ति-रहित निष्क्रिय पदार्थों के साथ उचित सम्पर्क रखते हैं तब वे प्रवृत्तिविहीन पदार्थ अन्य पदार्थों के प्रवर्तक हो जाते हैं, उदाहरणस्वरूप लोह-चुम्बक लोहे के समीप आने पर लोहे का प्रवर्तक हो जाता है तथा रूप, रंग आकार आदि विषय प्रवृत्तिरहित होने पर भी नेत्रों के प्रवर्तक हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार समग्र वस्तुओं में अन्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वज्ञाता, सर्वदृष्टा तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर भी जगत की समस्त वस्तुओं तथा सत्ताओं को प्रवृत्तिरहित होते हुए भी प्रवृत्त एवं परिचालित करता है । इस सम्बन्ध में एक यह समस्या

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य--रत्नप्रभा--भाषानुवाद सहित, द्वितीय भाग, अ०२, पा० २ अधि०१ सू-२, पृ० ११३०-३१)

उत्पन्न हो जाती है कि जब शंकर का वेदान्त अद्वैत या एकत्व का प्रतिपादन करता है तब परिचालक ईश्वर और परिचालित जगत का द्वैत कैसा है ? इसके समाधान के लिए अद्वैती शंकर कहते हैं कि यह द्वैत तो अविद्या के कारण है। अनेक स्थलों पर इसका निराकरण करते हुए शंकर ने हमें इस तथ्य से अवगत कराया है कि अविद्या से कल्पित नाम -रूपात्मक माया के वशीभूत होकर ही हम ईश्वर, जीव, जगत आदि इस प्रकार के द्वैत को जगत की व्यावहारिक सत्ता में देखते हैं, यही गौरव है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से तो केवल ब्रह्म ही है, न तो जगत है और न उसका परिचालक, व्यावहारिक दृष्टि से ही परिचालक और परिचालित, कारण व कार्य का भेद है। यह भेद भी हमारी अज्ञानता के कारण है[1], अन्य शब्दों में सत्ता के प्रति हमारे दूषित व विकृत दृष्टिकोण के कारण है, अतः चेतन कारण में ही प्रवृत्ति की उपपत्ति हो सकती है, प्रधान कारण में नहीं।

सांख्य-चिन्तक अचेतन प्रकृति को प्रवर्तक के रूप में स्वीकार करने के लिए एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रकृति या प्रधान को क्रियाशील होने के लिए किसी अन्य उपेक्षक कारण की अपेक्षा नहीं है, वह स्वतः प्रवर्तित है। वे इसे इस दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—जिस प्रकार अचेतन दूध स्वभाव से ही बछड़े की वृद्धि व पुष्टि के लिए प्रवृत्त होता है तथा अचेतन जल स्वभाव से ही सब के उपकार व कल्याण के लिए स्वतः ही नदी, निर्झर आदि में प्रवाहित होता रहता है ठीक उसी प्रकार अचेतन प्रधान की भी स्वाभाविक रूप से पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति हो सकती है अर्थात् जड़ प्रकृति भी जगत के रचना के कार्य में चेतन के बिना स्वयं ही प्रवृत्त हो सकती है[2]। इन दृष्टान्तों द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि कोई भी अचेतन वस्तु चेतन के अभाव में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवृत्तिशील नहीं हो सकती है इसलिए सांख्य के प्रधान को प्रवृत्तिवान नहीं स्वीकार किया

---

१. डा० एस० राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, दि फिलासफी आफ स्पिरिचुअल लाइफ, पृ० २६।

२. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।।५७।। --सांख्यकारिका ब्रजमोहन चतुर्वेदी, सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका की विस्तृत भूमिका एवं भावानुवाद सहित 'अनुराधा' संस्कृत हिन्दी विशद व्याख्या, पृ० १८७-८८।

जा सकता है । चेतन गाय के थन में दूध का कारण उसका वात्सल्य प्रेम तथा चेतन बछड़े का दूध पीना है, जल के प्रवाहित होने में भी शर्त यह है कि वह सदैव नीची भूमि-सतह की ओर ही बहता है, लोक-कल्याण के लिए वह स्वयं उठ कर ऊपर नहीं चला जाता, चेतन मनुष्य अपने लाभ हेतु जल-प्रवाह को किसी भी दशा में मोड़ सकता है अतः चेतन ही प्रवृत्ति का कारण है । श्रुति-वाक्य भी सुस्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि समस्त जड़-पदार्थों का परिचालक चेतन ही है[1] । रथ भी चेतन सारथी के द्वारा ही चलायमान होता है । किसी भी निर्जीव जड़ पदार्थ में क्रियाशीलता का कोई बाह्य उत्तेजक कारण ही होता है । प्रवृत्ति में सदैव चेतन की अपेक्षा रहती है इसलिए सांख्य का जड़-प्रधान स्वतः जगत की सृष्टि में प्रवृत्त नहीं हो सकता है । श्रुति की स्पष्ट घोषणा के अनुसार ईश्वर ही सम्पूर्ण वस्तुओं में व्याप्त वह चेतना है जो जल, नदी, निर्झर, दुग्ध इत्यादि समस्त वस्तुओं की प्रवृत्ति का संचालक एवं नियन्ता है । दुग्ध व जल की स्वतः गतिशीलता के खण्डन से इस तथ्य का भी पूर्ण विरोध हो जाता है कि किसी भी वस्तु में प्रवृत्ति या रूपान्तरण अथवा परिणाम किसी बाह्य उत्तेजक के अभाव में स्वतंत्रता-पूर्वक होता है । परन्तु यह युक्ति लोक-दृष्टि से मनुष्य के सामान्य अनुभव पर आश्रित है और शास्त्र-दृष्टि से एक परम दार्शनिक दृष्टिकोण द्वारा हम सर्वत्र ईश्वर की ही अपेक्षा करते हैं तथा निर्विरोध एवं एकाद्य रूप से चेतन ईश्वर को ही सम्पूर्ण जगत का प्रवर्तक मानते हैं[2] ।

सांख्य विचारक प्रधान को स्वतंत्र एवं निरपेक्ष मानते हैं तथा इससे बाहर किसी वस्तु का इस पर कोई प्रभाव नहीं स्वीकार करते इसीलिए वे यह नहीं समझा सकते कि प्रधान प्रवृत्ति में कैसे प्रवृत्त होता है । तीन गुणों की साम्यावस्था से ही प्रधान निर्मित है, उनकी साम्यावस्था को क्षुब्ध करने के लिए कोई बाह्य तत्व नहीं है इसलिए भी प्रधान में कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रभा--भाषानुवाद सहित, अ०२ पा० २ अधि० १ सू० ३, पृ० ११३२-३३

२. वही, पृ० ११३४

पुरुष भी निष्क्रिय तथा उदासीन होता है इसलिए वह प्रवर्तक या निवर्तक नहीं हो सकता है। प्रधान अपेक्षारहित है इसलिए यह निश्चय एवं सिद्ध नहीं हो पाता है कि सांख्य कहां और क्यों किस प्रकार से कभी [redacted] महत् आदि अपने विभिन्न परिणामों या विकारों में परिणत होता है, कभी नहीं होता है। ईश्वर तो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञाता है एवं मायाशक्ति से युक्त है इसलिए अवसर तथा मांग के अनुसार उसके प्रवर्तक तथा निवर्तक होने में कोई विरोध नहीं है।[1] यदि जगत की सृष्टि करना प्रधान का स्वभाव है, तब गुणों की साम्यावस्था या प्रलय का कोई स्थान ही नहीं रह जाता है और यदि सृष्टि उसका स्वभाव नहीं है तब उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः इस प्रकार भी प्रधान कारणवाद अयुक्त सिद्ध होता है।[2]

अपने पक्ष के समर्थन में सांख्य-विचारक पुनः यह युक्ति प्रेषित करते हैं कि जिस प्रकार तृण, घास आदि किसी बाह्य साधन के अभाव में भी अर्थात् किसी बाहरी वस्तु की सहायता के बिना ही स्वाभाविक रूप से दूध में परिवर्तित हो जाते हैं उसी प्रकार प्रधान भी किसी सहायक या निमित्त कारण की अपेक्षा किये बिना ही महत्, तन्मात्राओं इत्यादि विभिन्न शेष विकारों में स्वाभाविक रूप से रूपान्तरित होता है। इनकी यह युक्ति भी अतार्किक है क्योंकि तृण आदि का दूध में रूपान्तर विशेष दशाओं में सम्भव है, गाय द्वारा उपभुक्त तृण ही दूध में परिणत होते हैं, किसी प्रकार से नष्ट हुए तृण या बैल एवं घोड़े आदि से उपभुक्त तृण दूध के रूप में नहीं परिणत होते हैं।[3] प्रधान की स्वाभाविक

---

१. जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र, पार्ट १, अ०२ पा० २-५, पृ० ३७०-७१,
" The activity and non-activity(by turns) of the Lord, on the other hand, are not contrary to reason, on account of his omniscience and omnipotence, and his being connected with the power of illusion(Maya)."

२. स्वामी श्री हनुमानदास जी षट्शास्त्री व्याख्याकार तथा डा० वी०पु० उपाध्याय भूमिका लेखक, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम, 'ब्रह्मतत्वविमर्शिनी' हिन्दी-व्याख्या सहितम्, अ०२ पा०२, पृ० ४५१.

३. यतिवर श्री भोलेबाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रभा भाषानुवाद सहित, अ०२, पा० २ अधि० १ सू० ५, पृ० ११३७।

प्रवृत्ति का समर्थन करने के लिए सांख्य तर्क करते हैं कि चूंकि हम किसी भी ऐसी वस्तु का ज्ञान नहीं रखते जो तृण को दूध में परिवर्तित कर दे, इसलिए हमें यह स्वीकार करना होगा कि घास निरपेक्ष रूप से दूध में परिवर्तित होती है। यदि हम किसी ऐसी वस्तु से अवगत होते तो हम अपनी इच्छानुसार उपरोक्त प्रकार के परिवर्तन को सम्भव बना कर घास से दूध प्राप्त कर लेते परन्तु ऐसा सम्भव नहीं होता इसलिए तृण का दूध में परिणत होना सुस्पष्ट रूप से यह दिग्दर्शित करता है कि यह परिणति स्वाभाविक है। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि इसी प्रकार प्रधान भी स्वाभाविक रूप से तथा निरपेक्ष रूप से अपने विभिन्न विकारों में परिवर्तित होता है। सांख्य विचारकों का यह तर्क भी संगतपूर्ण नहीं है क्योंकि हम जानते हैं कि घास गाय द्वारा ही खायी जाने पर दुग्ध में परिणत होगी, बैल, घोड़े इत्यादि के खाने से अथवा अन्यत्र कहीं इसे छोड़ देने से यह दूध में नहीं परिवर्तित होगी, अत: स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि घास को दूध में परिवर्तित करने के लिए अनिवार्यतया एक बाह्य कारण की अपेक्षा रहती है। बहुत से कार्य मानव द्वारा सम्पादित होते हैं तथा बहुत से कार्य दैवी शक्ति या विधान द्वारा सम्पादित होते हैं, परन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि यदि अपनी इच्छानुसार मनुष्य तृण को दूध में परिवर्तित नहीं कर सकता तो यह परिवर्तन स्वाभाविक, निरपेक्ष एवं निमित्तरहित हो। इसके अतिरिक्त मनुष्य अपनी इच्छा से गाय को पुष्ट चारा देकर दूध की मात्रा में वृद्धि भी कर सकता है, इसलिए सांख्य का यह कथना कि जिस प्रकार तृण दूध में परिवर्तित होता है उसी प्रकार प्रधान भी स्वाभाविक एवं निरपेक्ष रूप से अपने समस्त विभिन्न विकारों में परिवर्तित होता है, युक्तिसंगत एवं तर्कसंगत नहीं है।

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य रत्नप्रभा भाषानुवाद सहित, अ०२, पा०२, अधि०१ सू० ५ पृ० ११३८।

यद्यपि यह सिद्ध एवं स्पष्ट है कि प्रधान स्वभाविक प्रवृत्ति से विहीन है परन्तु फिर भी यदि हम यह स्वीकार कर भी लेते हैं कि प्रधान स्वाभाविक प्रवृत्ति से युक्त होकर ही अपने विभिन्न विकारों में परिवर्तित होता है,तब भी हमें इस परिवर्तन का कोई प्रयोजन नहीं दृष्टिगत होता है । जिस प्रकार प्रधान को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति में किसी सहायक तत्व की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार इसे किसी प्रेरक तत्व या प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं होगी । परन्तु ऐसी स्थिति में सांख्य दार्शनिकों की इस मान्यता का कोई मूल्य नहीं रह जायेगा कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के भोग और अपवर्ग अर्थात् कैवल्य के लिये होती है । यदि वे यह कहते हैं कि प्रधान सहायक कारण की अपेक्षा नहीं रखता किन्तु प्रयोजन की अपेक्षा या आवश्यकता से तो युक्त है ही क्योंकि सहकारी से निरपेक्ष होने का तात्पर्य प्रयोजन-निरपेक्षता नहीं है,तब भी उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजन क्या है --पुरुष का भोग अथवा कैवल्य या भोग तथा कैवल्य दोनों हो । यदि यह प्रयोजन भोग है तब यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रधान संभवत: किस प्रकार के भोग के प्रयोजन से युक्त हो सकता है जबकि इसमें किसी प्रकार की वृद्धि इसकी सत्ता के लिये नहीं है । इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जाय कि प्रधान को प्रवृत्ति पुरुष के भोग के प्रयोजन के लिए है तब यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि सुख आदि से अतिशय रहित,निर्लिप्त,असंग,निर्विकार,निर्मल तथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध व मुक्त पुरुष का भोग किस प्रकार होगा क्योंकि यदि भोग होता भी है तो वह भोग के बन्धनों से कभी मुक्त नहीं हो सकेगा । यदि प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजन बंधन से पुरुष की मुक्ति ही है तो प्रधान की प्रवृत्ति से पहले ही पुरुष के मुक्त होने के कारण प्रधान की प्रवृत्ति निरर्थक एवं अनावश्यक होगी,इतना ही नहीं मोक्ष को प्रयोजन मानने से रूप,रस,गन्ध,स्पर्श तथा शब्द इत्यादि संवेदन स्वरूप भोग का अस्तित्व ही नहीं रहेगा । यदि प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजन भोग व अपवर्ग दोनों ही हैं तब असीमित एवं अनन्त भोग्य पदार्थों का अस्तित्व होगा तथा भोग का कभी अन्त नहीं होगा और परिणामस्वरूप मोक्ष का

प्रयोजन नष्ट हो जावेगा । यह मानना भी संभव नहीं है कि प्रधान की प्रवृत्ति अपनी जिज्ञासा या उत्सुकता की निवृत्ति व सन्तुष्टि के लिए है, क्योंकि अचेतन प्रधान में जिज्ञासा व इच्छा का अभाव है तथा निर्मल एवं असंग पुरुष में भी जिज्ञासा व उत्सुकता नहीं हो सकती है । इस तथ्य को स्वीकार करके भी समस्या का हल नहीं मिलता कि प्रधान अपनी क्रियात्मक या सर्गशक्ति की सार्थकता हेतु तथा पुरुष की ज्ञानात्मक तथा दृक्शक्ति की सार्थकता के लिए प्रवृत्ति से युक्त है क्योंकि दोनों ही शक्तियाँ के नित्य होने के कारण मोक्ष सम्भव नहीं होगा, जिस प्रकार पुरुष की दृक् व ज्ञान शक्ति नित्य है उसी प्रकार प्रधान की कृत या सर्गशक्ति के नित्य होने से संसार का विनाश सम्भव नहीं होगा और फलस्वरूप मोक्ष का अभाव बना रहेगा, अत: यह युक्ति कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के प्रयोजन के निमित्त है, तर्कसंगत नहीं है ।[1]

सांख्य दार्शनिक पुरुष-प्रकृति के संयोग द्वारा पुरुष को प्रधान के प्रवर्तक के रूप में दर्शाते हैं तथा इसके लिए वे इस प्रकार का साम्यानुमानिक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं--जिस प्रकार दर्शन-शक्ति से युक्त परन्तु गमन-शक्ति से रहित एक पंगु पुरुष, गमन शक्ति से युक्त किन्तु दृष्टि शक्ति से विहीन एक अन्य अन्धे पुरुष के कन्धे पर बैठ कर पारस्परिक संयोग द्वारा दोनों ही अपनी यात्रा सम्पादित करते हैं जबकि उनमें से प्रत्येक अलग-अलग इसे पूरा करने की सामर्थ्य नहीं रखता और जिस प्रकार लौह-चुम्बक स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ भी लोहे को अपनी ओर प्रवृत्त करता है उसी प्रकार चेतन परन्तु निष्क्रिय पुरुष अचेतन परन्तु क्रियाशील प्रधान को प्रवृत्त करता है । परन्तु ये युक्तियां इनकी आधारभूत मौलिक परिकल्पना को ही ध्वस्त कर देती हैं तथा असंगत बना देती है क्योंकि इनके विचारानुसार तो प्रधान स्वयं ही निरपेक्ष रूप से प्रवृत्तमान होता है, इसलिए पुरुष द्वारा प्रवर्तित होने से इसकी निरपेक्षता समाप्त हो जाती है और इनका पुरुष भी उदासीन एवं निष्क्रिय होने के कारण प्रधान को प्रवृत्त नहीं कर सकता है । अन्धा व्यक्ति तो अपनी ही शब्द-वाणी चेतना द्वारा पंगु व्यक्ति

---

१. वही, पृ० ११४१

का मार्ग-निर्देशन करता है परन्तु सांख्य के पुरुष में कुछ भी प्रवर्तक क्रिया नहीं है क्योंकि वह निर्गुण एवं निष्क्रिय है । यह कहना भी युक्ति-संगत नहीं है कि लौह-चुम्बक के समान प्रकृति की समीपता व सानिध्य से पुरुष उसे प्रवृत्त करता है क्योंकि पुरुष के अपेक्षित नित्य सानिध्य से प्रधान की प्रवृत्ति में भी नित्यता होगी और यह कभी नष्ट नहीं होगी । लौह-चुम्बक व लौहे का अपेक्षित सामीप्य अनित्य एवं आकस्मिक है, नित्य नहीं है तथा यह सानिध्य किसी क्रिया द्वारा सन्निहित किया जाता है, इसके अतिरिक्त परिमार्जन आदि द्वारा लोहे को किसी क्रिया के योग्य बनाया जाता है । इस प्रकार लौह-चुम्बक व लौहे का तथा पंगु व अन्धे व्यक्ति का समदृष्टान्त पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध में वस्तुत: प्रयुक्त नहीं हो सकता है[१] ।

सांख्य के प्रधान तथा पुरुष अचेतन एवं उदासीन है और वे किसी तीसरे सत्व को स्वीकार नहीं करते इसलिए इनके अनुसार प्रकृति पुरुष के किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की व्याख्या नहीं की जा सकती है । यदि चित् और जड़ शक्तियों से युक्त होने के कारण पुरुष को दृष्टा, भोक्ता आदि योग्यताओं से परिपूर्ण तथा जड़ प्रधान को दृश्यरूप एवं भोग्य की योग्यताओं से परिपूर्ण मान कर उनके सम्बन्ध की व्याख्या की जाती है, तब हम देखते हैं कि दोनों की विभिन्न योग्यताएं नित्य होंगी और ऐसा होने से पुरुष सदैव भोक्ता तथा प्रकृति सदैव भोग्य पदार्थ बनी रहेगी और पुरुष के लिए मोक्ष कभी संभव नहीं हो सकेगा । इस प्रकार पूर्व आरोप के समान यहां भी प्रयोजन के अभाव की समस्या बनी रहेगी । अद्वैत मत के अनुसार तो परम ब्रह्म अपने स्वरूप में उदासीन, निर्विकार तथा निष्क्रिय है किन्तु माया के आश्रय से वह प्रवर्तक है, क्रियाशील है[२] ।

---

१. वही पृ० १९४३-४४ तथा डा० चन्द्रधर शर्मा, बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृ०१६७-६८
२. जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र पार्ट १, पृ० ३७४

हम इस प्रमुख तत्व से अवगत हैं कि सत्व, रजस व तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रधान की अवस्था है, अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रधान की स्वाभाविक अवस्था में तीनों गुण अपने मूलरूप में अलग अलग रहते हैं तथा परस्पर अपेक्षारहित रहते हैं।[1] इस प्रकार की स्थिति में किसी भी प्रकार की सृष्टि अथवा प्रवृत्ति असम्भव है क्योंकि गुणों में अनपेक्षता होने के कारण क्षोभ नहीं हो सकता और अंगांगिभाव नहीं बन सकता है, यहां कोई अन्य बाह्य शक्ति भी नहीं है जो उनमें क्षोभ उत्पन्न करे अत: ऐसी अवस्था में सर्वथा प्रवृत्ति का अभाव होगा और गुणों की विषमता से उत्पन्न होनेवाले महत् आदि विकारों की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।[2]

यदि सांख्य के पक्ष में इस प्रकार तर्क प्रस्तुत किया जाय कि हम प्रकृति तथा उसके गुणों के बारे में पूर्वोक्त प्रकार से विचार न करके जगत के अनुभव से अपना विचार प्रारम्भ करें और जगत के कार्यों के स्वरूप से इसके प्रमुख कारण का अनुमान करते हुए यह कहें कि सांख्य ने गुणों को या प्रधान के तत्वों को कूटस्थ, निरपेक्ष तथा निष्क्रिय एवं अपरिवर्तनीय नहीं माना है वरन् कार्यों के अनुसार गुणों का स्वभाव स्वीकार किया है और उन्हें चंचल एवं परिवर्तनशील मानते हैं इसलिए परिवर्तनशील होने के कारण साम्यावस्था में भी वे विषमता को प्राप्त करते हैं तथा क्षुब्ध होते रहते हैं तब भी सांख्य का प्रधान इस प्रकार से सुव्यवस्थित जगत की रचना करने में असमर्थ है क्योंकि वह जड़ अचेतन तथा बुद्धिहीन है। इनके प्रधान को ज्ञानशक्ति अथवा बुद्धि से युक्त कर देने पर इनकी स्थिति वेदान्त के समान हो जावेगी। यह मान लेने पर भी कि साम्यावस्था की दशा में भी गुणों में क्षोभ उत्पन्न हो सकता है तथा तीनों गुण असमान होकर क्षुब्ध होते हैं, विषमता प्राप्ति के योग्य गुण साम्यावस्था में एक निमित्त या किसी ऐसे कारण के अभाव में जो उनमें क्षोभ उत्पन्न करे विषमता को नहीं प्राप्त होंगे। क्योंकि

---

१. जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र, पार्ट-१, पृ० ३७४-७५

२. वही, पृ० ३७५

यदि विषमता का प्रारंभ कारण या निमित्त के अभाव में भी संभव होगा तब परिणामस्वरूप यह वैषम्य सदैव बना रहेगा और साथ ही सृष्टि का भी अस्तित्व सदैव बना रहेगा, इस प्रकार की स्थिति में मोक्ष पुन: असंभव हो जायेगा[१]।

शंकराचार्यजी का कहना है कि सांख्य दर्शन अनेक असंगत एवं परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों से युक्त है अत: इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कभी तो ये इन्द्रियों की संख्या सात बताते हैं और कभी पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां एवं मन को मिला कर ग्यारह बताते हैं। किसी स्थल पर ये सूक्ष्म तत्व तन्मात्राओं की उत्पत्ति महत् से तो कहीं अहंकार से बताते हैं, कहीं पर ये विचारक मन, बुद्धि व अहंकार इन तीन अन्त:करण को स्वीकार करते हैं, कहीं पर केवल बुद्धि को ही स्वीकार करते हैं[२]। इस प्रकार ये ईश्वर को जगत का अन्तिम कारण मानने वाली श्रुति और इसका अनुगमन करने वाली स्मृतियों के विरोधी हो जाते हैं, अत: इनका मत समीचीन एवं तर्कसंगत नहीं है[३]।

सांख्य दार्शनिक वेदान्त दर्शन को त्रुटिपूर्ण दिखाने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि वेदान्तियों का एक ब्रह्म जो सब प्रपंचों का कारण है तथा सब की आत्मा है, वह कर्ता, भोक्ता आदि दु:खी जीव तथा दुख देने वाले भोग्य पदार्थ जगत के द्वैत को समाप्त कर देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इनका अद्वैत ब्रह्म जीव और जगत को दो विभिन्न कोटियां न प्रदान करके उन्हें एक ही आत्मतत्व के दो विशेष पर्यायों या विकारों के रूप में दर्शाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा कभी भी इन विशेष पर्यायों से मुक्त नहीं होगी, क्योंकि वे पर्याय इससे तादात्म्य रखते हैं और इस प्रकार श्रुति या शास्त्र वचनों के इस वाणी का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा कि हमें उचित ज्ञान द्वारा दु:ख से छुटकारा मिल सकता है[४]। किसी वस्तु में निहित उसके स्वभाव से उसे वंचित नहीं किया जा

---

१. एस० राधाकृष्णन्, ब्रह्मसूत्र, पृ० ३७२

२. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा, भाषानुवाद सहित, भाग-दो अ० २ पा० २ अधि० १ सू० १० पृ० ११४८-४९

३. वही पृ० ११४९

४. वही पृ० ११५०

सकता है। एक दीपक से उसके प्रकाश तथा उसकी उष्णता को पृथक् नहीं किया जा सकता है। जल की तरंगे तथा लहरें भी जल के साथ-साथ नित्य हैं। यद्यपि कभी-कभी जल के शान्त रहने पर उसकी तरंगे भी विलीन प्रतीत होती हैं तथापि जल से उन्हें पृथक नहीं किया जा सकता है,जल के अस्तित्व के साथ उनका भी अस्तित्व रहता है। सांख्य विचारक कहते हैं कि जीव और जगत यानी दु:खभोक्ता एवं दु:खमय संसार दोनों में स्पष्ट भेद है,जबकि वेदान्त दर्शन में एक सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म के साथ सम्पूर्ण भेदों की उपेक्षा करके इस भेद को समाप्त कर दिया गया है। पूर्वपक्षी कक-सांख्य का यह भी कहना है कि अर्थ और अर्थी अर्थात् ज्ञाता व ज्ञेय में भी स्पष्ट भेद स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि यदि खोजने वाले अर्थी से उसका प्राप्य अर्थ भिन्न नहीं होता तो उसके लिए अपने अर्थ को प्राप्त करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है,दीपक के लिए प्रकाश की प्राप्ति निरर्थक है क्योंकि प्रकाश रूप दीपक का प्रकाश उसके साथ नित्य रहता है। हम जानते हैं कि अप्राप्त अर्थ में ही अर्थी का अस्तित्व रहता है। अन्य शब्दों में यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु की प्राप्ति का प्रयत्न करता है तब उसकी प्राप्य वस्तु उससे भिन्न होनी चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर वह स्वयं की प्राप्ति का प्रयत्न करेगा अर्थात् विषयी व विषय दोनों एक ही हो जायंगे। सम्बन्ध सदैव दो में होता है एक वस्तु में नहीं इसलिए अर्थ और अर्थी का सम्बन्ध उनके भिन्न-भिन्न अस्तित्व द्वारा बताना ही युक्तिसंगत है।[1]

पूर्वपक्षी सांख्य दार्शनिकों का यह भी कहना है कि भेद केवल विधेयात्मक दृष्टि से ही नहीं है वरन् निषेधात्मक दृष्टि में भी है। जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं वह प्राप्य तो हमसे भिन्न है ही परन्तु जिससे हम वंचित रहना चाहते हैं वह भी हमसे भिन्न है। जिस प्रकार अर्थ व अर्थी भिन्न हैं उसी प्रकार अनर्थ व अनर्थी भी भिन्न हैं।[2] हमारे अनुकूल विषय शुभ तथा प्रतिकूल विषय अशुभ कहलाते हैं किन्तु प्रतिकूल विषयों के आधिक्य में शुभ भी अशुभ हो जाते हैं अर्थात्

---

१. जार्ज थीबू,वेदान्त सूत्र,पार्ट १,अ० २पा० २,सू०१०,पृ० ३७८

"...The two ideas(and terms),'object of desire'and desiring person,'imply a relation(are correlative),and a relation exists in two things,not in one only."

२. यतिवर श्री भोलेबाबा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित,भाग-अ०२ पा०२ अधि० १ सू० १०,पृ० ११५२।

अर्थ भी अनर्थ हो जाते हैं और इस प्रकार स्वीकारात्मक तथा निषेधात्मक सभी विषय दुःख के कारण हैं तथा हमारी आत्मा उनका दुःखभोक्ता है। हमें दुःख के कारण विषय तथा दुःख भोक्ता आत्मा को भिन्न मानना चाहिए क्योंकि अभिन्न मानने से दोनों सदैव ही स्थायी बने रहेंगे और फिर हमारे समस्त दुःख निवृत्ति का कोई भी प्रयास निरर्थक होगा। सांख्य दार्शनिकों ने उपरोक्त प्रकार से वेदान्त दर्शन की अनौचित्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

वेदान्त दर्शन के प्रति सांख्य द्वारा लगाये गये सभी आक्षेप प्रामाणिक एवं औचित्यपूर्ण होते,यदि यह दर्शन जीव और जगत का तप्य या तापक के द्वैत को स्वीकार करता,परन्तु वेदान्त तो अद्वैत ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है। शंकर कहते हैं कि केवल अग्नि का ही अस्तित्व है यद्यपि अग्नि में उष्णता,प्रकाश आदि धर्म हैं परन्तु फिर भी वह अपने आपको नहीं जलाती, नहीं प्रकाशित करती है,क्योंकि उसमें तथा उसके गुणों में अभेद है। नित्य कूटस्थ ब्रह्म में तप्य तथा तापक का द्वैत भाव सम्भव ही नहीं है। हम देखते हैं कि ताप या दुःख चेतनयुक्त मानव शरीर को होता है तथा सूर्य ताप देने वाला तापक है। ताप से तात्पर्य दुःख है और यह दुःख चेतनसत्ता को होता है न कि अचेतन शरीर को,क्योंकि यदि दुःखभोक्ता शरीर होता है तो इसके विनष्ट हो जाने पर दुःख की भी निवृत्ति हो जाती है और तब किसी भी व्यक्ति को दुःख निवृत्ति के लिए किसी आध्यात्मिक साधन की आवश्यकता कदापि न होती। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जड़ शरीर के अभाव में केवल चेतन को भी दुःख नहीं होता तथा सांख्य के अनुसार ताप या दुःख रूपी विकार न तो चेतन को हो सकता है और न तो शरीर व चेतन के संघात को हो सकता है,क्योंकि शरीर के साथ संयुक्त हो जाने से चेतन पुरुष के शुद्धता की हानि होगी। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य विचारधारा के अनुसार भी तप्य-तापक भाव सिद्ध नहीं हो

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित,भाग-२ अ०२,पा० २,अधि १ सू० १० पृ० ११५२

पाता है । द्वैतभाव की स्थापना के लिए सांख्य दार्शनिकों का यह कथन भी संभव नहीं हो सकता कि प्रधान में निहित सत्त्व गुण जो सुख व प्रकाश का धोतक है वही तथ्य या दु:खभोक्ता है तथा रजस जो किसी भी दु:खपूर्ण क्रियाओं का धोतक है, वह तापक या दु:ख देने वाला है क्योंकि केवल चेतन ही किसी प्रकार की अनुभूति करता है और उसका इन तत्वों से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

वेदान्ती पुन: कहते हैं कि सांख्य विचारक बुद्धि के अनुरोध से भी चेतन को दु:खभोक्ता नहीं मान सकते अर्थात् यह कहना भी संभव नहीं है कि चेतन पुरुष सत्त्व गुण में अपने को प्रतिबिम्बित करके दु:खभोक्ता हुआ-सा प्रतीत होता है, क्योंकि अपने पारमार्थिक रूप के कारण वह दुखी नहीं हो सकता है। इसके लिए हमें इस वेदान्त-सम्मत सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा कि आत्मा या चेतन वस्तुत: दु:खभोक्ता नहीं है, अविद्या या अज्ञानता से ऐसा प्रतीत होता है कि वह दु:खभोक्ता है।[१]

शंकराचार्य जी कहते हैं कि सांख्य दार्शनिक दु:ख को यथार्थ रूप में स्वीकार करते हैं तथा यह प्रतिपादित करते हैं कि चेतन आत्मा एवं जड़ प्रधान में एक विशिष्ट विलक्षण संयोग होने से ही दु:ख होता है किन्तु उन दोनों को संयोग के लिए एक कारण या निमित्त की अपेक्षा रहती है। यह कारण अविवेक या अज्ञान है और इसका अधिष्ठान प्रधान का एक नित्य तत्व तमोगुण है। इस प्रकार सांख्य का तथ्य, तापक तथा अज्ञान अर्थात् सत्त्व, रज एवं तम् तीनों ही गुण नित्य हैं, इनके नित्य होने से ताप या दु:ख भी नित्य होगा और परिणामस्वरूप दु:ख-निवृत्ति की संभावना नहीं रहेगी। इतना ही नहीं सांख्य दृष्टिवेत्ता तो सृष्टि या मानव-जीवन का प्रारम्भ साम्यावस्था में गुणों के क्षोभ से ही स्वीकार करते हैं, किन्तु विषमता या अंगांगिभाव द्वारा गुणों का उद्भव एवं लय अनियमित रहता है इसलिए प्रधान तथा चेतन आत्मा का संयोग व वियोग भी अनियमित

---

१. एस० राधाकृष्णन्, ब्रह्मसूत्र, अ० २ पा०२ सू०१० पृ० ३७२
"The distinction between the two, the suffering soul and the cause of suffering, is the product of Avidya."

रूप से ही होता रहता है अत:इनके मतानुसार तो कैवल्य अर्थात् मोक्ष की सिद्धि हो ही नहीं सकता ।

सांख्य तत्ववेत्ताओं की मान्यताओं के विरुद्ध शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन विषयी-विषय,ज्ञाता-ज्ञेय तथा जीव-जगत इत्यादि के द्वैत को स्थान तब ही नहीं देता । इनके मतानुसार इनका परम तत्व ब्रह्म सम्पूर्ण विभिन्नताओं से मुक्त है इसलिए न तो वह तत्व तथ्य या दु:खभोक्ता है और न तो तापक या दु:ख देने वाला है । सत्ता में कोई बन्धन तथा दु:ख नहीं है,संपूर्ण विषयों से युक्त जगत की प्रतीति कुछ नहीं है ,यह केवल हमारे भ्रमात्मक विचारों या अज्ञानता द्वारा निर्मित मिथ्या कल्पना[१] है । किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अद्वैतवादी शंकर व्यावहारिक जीवन को अस्वीकार करते हैं । जगत में व्यावहारिक रूप से जो कुछ भी विषय-विषयविभाग अर्थात् तप्यतापक भाव क्रम प्राप्त करते हैं वहां सब कुछ वैसा ही है इसलिए बन्धन तथा तत्वज्ञान से उसके निवृत्ति की सिद्धि भी होती है । अत: उपरोक्त प्रकार के खण्डन-मण्डन की कोई आवश्यकता ही नहीं[२] है ।

(२)

शंकराचार्य जी ने सांख्य दर्शन की आलोचना करके उसकी असंगतता को दिग्दर्शित किया है । उनकी उक्त आलोचना का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करने के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि असंगत मान्यताओं से युक्त होते हुए भी सांख्य दर्शन किस प्रकार अद्वैत दर्शन के समीप है ।

सांख्य दर्शन का और दृष्टिपात करने की प्रमुख दो विधियां हैं । प्रथम तो हम इसे एक द्वैतवादी सत्तामीमांसा के सिद्धान्त के रूप में देख सकते हैं जिसमें दो तत्वों का नित्य चिरस्थायी विरोध निहित है —

---

१. के०सी० भट्टाचार्य,स्टडीज इन फिलासफी,वाल्युम-१ पृ० ११३

२. यतिवर श्री भोले बाबा,ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित,अ०२ पा० २ अधि०१ सू० १०,पृ० ११५७

(१) पुरुष तत्व जिसका स्वभाव किसी भी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता अर्थात् जो निष्क्रिय तथा अपरिवर्तनशील है[1] और (२) प्रकृति तत्व जिसे गुणवती कहा गया है तथा जो सम्पूर्ण रूपात्मक सत्ताओं की आधात्री है।[2] पुरुष शुद्ध चेतन है तथा प्रकृति में चेतना का अभाव है। जब हम सांख्य दर्शन की ओर दूसरी विधि से दृष्टिपात करते हैं,तब हम इसका विचार उत्कृष्ट रूप से एक मूल्यात्मक सिद्धान्त के रूप में करते हैं। यह सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है,जिसमें व्यक्ति अपने अस्तित्व सम्बन्धी निःश्रेयस से प्रेरित है। इस दृष्टिकोण से दो सिद्धान्तों की सम्पूर्ण मान्यता को दो प्रकार की सत्ताओं का उल्लेख करना चाहिए। व्यक्ति के रूप में एक वह सत्ता जो दुःख,सुख व मोह की अनुभूति करने वाली है तथा व्यक्ति के रूप में दूसरी वह सत्ता जो सुख,दुःख तथा मोह से विमुक्त है।[3] सत्ता के दूसरे प्रकार को चेतन तथा प्रथम को अचेतन या जड़ के रूप में वर्णित किया गया है। इस सन्दर्भ में अचेतन का अर्थ यह नहीं है कि पुरुष अपनी सम्पूर्ण बौद्धिकता से रहित हो जाता है। पुरुष के सचेतन होने दुःख,सुख तथा मोहादि का अनुभव करने का अर्थ,अपने से अन्य किसी वस्तु के लिए सचेतन होना है। यह प्रकृति है जो इस दृष्टि से महत् या बुद्धि में उपलक्षित होती है। इस प्रकार की चेतना एक दूसरे तत्व के द्वारा क्रिया,ज्ञान तथा भावना इन तीन दृष्टिकोणों में सीमित हो जाती है। इस सीमा या बन्धन के प्रति सजग होना ही दुःख का अनुभूति करना है और चिन्तनशील होकर दुःख-निवृत्ति की सम्भाव्यता के ज्ञान से युक्त होना है अर्थात् उस पुरुषत्व की अनुभूति करना है,जो प्रत्येक सम्भव रूप में मुक्त है।[4] स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि इसका तात्पर्य किसी व्यक्ति की स्वयं अपने आप की ऐसी अनुभूति है जो किसी अन्य द्वारा सीमाबद्ध नहीं होती अर्थात् जो किसी अन्य

---

१. ब्रजमोहन चतुर्वेदी,सांख्यकारिका, अनुराधाव्याख्योपेता,संस्कृत हिन्दी विशद व्याख्या,पृ० ८६

२. राधाकृष्णन् और मूर,ए सोर्स बुक इन इण्डियन फिलासफी,पृ०४२४

३. के०सी० भट्टाचार्या,स्टडीज़ इन फिलासफी वाल्यूम-१,पृ०१६०-६१

४. वही,पृ० १४३

विषय का ज्ञाता नहीं है तथा दु:ख,सुख एवं मोह के रूप में किसी आसक्ति या भावना की संवेदना से युक्त नहीं होता यानी यह कर्म,ज्ञान व आसक्ति के विषयों से मुक्त है। अपने विकारों के सम्पूर्ण पहलुओं में प्रकृति के गुण रूप में अचेतना का अर्थ यह नहीं है कि यह पूर्ण रूपेण चेतना से रिक्त है वरन् इसका अर्थ यह है कि यह केवल बद्ध व परिच्छिन्न चेतना से युक्त है अथवा ऐसी चेतना से युक्त है जो किसी अन्य विषय का विचारावलोकन करती है। सांख्य दार्शनिक जो कुछ भी कहना चाहते हैं वह केवल यह है कि प्रकृति[1] पुरुष के मोक्ष या कैवल्य के लिए ही विकार रूप में विकसित होती है। अत: विकारयुक्त रूपात्मक सत्ता निरपेक्ष स्थिति से सापेक्ष स्थिति में चेतन के क्षय एवं अभाव को प्रतीकात्मक रूप में प्रकट करती है किन्तु यहाँ चेतनशून्यता का अर्थ चेतना का अशान्त व अप्रशमित होना नहीं है। विकारयुक्त रूपात्मक अवस्था में पुरुष के स्वरूप में अचेतना केवल एक तिरस्कृत उपाधि है जिसका प्रयोग पुरुष के अध:पतन एवं विकृति को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है। परन्तु यहाँ यह अविस्मरणीय है कि इस अर्थ में पुरुष अपरिच्छिन्न एवं निर्बन्ध चेतन के रूप में केवल एक आदर्श है तथा जिसे एक ऐसी सत्ता प्राप्त करती है जिसकी सुख,दु:ख व मोहादि से युक्त अनुभूति ने स्वयं उसमें एक ऐसी प्रवृत्ति प्रेरित की है जिसके द्वारा वह सुख,दु:ख मोहादि से मुक्त सत्ता बन जाना चाहती है अर्थात् उदासीन एवं निर्विकार बन जाना चाहती है। उसकी सुख,दु:ख,मोहादि से युक्त विकारयुक्त तथा बन्धनपूर्ण होने की चेतना और सुख दु:ख व मोहादि से विमुक्त होकर मुक्त होने की चेतना दोनों ही उसकी चेतन बुद्धि अर्थात् चिन्तनात्मक बुद्धि के अन्तर्गत निहित रहती है अन्यथा विवेक द्वारा कैवल्य प्राप्ति निरर्थक हो जाती।

यदि सांख्य दर्शन पर मूल्यात्मक दृष्टिकोण से विचार करते हैं तब हम पुरुष व प्रकृति को दो स्वतंत्र अस्तित्वयुक्त तात्त्विक सत्ताओं के रूप में अपनाने

१, ब्रजमोहन चतुर्वेदी,सांख्यकारिका,अनुराधाव्याख्योपेता,संस्कृत हिन्दी विशद व्याख्या,पृ० ६४ ।

के लिए इच्छुक नहीं होते,वरन् उन्हें मुल्यात्मक रूप से विचारित सत्ता के दो प्रकार के प्रतीकों के रूप में अपनाते हैं।[१] यदि वस्तुत: ऐसा है तब एक से दूसरे में अवतरण चिन्तनशील एवं विवेकयुक्त ज्ञान के द्वारा ही होता है। यह ज्ञान एक अविभाजित चेतना के अन्तर्गत ही दु:खबद्ध तथा दु:खमुक्त सत्ता की चेतना को समझता व जानता है। अद्वैत वेदान्ती शंकर का सांख्य दर्शन के मुल्यात्मक दृष्टिकोण से कोई अन्तिम विरोध नहीं हो सकता है। इसमें इन्हें कोई विरोध नहीं प्राप्त होता और न तो एक विरोधी के रूप में वे इसकी आलोचना ही करते हैं। अद्वैत दर्शन का अभिप्राय केवल सांख्य की वस्तुन्मुख अभिवृत्ति को आन्वीक्षात्मक व आत्मगत दृष्टिकोण द्वारा अतीन्द्रिय अथवा पारमार्थिक अभिवृत्ति में परिवर्तन कर देना है। अध्यास के सिद्धान्त द्वारा भी शंकर का उद्देश्य केवल नित्य-अनित्य वस्तु-विवेक की स्थापना करना ही है।[२] अद्वैत वेदान्त

---

१. श्री एस०एस० राय,इलाहाबाद युनिवर्सिटी स्टडीज़,१६६८

" The symbolism of person'has found it's most adequate expression in the ~~Sa~~ Sāṅkhya metaphysics of ~~the~~ Purusa and Prakriti. The Sāṅkhya could not be understood more grossly than by being underatood as a system of dualistic antology, swearing by two realistics,Spirit (Purusa)and Nature(Prakriti Purusa(Spirit) Prakriti (nature) are not two realistics. They are simply the symbols of two kinds of being the same "Person"can have--being in bandage understood in the triple situation of pleasures(Sukha),Pain(Dukha) and infatuation (Moha) and being--as--Freedom,understood as the transcendence of this triplicity'(nistraiguṇya)."

२. पंचपादिका आफ़ पद्मपाद,गायकवाड़्स ओरियन्टल सीरीज़,वाल्यूम १०७, पृ० २१५।

में वस्तुन्मुख अभिवृत्ति का परमार्थ में उत्कर्ष उपलक्षित किया जाता है ।

सांख्य दर्शन तथा अद्वैतवेदान्त में समानताओं के होने हुए भी अद्वैत दार्शनिक शंकर द्वारा सांख्य दर्शन का सांगोपांग खण्डन क्यों किया गया है, इस स्थिति की पर्याप्त व्याख्या यह कह कर नहीं दी जा सकती है कि इसका कारण केवल भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान ही है । यद्यपि सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन का एक शास्त्र-विरुद्ध दर्शन सम्प्रदाय नहीं है, किन्तु फिर भी यह अपने दुःखपूर्ण, आसक्तियुक्त अथवा बन्धनयुक्त सत्ता की व्याख्या द्रव्यार्थिक दृष्टिकोण से नहीं वरन् पर्यायार्थिक दृष्टिकोण से करता है[१] । सांख्य के लिए ब्रह्म अपरिवर्तनीय, अपरिवर्तनशील तथा अविकारी सिद्धान्त है । परन्तु क्योंकि परिवर्तन के बिना विश्व में सुख, दुःख, मोहादि से युक्त विषयी सत्ता जीव की व्याख्या नहीं की जा सकती है, इसलिए सांख्य विचारक पर्याय या रूपात्मक विकारयुक्त सत्ता के एक ऐसे नित्य सिद्धान्त की आवश्यकता का अनुभव करते हैं जो परिवर्तन, रूपान्तर या विकार आदि की व्याख्या कर सके । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य दार्शनिक उपनिषद् के कूटस्थ, नित्य ब्रह्मवाद के सुदृढ़ सिद्धान्त को दो स्वतंत्र विभागों में विभाजित कर देते हैं --(१)अविकारी और (२) विकारी । इन दोनों विभागों की अभिधारणा में भारतीय दर्शन के दो चरम सिद्धान्त मिलते हैं जिन्हें द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दर्शनों के नाम से प्रस्तुत किया जाता है । इनमें से प्रथम का दृष्टान्त वैदिक दर्शनों में तथा दूसरे का दृष्टान्त बौद्ध दर्शन के सन्तान सिद्धान्त में प्राप्त होता है । निर्विकार पुरुष तथा विकारयुक्त प्रकृति इन दो भागों में उपनिषद् के ब्रह्म का विभाजन दो प्रकार की सत्ताओं की व्याख्या के लिए प्रयुक्त प्रतीकों या रूपकों की भांति निर्दिष्ट किया गया है । यदि हम यह मानें कि सांख्य द्वारा यह विभाजन किया गया है तब भी हमें यह मानना ही होगा कि उनके दर्शन की व्यवस्थित रूप से दो

---

१. दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया (रामकृष्ण मिशन) पृ० २७-२८

सहशाश्वत द्रव्यों के सिद्धान्त के रूप में व्याख्या की गयी है। जब सांख्य के पुरुष व प्रकृति को उनके सतात्त्विक पहलुओं में चेतन तथा अचेतन के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करने वाले दो स्वतंत्र सहशाश्वत द्रव्यों के रूप में समझा जाता है तब किसी भी व्यक्ति को अद्वैतवादी शंकर द्वारा इसके विरुद्ध लगाये गये सभी आरोप स्पष्ट हो जाते हैं। किसी भी व्यक्ति के लिए यह पूछना स्वाभाविक हो जाता है कि वस्तुतः मुक्त पुरुष क्यों और किस प्रकार बन्धनग्रस्त हो जाता है और इस प्रकार पुरुष के बन्धन की व्याख्या करने के लिए सांख्य द्वारा निर्मित सम्पूर्ण सृष्टि-रचना एक ऐसी अविश्वसनीय गल्प-कथा या एक परिकल्पना प्रतीत होती है जो किसी भी प्रकार के विश्वास व निश्चय से रहित है। सांख्य दर्शन में एक यह तथ्य इसके तथा अद्वैतवादी विचारधारा के विरोध को दृढ़ बना देता है कि पुरुष का कैवल्य (मोक्ष) प्रकृति के आविर्भाव प्रक्रिया के विनाश को अपने में समाहित करता है। इसका तात्पर्य है--प्रकृति के विकार तत्त्वों का प्रकृति में लय हो जाना अर्थात् महत आदि विकारों का प्रकृति में विलीन हो जाना। साम्यावस्था में वर्णित प्रकृति की यह स्थिति पुरुष के स्वातंत्र्य या मोक्ष के साथ सहविस्तृत होती है। सांख्य तथा अद्वैत दर्शन का विभेद इसी तत्त्व-विचार में निहित है। जब विकार या परिणाम प्रकृति में समाहित हो जाते हैं तब वह प्रकृति पुरुष के साथ एक हो जाती है और उसमें एक अव्यक्त अन्तःशक्ति के रूप में निहित होती है तथा यह प्रकृति-पुरुष को दूषित व विकृत करने में असमर्थ हो जाती है। सांख्य के विचारदृष्टि को इसी रूप में स्वीकार करने से इनकी प्रकृति तथा अद्वैत दर्शन के माया में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। परन्तु सांख्य विचारक तो साम्यावस्था में भी प्रकृति के स्वतंत्र व निरपेक्ष अस्तित्व का तात्त्विक रूप से दृढ़तापूर्वक अनुमोदन करते हैं, इसीलिए अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं और शंकर द्वारा इनके विचार सिद्धान्तों की आलोचना होती है। इस प्रकार हमें दो भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में कारणता-सम्बन्धी दो भिन्न विचारधारायें प्राप्त होती हैं--सांख्य का परिणामवाद तथा अद्वैत वाद का विवर्तवाद। अद्वैतवादी दार्शनिक सांख्य द्वारा प्रतिपादित परिणामवाद की आलोचना करते हैं, इनकी यह आलोचना तर्कसंगत एवं औचित्यपूर्ण भी है। ऐसा

प्रतीत होता है कि कम से कम व्यक्ति के मुक्त और बद्ध जीवन के प्रतीकों अर्थात् पुरुष और प्रकृति के रूप में जिन तत्वों का प्रयोग किया गया है वह दो द्रव्यों की सत्ता को एक मतागृहा सिद्धान्त में दृढ़ बना देना है।

यहां हमने सांख्य दार्शनिक व्यवस्था का एक सम्भव पुनर्विवरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार की पुनर्व्याख्या का तात्पर्य सांख्य दर्शन-विचार के वास्तविक अर्थ से परे जाना होगा क्योंकि इसके लिए हमें कोई आधार प्राप्त नहीं है। वरन् यदि हम इन दोनों दार्शनिक व्यवस्थाओं में निहित प्रयोजनों की आत्यन्तिक समानता दर्शाने में सफल हुए हैं तो इसका कारण केवल यह है कि जैसा साधारण रूप से समझा गया है उसकी अपेक्षा हमने इन दोनों विचारधाराओं को एक दूसरे के समीप लाने की चेष्टा की है। कहने का अर्थ है कि दोनों में घनिष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। ये दोनों दार्शनिक सम्प्रदाय मूल्यात्मक स्थितियों में ही/समीपस्थ दृष्टिगत होंगे। किन्तु हमारे समक्ष इन सम्प्रदायों का केवल मूल्यात्मक पहलू ही नहीं है। यह तो शंकर द्वारा लगाये गये आक्षेपों से सांख्य दर्शन को मुक्त करने में समर्थ होने का हमारा एक अतिरंजित सुझाव है।

यद्यपि सांख्य दर्शन को महत्ता प्रदान करने के लिए ऐतिहासिक निरन्तरता एवं प्रमाण का अभाव है,परन्तु फिर भी श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का कहना है कि कल्पना के माध्यम से एक दार्शनिक व्यवस्था का रचना करने के लिए एक भाष्यकार को सांख्य दर्शन में अधिक विस्तार प्राप्त होता है।[१] कल्पना द्वारा इस रचना में इस विश्वास के लिए हमें एक आधार प्राप्त हो जाता है कि सांख्य दर्शन का मूल्यात्मक विवेचन अन्य दर्शनों की अपेक्षा इसे शंकर वेदान्त-दर्शन के अधिक समीप ले आता है। हमें केवल इसी तथ्य पर बलपूर्वक प्रकाश

---

१. के०सी० भट्टाचार्य,स्टडीज़ इन फ़िलासफ़ी वाल्यूम-१ पृ० १२७

डालना है कि चेतन और जड़ (आत्मा और पदार्थ) इन दो तथ्यों के एक तत्व-दर्शन के रूप में सांख्य की कोई भी यथार्थ व्याख्या हमें द्वैतवाद की एक ऐसी समस्या प्रदान करने के लिए बाध्य हो जाती है जिसका प्रतिरूप पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट की दार्शनिक व्यवस्था में विद्यमान है । डेकार्ट के मन व देह के द्वैतवाद की समस्या व्यर्थ ही अपने समाधान के लिए अनेक पद्धतियों को उत्पन्न कर देती है,ये पद्धतियां अन्तरक्रिया-प्रतिक्रियावाद,समानान्तरवाद तथा लाइबनीज़ के पूर्व-स्थापित सामंजस्यवाद से थामस रीड,मैकाश,प्रिंगिल पैटिसन तथा एस०एस० लॉरी आदि के यथार्थवाद के रूप में प्राप्त होती है । सम्पूर्ण उत्तरवर्ती,कौतूहलपूर्ण समस्याओं के साथ कार्टीज़ियन द्वैतवाद के विचार-विमर्श के लिए सांख्य दर्शन में कोई उचित आधार नहीं है,क्योंकि प्रमाणित रूप से यह दृष्टिगत होता है कि कार्टीज़ियन परम्परा द्वारा कथित एवं निरीक्षित किसी भी समस्या के लक्ष्य से सांख्य दर्शन की द्वैतवाद की समस्या का लक्ष्य स्पष्ट रूप से भिन्न है । डेकार्ट का दर्शन द्रव्य की परिभाषा से प्रारम्भ होता है,सुख,दुःख,मोक्षादि के चिन्तन के साथ नहीं जिसमें ज्ञान,कर्म व भावना से युक्त सत्ता को सीमाबद्ध किया गया है । मानव चेतना को यह सीमा सत्व,रजस व तमस इन तीनों गुणों द्वारा प्रतीक रूप में दर्शायी व प्रस्तुत की जाती है । ये गुण ही सुख, दुःख तथा मोह के अधिष्ठाता हैं । दुःख से मुक्त होने का अर्थ है सुख और मोह से मुक्त होना क्योंकि इनमें से प्रत्येक सीमा या बन्धन के अन्तर्गत हैं । सांख्य का कैवल्य सम्पूर्ण सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है जिसमें एक तत्व द्वारा एक तत्व की प्राप्ति होती है । परम रूप से स्वतंत्र मुक्त अस्तित्व की यह अवस्था वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म से भिन्न अवस्था नहीं है ।

सहमत या असहमत रूप से सांख्य तथा अद्वैत दर्शन में निम्न प्रकार का एक संभव सम्मिलन एवं संयोजन दृष्टिगत होता है --दोनों के ही मतानुसार जीवन के अन्तिम विश्लेषण में जो कुछ भी वास्तविकता व तथ्य है,वह कैवल्य या मोक्ष है । सांख्य विचारक इसे विवेक का नाम देते हैं तथा अद्वैत वेदान्ती

अपरोक्ष ज्ञान का नाम देते हैं । ज्ञान ही दोनों दर्शनों का आदि व अन्त है अर्थात् सर्वस्व है । सांख्य दर्शन का स्वरूप प्रमुख रूप से बुद्धिप्रधान है,इसलिए वे विवेक को भोग एवं मोक्ष दोनों के बीच निहित एक भेद की चिन्तन प्रक्रिया द्वारा आच्छादित समझते हैं । वे मोक्ष को ही अन्तिम लक्ष्य स्वीकार करते हैं जिसमें सुख दु:ख तथा मोह की तीन वृत्तियों से युक्त सम्पूर्ण वस्तुओं का अनुभव करने वाली समस्त प्रवृत्तियों का अतिक्रमण हो जाता है । अद्वैत तथा सांख्य दोनों ही सम्प्रदाय निवृत्ति या मुक्ति की अन्तिम अवस्था में मन की शान्ति पर बल देते हैं । अन्तर केवल उनके निवृत्ति की अभिव्यक्ति में है--इसे अभिव्यक्त करते हुए सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि महत् बुद्धि आदि विकारों का अव्यक्त प्रकृति में विलय हो जाना ही मोक्ष है तथा अद्वैतवादी दार्शनिक कहते हैं कि स्वयं उस ब्रह्म में ही सम्पूर्ण आपेक्षिक चेतना या बोध का लय हो जाना मोक्ष है जो ब्रह्म इस अर्थ में समस्त भेदों व प्रपंच का अधिष्ठान है कि केवल यही, उन प्रपंचों का स्रष्टा,परिचालक एवं विनाशक है ।

अद्वैत तथा सांख्य दर्शनों के बीच भेद कारणता के सिद्धान्त द्वारा भी उत्पन्न हो जाता है । यह सिद्धान्त अद्वैत परमार्थवाद के स्तर पर कार्य कर नहीं होता है । सांख्य का यह कारणता सिद्धान्त परिणामवाद है जो सत् कार्यवाद का एक रूप है,इसके अनुसार कार्य का अपने कारण में पूर्व अस्तित्व होता है अर्थात् कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है । इस प्रकार सत्कार्यवाद अर्थात् परिणामवाद के कारणता सिद्धान्त की यथार्थवादी व्याख्या देकर सांख्य दर्शन-वेत्ता प्रकृति पुरुष की सहनिरन्तरता को स्वीकार करते हैं । इसका तात्पर्य है --दो द्रव्यों का सिद्धान्त या द्वैतवादी सिद्धान्त । अब निष्क्रिय पुरुष प्रकृति में निहित सम्पूर्ण कारणता [illegible] दो विरोधी स्थितियां उत्पन्न कर देती हैं--(१) या तो कोई सृष्टि या विकास होगा ही नहीं (२) या एक अनन्त सृष्टि या विकास होगा । ये दोनों ही विरोधी दृष्टिकोण सांख्य दर्शन में निर्धारित होते हैं,यही सांख्य का प्रमुख विचार-दर्शन है जिस पर शंकराचार्यजी ने अत्यधिक कुठाराघात किया है । किन्तु इतना होते हुए भी सांख्य में अनेक

ऐसी उक्तियां प्राप्त हैं जो कम से कम इसे एक अध्यात्मवादी व्यवस्था के अन्तर्गत स्थान देती हैं। जीव अथवा पुरुष में विवेक के आविर्भाव से हो हम समझते हैं कि नर्तकी के रूप में प्रकृति का निवर्तन हो चुका है। इसका अभिप्राय यह है कि सांख्य दार्शनिक व्यवस्था, श्री प्रकाशानन्द जी द्वारा उनके वेदान्त सिद्धान्त के सदृश है कि दृष्टि ही सृष्टि है।[१] यह एक ऐसा सिद्धान्त है कि जो बर्कले के 'दृश्य ही सत्ता है' इस मत के तथा Douglas Fawcett के Imagism के समान है जो विशेष रूप से योगवाशिष्ठ दर्शन से प्रभावित हैं।

सांख्य दर्शन की शंकर द्वारा की गयी आलोचनात्मक परीक्षा के एक विवेचन के लिए प्रस्तुत इस लेख का प्रमुख उद्देश्य तथा निष्कर्ष यह है कि यदि हम सांख्य दार्शनिक विचार का अध्ययन मूल्यों के दर्शन के रूप में करते हैं तो इसका प्रारम्भिक बिन्दु हमें पुरुष और प्रकृति के द्वैतवादी दर्शन में नहीं प्राप्त होता है वरन् सुख, दुःख तथा मोक्षादि के चिन्तन में प्राप्त होता है,[२] जो जाव में उसकी सीमाओं के बोध द्वारा ही प्रवर्तित होता है। यदि मोक्ष बंधन से ही मुक्ति है तथा मोक्ष ही यथार्थ है तब सीमा या बन्धन का यह अनुभव ही एक भ्रान्ति अथवा भ्रम है और केवल जिसका सुधार ही विवेक कहलाता है। इस विवेक में ही जीवन का पुरुषार्थ मोक्ष या पूर्णस्वीकृति निहित है। विवेक के आविर्भाव से ही प्रकृति निर्मुक्त या निवृत्त हो जाती है तथा पुरुष अपने कैवल्य में स्थित हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि यदि सांख्य के दार्शनिक तत्त्व विचार को भाववादी आध्यात्मिक दृष्टि से अपनाया जाता है तो यह अद्वैत दर्शन के मायावाद के अधिक निकट आ जाता है। हम जानते हैं कि अद्वैत दर्शन को प्रत्येक दृष्टि से समझने के लिए माया का ही सिद्धान्त एक तार्किक कुंजी या मापदण्ड के रूप में प्राप्त है। अतः यदि सांख्य दर्शन में भी ऐसी ही है, तब तो रंगमंच से एक नर्तकी के निवर्तन की भांति विश्व के रंगमंच से सांख्य

---

१. प्रकाशानन्द, वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली (अच्युत ग्रन्थमाला) पृ० ४३

२. दि कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया वाल्यूम-३ पृ० ४२८

की प्रकृति के निवर्तन का यह अर्थ होना चाहिए कि पुरुष के साथ सहशाश्वत होते हुए भी प्रकृति सुख,दु:ख व मोह आदि की भ्रान्तिपूर्ण अनुभूति करने के लिए एक अनिवार्य सहायक तत्त्व है,यह दु:ख प्रतिबद्ध स्वरूप का है और यह एक अप्रतिबद्ध आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकता ।

शंकर द्वारा वैशेषिक दर्शन की आलोचना

हम जानते हैं कि किसी भी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय तथा पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट के विचारों में जिस प्रकार की असमानता प्राप्त होती है,ठीक उसी प्रकार की असमानता शंकर के अद्वैत दर्शन तथा कान्ट के दर्शन में भी प्राप्त होती है,क्योंकि अद्वैत दर्शन तथा अन्य सभी भारतीय दर्शनों में एक अभेद दृष्टि ही कार्य करती है । पूर्व प्रकरण में हम इस तथ्य का यथासंभव स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि समान विवक्षित लक्ष्य की प्राप्ति ही सम्पूर्ण दर्शनों का अभीष्ट है, परन्तु फिर भी सब ने आंशिक दृष्टिकोणों से उस अद्वैत लक्ष्य को देखा,इसलिए अद्वैत दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शन श्रुति-सम्मत सिद्धान्तों से असंगत प्रतीत होने लगते हैं । अत: शंकर ने आन्वीक्षात्मक व्याख्या द्वारा उनकी इस असंगतता को दूर करके तथा उन्हें उनकी आंशिक दृष्टिभेद सम्बन्धी भूल को दिखा कर वेदान्त मत की रक्षा की । प्रधान कारणवाद की असंगतता को दिखाने के पश्चात् ब्रह्मसूत्र के `महद्दीर्घाधिकरणम्` के अपने भाष्य में न्याय-वैशेषिक दर्शन का एक तार्किक एवं बौद्धिक विवेचन प्रस्तुत किया है तथा इनमें निहित दोषों व तार्किक असंगतताओं का निम्न प्रकार से निरूपण किया है --

प्रधान कारणवाद के पश्चात् शंकराचार्य जी परमाणुवाद की परीक्षा करते हैं । परमाणुवादी वैशेषिक विचारक वेदान्त मत को असंगत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए यह कहते हैं कि चेतन ब्रह्म द्वारा अचेतन जगत की रचना असंभव है । उनका कथन है कि परमाणुओं में गुणात्मक तथा जातिगत या संख्यात्मक तथा द्रव्यगत दोनों प्रकार के भेद हैं,इसलिए सिद्धान्त यह होना चाहिए कि कारण द्रव्य में निहित गुण कार्य द्रव्य में अपने समान जातिवाले अन्य गुणों

को उत्पन्न करते हैं अर्थात् कारण और कार्य में समान गुण ही होना चाहिए जैसे श्वेत तन्तुओं से श्वेत वस्त्र की तथा रक्तिम तन्तुओं से रक्तिम वस्त्र की उत्पत्ति होती है। चेतन ब्रह्म अचेतन जगत का उपादान कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों में समान गुण नहीं है।[१] वेदान्ती शंकराचार्य न्याय वैशेषिक दर्शन-विचार को स्थिति को ही माध्यम बना कर उपरोक्त आक्षेप को निराधार एवं असंगत सिद्ध कर देते हैं। वे कहते हैं कि परमाणुवादी वैशेषिक के अनुसार समवायि, असमवायि और निमित्त इन तीनों कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है, सृष्टिकाल में कार्य की सिद्धि के लिए परमाणु, जो नित्य व निरवयव हैं तथा रूपादि गुणों से युक्त हैं, समवायिकारण बनते हैं, इनका परस्पर संयोग असमवायि-कारण बनता है तथा अदृष्ट या ईश्वरेच्छा निमित्त कारण बनते हैं। परमाणु का अत्यन्त सूक्ष्म माप ही परिमण्डल है, जब अदृष्ट से प्रेरित ईश्वर [illegible] इनमें गति का संचार करते हैं तब दो परमाणु या पारिमाण्डल्य मिल कर द्व्यणुक बन जाते हैं तथा तीन द्व्यणुक मिल कर एक त्र्यणुक का निर्माण करते हैं और चार त्र्यणुक मिल कर एक चतुरणुक का सृजन करते हैं। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि अत्यन्त सूक्ष्म परिमण्डल या परमाणुओं से अणु व ह्रस्व द्व्यणुक उत्पन्न होते हैं और इन द्व्यणुक अणुओं से महत् व दीर्घ त्र्यणुकों की उत्पत्ति होती है। इसी क्रम से जगत के स्थूल पदार्थों की सृष्टि होती है। वैशेषिकों

---

१. देखिए, एस० राधाकृष्णन्, ब्रह्मसूत्र, दि फिलासफी आफ स्पिरिचुअल लाइफ पृ० ३७३

" The Vaiśeṣika argues that the qualities which inhere in the substance constituting the cause reappear in the substance constituting the effect...If the intelligent Brahman is the cause of the world, intelligence must be present in the effect also. But this is not the case. So the intelligent Brahman can not be the cause of the world."

२. एम० हिरियन्ना, दि एसेन्शियल्स आफ इण्डियन फिलासफी, पृ० ८६

के उपरोक्त विचार का निराकरण करने के लिए वेदान्ती यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार सूक्ष्म परमाणु परिमण्डल से अणु व ह्रस्व द्व्यणुकों की उत्पत्ति होती है, परिमण्डल की नहीं, द्व्यणुकों से त्र्यणुकों की उत्पत्ति होती है, ह्रस्व तथा अणु की नहीं, उसी प्रकार चेतन से चेतन नहीं वरन् अचेतन की उत्पत्ति भी संभव हो सकती है।[1]

वैशेषिक विचारक पुन: कहते हैं कि हम यह स्वीकार करते हैं कि द्व्यणुक आदि कार्य द्रव्य विरोधी तथा भिन्न परिमाण से व्याप्त हैं इसलिए परिमण्डल आदि उनके आरम्भक या उत्पादक नहीं हो सकते हैं। परन्तु ब्रह्म में निहित चेतना का जगत के किसी भी ऐसे गुण द्वारा विरोध नहीं होता जो एक कारण के रूप में इसे आरम्भक बनाने अर्थात् जिससे कारणगत चेतना कार्य में अन्य चेतना का प्रारम्भ न करे। जगत अचेतन या जड़ है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह चेतना का विरोधी कोई गुण है, इसका अर्थ यह है कि अचेतन या जड़ केवल चेतना का अभाव मात्र है। चूंकि चेतना परमाणु परिमण्डल आदि एक गुण से भिन्न है, इसलिए इसका प्रयोग परमाणुओं की भांति नहीं किया जा सकता है। यदि ब्रह्म वस्तुत: जगत का कारण है तथा जगत के किसी गुण द्वारा इसका विरोध नहीं होता, तब इसकी चेतना जगत के कार्य का प्रारम्भ कर सकती है।[2]

परमाणु का निराकरण करते हुए शंकर कहते हैं कि वैशेषिक विचारक परमाणु को जगत का कारण स्वीकार करते हैं। कोई भी कार्य बिना कारण के उत्पन्न नहीं हो सकता है। गौचर जगत में यह दृष्टिगत होता है कि कोई भी सावयव द्रव्य अपने अनुकूल संयोगयुक्त द्रव्यों से ही उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण जगत सावयव है, इन अवयवों का विश्लेषण करने से अथवा इनका निरन्तर विभाजन करने से हम अनन्त लघुता तक पहुंचते हैं। वैशेषिकों के अनुसार यह अन्तविहीन लघुता या विभाजन की अन्तिम सीमा अथवा न्यून परिमाण की सीमा ही परमाणु है, ये परमाणु ही जगत का कारण है। ऐसा समझा जाता है कि भौतिक पदार्थ पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के ही अनुकूल परमाणुओं की भी चार

---

१. जार्ज थीबु, वेदान्त सूत्र पार्ट १, अध्याय २, पाद २, सू०११ पृ० ३८३

२. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा--भाषानुवाद सहित, अ०२ पा० २, अधि० २ सू०११, पृ० ११६४-६५।

श्रेणियां हैं । वैशेषिकों की यह मान्यता है कि सृष्टि के समय वायु के परमाणुओं में अदृष्ट प्रवृत्तियों के कारण गति या कर्म उत्पन्न होता है, तब वायु के परमाणु परस्पर संयुक्त होकर द्व्यणुक तथा त्र्यणुक और अन्त में महान वायु को निर्मित करते हैं फिर शीघ्र ही महान जल को उत्पन्न करते हैं और उसके पश्चात् महान पृथ्वी तथा अग्नि प्रकट होती हैं, इसी प्रकार इन्द्रिय-सहित शरीर उत्पन्न होता है । जिस प्रकार वस्त्र तन्तुओं के रूप से उत्पन्न होता है उसी प्रकार अणु में रहने वाले रूपादि द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि को उत्पन्न करके जगत की रचना करते हैं । सृष्टि से पूर्व विभाग की अवस्था में परमाणु असंयुक्त रहते हैं तथा उनका संयोग किसी कर्म की अपेक्षा करता है । अतः इस तथ्य के सम्बन्ध में शंकर प्रश्न उठाते हैं कि कर्म का कोई निमित्त है या नहीं । यदि निमित्त को अस्वीकार करते हैं तब कर्म का प्रारम्भ नहीं होगा क्योंकि निमित्त का अभाव है तथा वैशेषिकों के मतानुसार प्रलयकाल में परमाणु निश्चल रहते हैं । यहां दृष्ट निमित्त को स्वीकार करना भी संभव नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी प्रयत्न या कर्म शरीरधारी आत्मा का ही गुण हो सकता है परन्तु वैशेषिकों के अनुसार सृष्टि के पूर्व तो दृष्ट शरीर ही असंभव है, अतः इस प्रकार दृष्ट निमित्त का प्रत्याख्यान हो जाता है । यदि किसी अदृष्टरूपी तत्व को कर्म का निमित्त अथवा कारण माना जाय तो प्रश्न उठता है कि अदृष्ट का निवास कहां है, अधिष्ठान कहां है ? एक गुण के स्वरूप का होने के कारण इसे किसी द्रव्य में होना चाहिए । अब यदि यह अदृष्ट जीवात्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला है तब यह परमाणुओं को प्रभावित नहीं कर सकता, क्योंकि प्रथम तो अदृष्ट भी अचेतन है और वैशेषिक मत में आत्मा भी शरीर धारण से पूर्व अचेतन है, हम जानते हैं कि अचेतन चेतन से संयुक्त होकर ही क्रियाशील हो सकता है, द्वितीय आत्मा में रहने पर भी अदृष्ट परमाणुओं से सम्बन्धित नहीं होता इसलिए भी वह परमाणु में कोई क्रिया नहीं प्रवृत्त कर सकता है । यदि वह परमाणुओं में है तब भी बुद्धिसम्पन्न या चेतन न होने से वह परमाणुओं को गति नहीं प्रदान कर सकता है । अब यदि हम यह विचार करें कि अदृष्ट से युक्त जीवात्मा का सम्बन्ध परमाणुओं से है अर्थात् जीवात्मा परमाणुओं में समवाय सम्बन्ध से रहती है तथा वह अदृष्ट से युक्त

है,तब ऐसी स्थिति में सम्बन्ध भी सदा बना रहेगा और क्रियाशीलता भी नित्य हो जावेगी तथा कर्म का कोई नियत निमित्त नहीं होगा इसलिए कर्म का प्रारम्भ नहीं होगा । परिणामस्वरूप कर्म के संयोग का अभाव होगा, इसलिए द्वयणुक त्र्यणुक इत्यादि कार्य भी नहीं होंगे और हमारे अनुभव जगत का कोई अस्तित्व नहीं होगा । इतना ही नहीं शंकराचार्य जी परमाणुओं की पारस्परिक संयुक्तता को भी असंगत सिद्ध करते हैं । वे कहते हैं कि यह सम्भावना कठिन है कि किस प्रकार उनका परस्पर संयोग कार्यान्वित होता है । वैशेषिकों के अनुसार तो परमाणु विभाजन की अन्तिम सीमा है अत: वे अविभाज्य तथा निरवयव हैं ।[1] सामान्य अनुभव से ज्ञात होता है कि संयोग सदैव विभागयुक्त वस्तुओं में ही होता है । हमारे समक्ष परमाणु-सम्बन्धी दो विकल्प स्पष्ट होते हैं—(अ) परमाणु एक दूसरे के साथ पूर्ण रूप में संयुक्त होते हैं अथवा (ब) अंशों या हिस्सों में संयुक्त होते हैं । प्रथम विकल्प के अनुसार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि परमाणु एक दूसरे से पूर्णरूपेण संयुक्त हो जाते हैं तब एक का अस्तित्व दूसरे में समाहित हो जावेगा और ऐसी दशा में उनके परिमाण में वृद्धि नहीं होगी,केवल अणुमात्र ही शेष रहेगा जबकि परमाणु के संयोग से द्वयणुक व त्र्यणुक की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है । द्वितीय विकल्प के अनुसार यदि हम इनका एक देश या हिस्से से संयोग मानते हैं तब हम परमाणुओं को निरवयव या प्रदेशशून्य नहीं कह सकते हैं जैसा कि वैशेषिकों का सिद्धान्त है । यदि हम परमाणुओं में कल्पित देशों की स्थापना करते हैं तो कल्पित सदैव कल्पित ही रहेगा,अवस्तुरूप रहेगा इससे वस्तु-रूप कार्य के संयोग या असमवायी कारण का अभाव हो जावेगा और इस प्रकार द्वयणुक आदि कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति असम्भव हो जावेगी । जब संयोग या उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है तब

---

१. वाचस्पति गैरोला,भारतीय दर्शन,पृ० २८२

विभाग अथवा वियोग या प्रलय भी असंभव हो जाता है। इस प्रकार अदृष्ट से सर्ग तथा प्रलय की सिद्धि नहीं होती है और निमित्त के अभाव से भी जगत की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं स्पष्ट किया जा सकता है।[1]

शंकराचार्यजी परमाणु कारणवाद का खण्डन करने के लिए एक अन्य युक्ति देते हैं। वे कहते हैं कि वैशेषिकों के सिद्धान्तानुसार असत्कार्य अर्थात् कारण से कार्य अत्यन्त भिन्न है फिर भी समवायिकारण और कार्य का पारस्परिक सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध ही होता है। समवाय का तात्पर्य है अयुतसिद्ध अर्थात् अलग-अलग न रहने वाली वस्तुओं में सम्बन्ध जैसे अंश और अंशी, गुण व द्रव्य तथा क्रिया व कर्ता आदि में समवाय सम्बन्ध है। आगे वे लोग कहते हैं कि दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाला द्व्यणुक नामक कार्य अपने कारण परमाणुओं से भिन्न होकर भी समवाय सम्बन्ध द्वारा उनसे सम्बद्ध होता है।[2] जिस प्रकार द्व्यणुक अपने कारण परमाणुओं से भिन्न होता है उसी प्रकार समवाय भी समवायी से भिन्न होता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भिन्नता या भेद की दृष्टि से दोनों में अत्यन्त साम्य है। यहाँ पर शंकराचार्यजी कहते हैं कि जिस प्रकार कारण परमाणुओं से अत्यन्त भिन्न होते हुए भी समवाय सम्बन्ध द्वारा कार्य द्व्यणुक उनसे सम्बन्धित होता है उसी प्रकार समवाय भी समवायि से एक अन्य नवीन समवाय द्वारा सम्बन्धित होगा। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि दो समवेत होने वाली वस्तुओं से भिन्न समवाय स्वयं उन दोनों वस्तुओं से समवेत होने के लिए एक अन्य समवाय की अपेक्षा करेगा, इस प्रकार यह क्रम निरन्तर अन्य, अन्य की माँग करते हुए अनन्त की स्थिति पर पहुँच जायेगा और अनवस्था दोष की सिद्धि हो जायेगी।[3] अतः समवाय का अभाव सिद्ध हो जाने से परमाणुओं से

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य रत्न-प्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२पा०२ अधि० ३ सू०१२, पृ० ११७६

२. वही, पृ० ११८०

३. वही, पृ० ११८१

द्वयणुक आदि के उत्पत्ति के क्रम से जगत की रचना असंभव हो जाती है। यदि पूर्वपक्षी वैशेषिक विचारक अपने पक्ष के समर्थन में यह कहें कि समवाय समवायी से भिन्न नहीं है वरन् उसका स्वरूप ही है। इसलिए दोनों में नित्य सम्बन्ध है, उन्हें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। यह भी शंकर के अनुसार तर्कसंगत नहीं है क्योंकि उपरोक्त परिस्थिति में संयोग संयोगियों का नित्य सम्बन्ध अर्थात् संयोग भी संयुक्त वस्तुरूप हो जावेगा और किसी अन्य की अपेक्षा से रहित होगा, परन्तु इस प्रकार वैशेषिकों का संयोग को गुण तथा समवाय को अगुण रूप में स्वीकार करना असिद्ध हो जावेगा अतः अनवस्था दोष से उनकी रक्षा नहीं हो सकती और इस प्रकार इनका परमाणु कारणवाद भी असिद्ध हो जाता है।[१]

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के चौदहवें सूत्र द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि परमाणुओं की पारस्परिक संयुक्तता का प्रश्न हम छोड़ दें तब भी भिन्न चार विकल्पों द्वारा वैशेषिकों की यह मान्यता कि 'परमाणुओं द्वारा जगत की सृष्टि संभव है' असिद्ध हो जाती है-- (१) परमाणु क्रियाशील, चल अथवा प्रवृत्ति स्वभाव वाले हैं या (२) निष्क्रिय, स्थिर अथवा निवृत्ति स्वभाव वाले हैं या (३) दोनों ही अर्थात् प्रवृत्ति, निवृत्ति स्वभाव से युक्त हैं या (४) दोनों में से कुछ भी नहीं हैं अर्थात् प्रवृत्ति निवृत्ति स्वभाव से रहित हैं। प्रथम स्थिति में क्रियाशील होने से सृष्टि नित्य एवं शाश्वत हो जावेगी और प्रलय असंभव हो जावेगा, दूसरी स्थिति में निष्क्रिय होने से सृष्टि रचना ही असंभव हो जावेगी, तीसरी स्थिति में एक ही वस्तु परस्पर विरोधी हो जाती है जो पूर्णतया असंगत है तथा अन्तिम स्थिति में क्रियाशीलता एवं निष्क्रियता का अभाव होने पर अन्य बाह्य निमित्त कारण को स्वीकार करना होगा। दृष्ट निमित्त तो सृष्टि के अनन्तर ही सम्भव हो सकते

---

१. जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र पार्ट १ अ०२ पा०२-१३ पृ०३६० ।

है अत: यह निमित्त अदृष्ट होगा किन्तु यह भी स्थायी रूप से दूर या समीप होने के कारण नित्य प्रवृत्ति तथा नित्य निवृत्ति को उत्पन्न करेगा । इस प्रकार शांकर वेदान्त मत के अनुसार उपरोक्त चार विकल्पों द्वारा भी परमाणु कारणवाद सिद्ध नहीं होता है।[1]

वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार जगत के निर्माणक तत्व वायु,जल,पृथ्वी तथा अग्नि आदि चार प्रकार के परमाणु हैं । ये नित्य,निरवयव,अविनाशी तथा अविभाज्य हैं परन्तु स्पर्श,रूप,रस,गन्ध आदि गुणों से भी युक्त हैं । शंकर कहते हैं कि हमें रूप,रस इत्यादि गुण गोचर वस्तुओं से स्थूल रूप से दिखाई देते हैं तथा वे अनित्य होते हैं और उनका कोई न कोई उपादान कारण होता है जो उनसे सूक्ष्म होता है जैसे स्थूल वस्त्र से उसका कारण तन्तु सूक्ष्म होता है तथा अनित्य भी होता है । इसी प्रकार यदि वैशेषिकों के परमाणु रूपादि गुणों से युक्त हैं तब अवश्य ही इनका भी कोई कारण होगा जो इनसे सूक्ष्म होगा तथा ये परमाणु अनित्य होंगे । यदि इनको रूपादि गुणों से युक्त नहीं मानते तो रूपादि गुणों की कार्यों में सिद्धि नहीं होती । गुणों से युक्त मानने पर इनकी नित्यता सिद्ध नहीं होती ।[2]

अद्वैतवेदान्ती शंकर एक अन्य युक्ति द्वारा भी परमाणुवाद को असंगत ठहराते हैं । वैशेषिक विचारक रूप,रस,स्पर्श व गन्ध आदि गुणों से युक्त पृथ्वी,जल,वायु तथा अग्नि आदि भूत तत्वों की स्थापना करते हैं । अब हमारे समक्ष इन भूतों तथा इनके आरम्भक परमाणुओं में गुणों की स्थिति का अनुमान करना होगा । इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष कई स्थितियां आती हैं,जैसा कि वैशेषिकों ने स्वीकार किया है पृथ्वी नामक भूततत्व गन्ध,रस,रूप और स्पर्श गुणों से युक्त स्थूल तत्व है,जल,रूप,रस तथा स्पर्श से युक्त सूक्ष्म तत्व है,अग्नि या तेज,रूप व स्पर्श गुणों से युक्त होकर सूक्ष्मतर तत्व है तथा वायु स्पर्श से

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा,ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य,रत्न-प्रभा भाषानुवाद सहित, भाग २,अ० २ पा० २अधि० ३ सू० १४ पृ० ११८४

२. वही,पृ० ११९०

युक्त होने के कारण सूक्ष्मतम है । इस प्रकार जब पृथ्वी आदि भूतों में गुणों का न्यूनाधिक्य है तो उनके आरम्भक या कारण परमाणु भी न्यूनाधिक गुणों से युक्त होंगे । अधिक गुणों से युक्त भूत तत्त्व का स्थूल आकार भी बृहत् होगा और फिर इसी के अनुसार उनके कारण परमाणुओं का परिमाण भी अधिक होगा परन्तु शंकर कहते हैं कि इस स्थिति में परमाणुओं के परिमाणुत्व की हानि होगी । यदि इस प्रकार का न्यूनाधिक्य न मान कर परमाणुओं को समान गुणों से युक्त मानते हैं,तब या तो सभी भूत तत्त्व चार-चार गुणों से युक्त होंगे अर्थात् पृथ्वी के अतिरिक्त जल में भी गन्ध तथा अग्नि में भी गन्ध व रस तथा वायु में भी रूप,रस,गन्ध आदि अन्य गुणों को स्वीकार करना पड़ेगा । किन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि ऐसा प्राप्त नहीं होता है,या तो वे एक-एक गुण से युक्त होंगे,किन्तु इस स्थिति में भी पृथ्वी को केवल गन्ध,जल को केवल रस,वायु को केवल स्पर्श तथा अग्नि को केवल रूप इत्यादि एक-एक गुण से ही युक्त मानना होगा क्योंकि कारण के गुण कार्य में समान जातीय गुणान्तर प्रकट करते हैं,शंकर का कथन है कि इस प्रकार इनका परमाणुवाद अनेक असंगतताओं से परिपूर्ण है[1]।

शंकराचार्य भी कहते हैं कि न्याय-वैशेषिकों का दार्शनिक विचार अनेक असंगत मान्यताओं से पूर्ण है,इसीलिए वेदवादी विचारकों ने इसे स्वीकार नहीं किया है । सांख्य विचारक तो अपने सत्कार्यवाद के सिद्धान्त द्वारा मनु आदि वेदसम्मत विचारकों को कुछ संतुष्टि प्रदान भी करते हैं[2]।

सर्वप्रथम हम देखते हैं कि न्याय-वैशेषिक दर्शन द्रव्य,गुण,विशेष इत्यादि सात पदार्थों के विभिन्न प्रकारों की स्थापना करते हैं । शंकर के विचारानुसार यह सिद्धान्त विरोधपूर्ण है क्योंकि पूर्वपक्षी विचारक पदार्थों को भिन्न-भिन्न तथा स्वतंत्र मानते हुए भी गुण,कर्म आदि पदार्थों को द्रव्य पदार्थ के आश्रित

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा,ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य,रत्नप्रभा भाषानुवाद सहित, भाग २,अ०२,पा० २ अधि० ३ सू० १४ पृ०११६३

२. वही,पृ० ११६४ ।

बताते हैं । इनके अनुसार द्रव्य के अस्तित्व से गुण, कर्म आदि का अस्तित्व है तथा द्रव्याभाव से उनका भी अभाव है, जैसे अग्नि और धूयें के समान, द्रव्य और गुण की भेदप्रतीति नहीं है, इसलिए गुण द्रव्यात्मक है, यहां भी विरोध स्पष्ट है । इस विरोध का निराकरण करने के लिए यदि द्रव्य व गुण को अयुतसिद्ध तथा समवाय सम्बन्ध द्वारा संयुक्त माना जाय तब भी इस स्थिति में अयुतसिद्धता या तो देशाश्रित होगी या कालाश्रित होगी अथवा स्वभाव आश्रित होगी अर्थात् स्वयंसिद्ध होगी । देशाश्रित होने पर इनके इस सिद्धान्त का विरोध हो जाता है कि द्रव्य द्रव्यों का तथा गुण गुणों का उत्पादक है । कालाश्रित मानने पर गाय के दायें-बायें श्रृंगों को भी अयुतसिद्ध मानना होगा तथा स्वयंसिद्ध मानने पर द्रव्य व गुण का स्वरूप भेद ही अनुपपन्न हो जावेगा और दोनों में तादात्म्य होगा[१] ।

वैशेषिक दार्शनिक अयुतसिद्ध पदार्थों के सम्बन्ध को समवाय तथा युतसिद्ध पदार्थों के सम्बन्ध को संयोग कहते हैं । शंकर के अनुसार यह भी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि शंकराचार्य जी के मतानुसार सम्बन्ध सदैव दो पदों की अपेक्षा रखता है, यदि उनमें यथार्थ सम्बन्ध है तब उन दोनों का अस्तित्व होना चाहिए । किन्तु वैशेषिकों का समवाय सम्बन्ध एकांगी होता है क्योंकि कारण अपने कार्य के अभाव में अस्तित्वयुक्त होता है । कार्य अपने कारण से अपृथक होता है, परन्तु फिर भी दोनों का अपृथक सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पाता है । यदि पूर्वपक्षी यह कहते हैं कि कार्य सिद्ध होने के पश्चात् कारण से सम्बद्ध होता है तो ऐसी अवस्था में कारण सम्बन्ध से पहले ही कार्य की सिद्धि मान लेने से भी अयुतसिद्धता या अपृथकता असम्भव हो जाती है । अतः वैशेषिकों का यह मत स्थापित नहीं हो सकता कि ' कार्य-कारण का संयोग व विभाग नहीं होता ।' घट, पट आदि उत्पन्न मात्र कार्य द्रव्यों का आकाश, जल, मिट्टी, सूत आदि कारण द्रव्यों के साथ संयोग सम्बन्ध होगा, समवाय सम्बन्ध नहीं । इसलिए संयोग व समवाय का भेद

---

१. एस० राधाकृष्णन्, वेदान्त सूत्र, पृ० ३७७ ।

असंगत एवं अज्ञात है क्योंकि एक ही वस्तु सम्बन्ध भेद से अनेक कही जा सकती है जैसे--एक ही मनुष्य ब्राह्मण, पिता, पुत्र आदि अनेक सम्बन्धों द्वारा जाना जा सकता है।[1]

वैशेषिक सिद्धान्तवादी यह स्वीकार करते है कि परमाणु, आत्मा तथा मन में पारस्परिक संयोग या सम्बन्ध है किन्तु हम जानते नहीं कि उनकी संयुक्तता किस प्रकार संभव है क्योंकि संयुक्तता तो देशीय वस्तुओं में ही होती है। इनका काल्पनिक प्रदेश मानने से सभी अनुपस्थित वस्तुओं की कल्पना होने लगेगी और वैशेषिकों के छ पदार्थों के अतिरिक्त अनेक पदार्थों की स्थापना अनेक रुचियों के अनुसार होने लगेगी। यहां एक दोष यह भी है कि जिस प्रकार निरवयव आकाश से द्वयणुक का सम्बन्ध असम्भव है उसी प्रकार परमाणुओं के साथ भी अवयवयुक्त द्वयणुकों का सम्बन्ध असम्भव हो जावेगा अतः आकाश व पृथ्वी में कोई घनिष्टता नहीं रहेगी। इसके लिए वैशेषिक विचारक समवाय सम्बन्ध को स्थापित करके द्वयणुक कार्यद्रव्य तथा परमाणु कारण द्रव्यों में आश्रिताश्रय भाव को स्पष्ट करते हैं। किन्तु शंकराचार्य जी के अनुसार ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दृष्टिगत होता है अर्थात् कारण व कार्य में भेद होने पर ही आश्रिताश्रय भाव की सिद्धि होती है, परन्तु शंकर इस सम्बन्ध को न मान कर कारण-कार्य से तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं।[2]

यदि परमाणुओं को परिच्छिन्न माना जाय तो वे दिशाओं द्वारा अवयवयुक्त होकर अनित्य हो जायेंगे। इस प्रकार वैशेषिकों के परमाणुओं की नित्यता तथा उनका निरवयव होना असिद्ध हो जाता है। 'दिशाभेद से भिन्न अवयव ही परमाणु हैं' इनका यह कथन भी युक्तसंगत नहीं सिद्ध होता है क्योंकि स्थूल-सूक्ष्म क्रम के अनुसार जब पृथ्वी तथा उसके बाद सूक्ष्म, सूक्ष्मतर द्वयणुक

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, रत्नप्रभा, भाषानुवाद सहित, अ० २ पा० २, अधि० ३ सू० १७ पृ० १२००-१२०१

२. वही पृ० १२०४-५

आदि विनष्ट होते हैं तब तो समान जाति वाले होने के कारण परमाणु भी नष्ट होंगे । यहाँ यह कहना भी उचित नहीं है कि किसी वस्तु का विनाश केवल उसके अवयवों के पृथक्करण द्वारा ही सम्भव है क्योंकि घृत, सुवर्ण आदि के ठोस स्वरूप का विनाश अग्नि के संयोग से हो जाता है । इसी प्रकार परमाणुओं के मूर्त स्वरूप का विनाश भी उनके सूक्ष्मतम स्वरूप या उनके परम कारण भाव की प्राप्ति से हो जाता है और ऐसा भी दृष्टिगत होता कि अवयव संयोग के अभाव में जल आदि से हिम आदि कार्यों की उत्पत्ति हो जाती है । शंकराचार्य जी कहते हैं कि वैशेषिकों का परमाणुवाद तर्कसंगत एवं श्रुति-सम्मत सिद्धान्त नहीं है ।[१]

(२)

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् इस बात का निरूपण करना असंगत न होगा कि वैशेषिक दर्शन सम्बन्धी शंकराचार्य जी की समीक्षा हमें यह देखने का एक सुअवसर प्रदान करती है कि यह दार्शनिक विचार-व्यवस्था अपने तत्त्वदार्शनिक तथा तार्किक प्रतिपादन में अद्वैत दर्शन से दूर तथा भिन्न होते हुए भी किस प्रकार अद्वैत दार्शनिक तत्त्वचेतना से अत्यधिक अभिन्न एवं समीप है जबकि कान्ट की पद्धति व्यवस्था और विचार के संगतपूर्ण प्रतिपादित सादृश्य के बावजूद भी शंकर और कान्ट में इस प्रकार की अभिन्नता एवं समीपता नहीं प्राप्त होती है । यहाँ वस्तुत: हमारा विचारणीय प्रश्न यह है कि वैशेषिक दर्शन व्यवस्था-सम्बन्धी समीक्षात्मक ~~व्यवस्था~~ परीक्षा किस प्रकार कणाद एवं इनके अनुयायियों के परमाणुवादी वैशेषिक सिद्धान्त तथा शंकर के अद्वैत सिद्धान्त के बीच निहित एक जातिगत आत्यन्तिक समानता को अभिव्यक्त करती है ? इस समस्या का उत्तर देने के लिए हमारे पास एकमात्र साधन यह है कि हम भारतीय दर्शन के दोनों सम्प्रदायों में निहित उद्देश्य के तादात्म्य पर विवेकपूर्ण दृष्टि डालें ।

---

१. जार्ज थीबु, वेदान्त सूत्र, पार्ट-१, पृ० ४०० ।

सत्ता की सृष्टि वैज्ञानिक या विश्वकारणमूलक व्याख्या के लिए परमाणुवाद की अपनी प्रतीयमानत: भौतिकवादी परिकल्पना के बावजूद भी वैशेषिक दर्शन अपने विचारतत्व में उतना ही आध्यात्मिक है जितना कि अद्वैतदर्शन । यह आध्यात्मिक स्थिति-निर्धारण प्रमुख समस्या-सम्बन्धी सुस्पष्ट एवं निर्भ्रान्त कथनों में निहित है । प्रमुख समस्या बौद्धिक संतुष्टि के लिए एक तत्वदर्शन प्रदान करने की नहीं है वरन् जीवन के उस लक्ष्य को एक निर्भ्रान्त एवं समुचित तरीके से लक्षित करने की है, जो व्यक्ति का नियत उद्देश्य है अर्थात् मोक्ष है या विषय के बन्धनों से मुक्ति है । अज्ञान का परित्याग करके आत्मा को अपने ही स्वरूप का प्राप्ति करना है । अविद्या, जो दु:ख, सुख से समाविष्ट जगत के भोग के प्रति बन्धन का कारण है, उसे समाप्त या बाधित हो जाना है और ज्ञान नित्य-अनित्य वस्तु-विवेक है[1] तथा यह आत्मा क्या है और क्या नहीं है इसके अन्तर को पहचानता है । सौभाग्यवश (या दुर्भाग्यवश) वैशेषिक विचारक आत्मा का एक विषयी के रूप में विचार नहीं करते । आत्मा का विषयी के साथ तादात्म्य करना अनिवार्य रूप से विषय के चिन्तन में एक बन्धन, जटिलता या फंसाव को उपलक्षित करता है । इसका तात्पर्य एक ऐसी स्थिति का स्वीकार किया जाना है, जिसमें विषयी को चेतनायुक्त समझा जाता है तथा इस चेतना को इसके एक अनिवार्य गुण के रूप में ग्रहण किया जाता है । विषयी और चैतन्य के बीच का यह अनिवार्य सम्बन्ध वैशेषिक दर्शन को बाध्य कर देता है कि वह विषयी आत्मा का चैतन्य के साथ तादात्म्य स्थापित करे । नि:सन्देह ही आत्मा, चेतना को अपने गुण की भांति प्रतिनियुक्त रूप में मन के साथ अपने संसर्ग से प्राप्त करती है । मन यथार्थ आत्मन नहीं है । यथार्थ अहम् अथवा आत्मा एक अचेतन द्रव्य है । चूंकि चेतनाका कार्य त्रिमुखी स्वरूप का है--ज्ञान, भाव तथा क्रिया अर्थात् जानना, अनुभूति करना तथा क्रियाशील होना और इनमें से प्रत्येक कार्य अनिवार्यतया एक विषययुक्त सम्बन्ध का सामना करता

---

१. पंचपादिका आफ पद्मपाद, गायकवाड्स ओरियन्टल सिरीज़, वाल्यूम नं० १०७, पृ० २१५ ।

है,इसलिए चेतना स्वयं ही दु:ख तथा उसके पूरक सुख की एक अवस्था बनने के लिए प्रवृत्त हो जाती है । मोक्ष के रूप में मुक्ति का तात्पर्य है दु:ख,सुख से परे जाना ।दु:ख,सुख से परे जाना केवल चेतना के अतिक्रमण द्वारा ही संभव है । अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आत्मनिष्ठता से परे जा कर ही दु:ख सुख से निवृत्ति सम्भव हो सकती है । यही कारण है कि वैशेषिक दार्शनिक एक ऐसे आत्म-द्रव्य की मान्यता देते हैं,जो स्वाभाविक रूप से चेतना-शून्य[१] है । ऐसा करने में वैशेषिक विचारक प्रतीयमानत: स्पष्टरूप से उपनिषदों के दर्शन के विपरीत जाते हुए प्रतीत होते हैं,तथा ऐसा मालूम होता है कि स्पष्ट रूप सेआत्मा के एक भौतिकवादी सिद्धान्त का प्रचार व प्रतिपादन करते हैं । आत्मा का चेतनशून्यता को आत्मा के पदार्थत्व या उसकी पौद्गलिक जड़ता के रूप में नहीं समझना चाहिए । यद्यपि वैशेषिक सिद्धान्ती आत्मा की व्याख्या अचेतन सत्त्व के रूप में करते हैं किन्तु फिर भी यह अचेतना पौद्गलिक जड़ता की भांति कोई वस्तु नहीं है । आत्मा की जड़ता आत्मा की अवुभिता या विकारहीनता का प्रतीक है और यह जगत में सुख दु:ख के व्यापार द्वारा घटित होता है ।

इस प्रकार यह उपलक्षित होता है कि वैशेषिक दर्शन के विचारकों को स्पष्ट रूप से दो तथ्यों से अवगत होना चाहिए तथा जहां तक हम विचार करते हैं ये दोनों ही तथ्य वैशेषिक दर्शन को उचित रूप से समझने के लिए पूर्वमान्यताएं हैं-- (१) विषयी यथार्थ आत्मन् नहीं है । आत्मयुक्त सत्त्व विषयी-विषय के द्वैत द्वारा पोषित चेतना के आविर्भाव में नहीं निहित होता है,विषयिता या आत्मनिष्ठता सत्य नहीं है । यहां ध्यान देने की बात यह है कि सत्त्व की यह स्थिति कीर्केगार्ड आदि अस्तित्ववादी दार्शनिकों की सत्य सम्बन्धी स्थिति से

---

१. एस० राधाकृष्णन्,इंडियन फ़िलासफ़ी वाल्यूम-२,पृ० १६० ।

पृथक है, इनके विचारानुसार तो सत्य आत्मनिष्ठता ही है[1] । (२) वस्तुनिष्ठता अनिवार्यतया पदार्थ या पुद्गल अथवा जड़ का कार्य नहीं है । संस्कृत `जड़` शब्द तथा इसके विशेषण `जड़ता` का तात्पर्य पाश्चात्य विचारकों द्वारा स्वीकृत द्रव्य पदार्थ या भौतिकता नहीं है । यहां जड़ता का तात्पर्य केवल किसी भी प्रकार की मनोवृत्ति या मानसिक कार्य का अप्रभाव है, उसकी अपारगम्यता एवं अभेद्यता है जो अपने ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक इन तीनों पहलुओं में आत्म-द्रव्य को सीमाबद्ध करने के लिए प्रणत हो जाती है । यह आत्म-द्रव्य इस मनोविकृति में अधिष्ठित सम्पूर्ण वस्तुओं से सहजरूप में पृथक है । भारतीय दार्शनिक व्यवस्था में तो मौलिक आत्मन् की निर्विकारता का ही श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन होता है[2] । अन्तिम वस्तु-सम्बन्धी हमारे ज्ञान के अन्तिम स्रोत के रूप में वैशेषिक दार्शनिक भी वेद धर्म ग्रन्थों तथा श्रुति को ही स्वीकार करते हैं । इसी निगमागम सम्मत विचार दृष्टि के कारण ही ये विचारक अद्वैत दर्शन के समीप पहुंचते हुए प्रतीत होते हैं । हम भलीभांति यह निर्दिष्ट कर सकते हैं कि किस प्रकार भीकण परमाणुओं के एक सिद्धान्त में वैशेषिक तत्वदर्शन पथभ्रष्ट एवं भ्रमित हो जाता है, तथा विश्व की उत्पत्ति और विनाश की व्याख्या के लिए परमाणुओं के संयोग एवं विभाग की अनिवार्य अपेक्षा रखता है । वैशेषिक तत्व-दार्शनिक वस्तुओं की भौतिकवादी व्याख्या द्वारा सन्तुष्ट नहीं है । कभी-कभी ज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण भी हमें धोखा दे जाता है, इसलिए हमें एक अत्यन्त गहन एवं गूढ़ स्तर पर अनुमान प्रमाण की आवश्यकता

---

१. धीरेन्द्रमोहन दत्ता, दि चीफ़ करेन्ट्स आफ़ कॉन्टेम्पोरेरी फ़िलासफ़ी, पृ० ५१६ तथा कीर्केगार्ड, कन्क्लूडिंग अनसाइंटिफ़िक पोस्ट स्क्रिप्ट, पृ० २२६, २८१ जहां हमें इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—

" only in subjectivity there is decisiveness, to seek objectivity is to be in error."

२. बृहदारण्यकोपनिषद् (सानुवाद शांकरभाष्य सहित) अध्याय २, ब्राह्मण ५ ।

पड़ती है। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार पाश्चात्य चिन्तक ह्वाइटहेड अपने त्रिविध जगत सम्बन्धी ज्ञान का प्रारम्भ संवेदन सामग्री से करते हैं तथा उसके पोषण के लिए एक सैद्धान्तिक व्याख्या देते हैं, इसके पश्चात् बाह्य वस्तुओं के एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं[१]। ठीक उसी प्रकार वैशेषिक दार्शनिक भी अपने जगत-सम्बन्धी ज्ञान का प्रारम्भ संवेदन के साथ करते हैं तथा इसके लिए वे सैद्धान्तिक व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं और हमारे समस्त बाह्य वस्तुओं के इस एक सिद्धान्त के प्रतिपादन के एक अमूर्त स्तर का प्रादुर्भाव आत्मा तथा परमाणुओं के स्वरूप में करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि वह क्या है जो परमाणुओं को उनकी निरवयव तथा सूक्ष्म स्थिति से उन्हें जटिल एवं स्थूल रूपों में गतिशील होने के लिए प्रवृत्त करता है। इसके लिए वैशेषिक विचारक आत्माओं के धर्म और अधर्म अर्थात् अदृष्ट या अपूर्व अपूर्व में कारणात्मक क्षमता का निर्धारण करते हैं। उपरोक्त सम्पूर्ण अनुमान एक ऐसे आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अभिमुख होता है जो वैशेषिक दर्शन व्यवस्था में मूलभूत महत्त्व की वस्तु है अर्थात् अन्तिम उद्देश्य मोक्ष है तथा अन्तिम तत्त्व दार्शनिक विश्लेषण में एकमात्र सत्य है। इतना ही नहीं यह एकमात्र अत्यधिक मूल्यवान् व महत्त्वपूर्ण सत्ता है और यह सत्ता सुख दु:ख से परे की सत्ता है जिसकी व्याख्या हम आनन्द शब्द में भी कर सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं। यह आत्मवादी द्रव्य ही अज्ञान द्वारा दु:खपूर्ण अनुभव का केन्द्र या बीजक बन जाता है, अत: हमारी विचारतन्द्रा इन प्रश्नों पर ठहर जाती है कि अज्ञान से निवृत्ति का क्या तात्पर्य है, सत्य का तादात्म्य किससे किससे किया जाता है, इत्यादि ? यहां यह कहा जा सकता है कि दु:ख के अभाव का अर्थ ही अज्ञान का अभाव है, परन्तु अज्ञान का अधिष्ठान क्या है ? अज्ञान उस आत्मनिष्ठता के

---

१. धीरेन्द्रमोहन दत्ता, दि चीफ़ करेन्ट्स आफ़ कॉन्टैम्पोरेरी फ़िलासफी, पृ० ४३४। तथा व्हाइटहेड, नेचर एण्ड लाइफ़, पृ० ८४

के अभाव में निहित है जिसका कार्य ही चेतना है । वैशेषिक तथा इनके प्रतिरूप न्याय-दर्शन दोनों ही विशुद्ध रूप से वस्तुविष्ठ दृष्टिकोण में चिंतन पर बल देते हैं । मुक्त आत्मा ही चरम सत्य है, परन्तु इस सत्य का तादात्म्य एक वस्तु विषय के साथ किया गया है । ह्वाइटहैड की शब्दावली में इसी वस्तु-विषय का प्रयोग ' नित्य वस्तु-विषय' के रूप में किया जाता है[१] । चिन्तन के भिन्न-भिन्न स्तर तथा दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं । चिन्तन के दो स्तर हैं--(१) आनुभविक तथा (२) अनुभवातीत । भारतीय दर्शन में केवल चार्वाक दर्शन ही आनुभविक स्तर पर चिन्तन करता है । शेष सभी दर्शनों का चिन्तन न्यूनाधिक रूप में आनुभविक स्तर से परे चला जाता है । आनुभविक चिन्तन से परे तत्त्व-दार्शनिक चिन्तन है, यह तात्त्विक चिन्तन एक वस्तुनिष्ठ स्वरूप का भी हो सकता है तथा इससे इतर किसी अन्य स्वरूप का भी हो सकता है जैसे--आत्मनिष्ठ प्रन्द्वन्यायात्मक तथा अतीन्द्रियात्मक । तात्त्विक चिन्तन सम्बन्धी इन स्वरूपों के वर्गीकरण का सुझाव श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने अपने निबन्ध ' दि कान्सैप्ट आफ फिलासफी ' में किया है[२] । ' दि हैरिटेज आफ शंकर ' में भी भारतीय दर्शन सम्प्रदायों के स्तर-विन्यास के सम्बन्ध में इस तथ्य का अत्यधिक विस्तार से विवेचन किया गया है, इसमें ग्रन्थकार श्री शिवशंकर राय ने इस बात का उचित एवं सफल रूप से दावा किया है कि एक आधारस्तम्भ के रूप में अद्वैत दर्शन के साथ हम सम्पूर्ण भारतीय दर्शन सम्प्रदायों को संरचनात्मक एकता प्रदान कर सकते हैं[३] ।

चिन्तन के विभिन्न स्तरों से भारतीय दर्शनों का स्तर-विन्यास निम्न प्रकार से किया गया है --

---

१. आरमैट्ज़, ए हन्ड्रेड इयर्स आफ ब्रिटिश फिलासोफी, पृ० ६१८
२. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, स्टडीज़ इन फिलासफी वाल्यूम-२, पृ० १०२
३. श्री एस०एस० राय, दि हैरिटेज आफ शंकर, पृ० १४६-५०

(१) चार्वाक दार्शनिक विशुद्ध रूप से आनुभविक स्तर पर चिन्तन करते हैं तथा इनके अनुसार प्रत्यक्ष ही ज्ञान एवं सत्य का एकमात्र प्रमाण[१] है ।

(२) सांख्य तथा न्याय-वैशेषिकों का चिन्तन स्तर अनुभवातीत है । किन्तु ये द्वैतवाद तथा अनेक द्रव्यों के सिद्धान्त के साथ वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण में चिन्तन करते[२] हैं ।

(३) योगाचार दार्शनिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण में चिन्तन करते हैं तथा इनके अनुसार सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता असत के रूप में समाप्त हो जाती[३] है ।

(४) शून्यवादी बौद्ध तो प्रत्येक मत अथवा स्थिति के बारे में केवल आलोचनात्मक चतुष्कोटिविनिर्मुक्त दृष्टि से चिन्तन करने के लिए प्रवृत्त होते हैं तथा ये किसी भी सिद्धान्त को असंगतताओं से परिपूर्ण बतलाते हैं । सम्पूर्ण [illegible] चिन्तन का लक्ष्य एवं स्वरूप दृष्टिशून्यता है । दृष्टि की सचेतना ही प्रज्ञा[४] है ।

(५) अद्वैत दर्शन न तो चिन्तन के आत्मगत स्तर को स्वीकार करता है न तो वस्तुगत स्तर एवं चतुष्कोटिविनिर्मुक्त स्तर को । वह अतीन्द्रियात्मक स्तर का प्रतिपादन करता[५] है ।

---

१. श्री एस०एस०राय, दि हैरिटेज आफ शंकर, पृ० १५०-५१

२. वही, पृ० १५२

३. वही ।

४. वही, पृ० १५८

५. वही, पृ० १५९-६० "To know the Ātman, it is necessary to turn away from the given in it's literal aspect to its symbolic implication. The Ātman is not one of the entities given--the object and the subject, as literally undestood, yet the Ātman embraces both, if we are prepared to take them as symbols of the limitless and the infinite. Each arrested breath, each fragmentar theoretic construction, is the symbol of that, which is freedom itself. Each step in the philosophical morphology of the Indian consciousness, can be seen in two aspects: (1) the dogmatic and (2) the critical. In the dogmatic aspect each step becomes a closed system of thought, subject to refutation, and fit enough to be disbelieved and disowned and to be understood as literall false. In the critical aspect, each content understood as literal false, can be comuted into a symbol, which brings home to us, the

सत्य न तो आत्मनिष्ठता (विषयिनिष्ठता) है न तो वस्तुनिष्ठता, इसका तत्व आत्मगत तथा वस्तुगत किसी भी दृष्टिकोण में बुद्धिगम्य नहीं है, वरन् विशुद्ध रूप से अतीन्द्रियात्मक दृष्टिकोण में स्वयं स्वप्रकाशित अधिष्ठान से प्रकल्पित है तथा यह सम्पूर्ण आत्मनिष्ठता एवं वस्तुनिष्ठता को अपने में समाहित करता है ।

हम वैशेषिक दर्शन तथा अद्वैत दर्शन को उद्देश्य की दृष्टि से समीप बतलाते हैं, किन्तु यहां हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि दोनों में तादात्म्य है, क्योंकि दोनों में तादात्म्य स्थापित करना जितना ही असंभव है उतना ही भ्रांत भी । वस्तुत: हम जो कुछ भी निदर्शित करना चाहते हैं वह केवल यही दर्शाना है कि दोनों ही दार्शनिक सम्प्रदाय एक समान लक्ष्य की ओर अभिमुख होते हैं अर्थात् दोनों ही आत्मानुभूति या मोक्ष की संस्थापना करते हैं । दोनों ही दर्शन औपाधिक सत्ता की विरति का निरूपण इस रूप में करते हैं कि इस सत्ता का कारण अज्ञानता में निहित है, तथा वैशेषिक व अद्वैत दार्शनिकों का यह विश्वास भी है कि मोक्ष दुख सुख की सीमा से परे की अवस्था है । आत्मा के इस सीमातीत पारलौकिक स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए ही वैशेषिक दार्शनिक सत्ता की अत्यधिक विवक्षित अवस्था के रूप में आत्मा की चेतनशून्यता पर बल देते हैं । मनीषि कणाद द्वारा स्थापित वैशेषिक दर्शन में केवल एक ही बात है, जो इसे एक अमिट दोष के साथ विकृत कर देती है । चूंकि वैशेषिक दार्शनिक वस्तुगत दृष्टिकोण से इतर रूप में सोच ही नहीं सकते हैं अत: उनके अनुसार मोक्ष की स्थिति में विमोचित आत्मा केवल विचार की रचनामात्र है, एक ऐसी सत्ता है जो अन्य विषयों के बीच केवल एक विषय है, और इससे कोई अन्तर नहीं आता कि यह सत्ता परमाणुओं के संघात से निर्मित एक नश्वर विषय है अथवा आत्मा या अन्तिम कण के रूप में स्वीकृत अणु के समान नित्य विषय है । इन परमाणुवादी विचारकों के पक्ष में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनके अनुसार आत्मा अतिमानसिक है, इसलिए इन्हें यह घोषित करने में कोई संकोच व हिचकिचाहट नहीं है कि आत्मा चेतनारहित

है । इसका कारण यह भी है कि अतिचेतन या अतिमानसिकता को अमानसिक या अचेतन के रूप में वर्णित किया जा सकता है । विशुद्ध चेतना के रूप में आत्मा-सम्बन्धी अद्वैतवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतना या चित् मानसिक नहीं है, इसलिए यह दृष्टिकोण संगत है ।

यदि कोई विचारक न्यायवैशेषिकों के अनुयायियों तथा अद्वैत मत अनुगामियों में अतिविस्तृत विरोध देखता व समझता है तब उसका विशेष कारण यह है कि वह दोनों सम्प्रदायों में निहित प्रवृत्तियों को नहीं समझता तथा दोनों के उस सामान्य लक्ष्य के प्रति अनभिज्ञ रहता है, जिस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अनेक टेढ़े से टेढ़े तथा अत्यधिक सरल पथ लक्षित हैं । अत्यधिक श्रेय तथा प्राप्ति के लिए संभव विकल्प एक ऐसी स्थिति हो सकती है, जिसमें ये दोनों दार्शनिक सम्प्रदाय एक दूसरे को स्वीकार करने के लिए तथा अपनी विभिन्नताओं को समाप्त करने के लिए सम्मत किये जा सकते हैं । दार्शनिक परम्पराओं में निहित असहमति अधिकांश रूप से लक्ष्यों के भेद में ही अभिव्यक्त होती है । यदि लक्ष्य ही भिन्न होंगे तो उनके बीच एक पूर्वस्थापित असंगति होगी और इस प्रकार उनकी एक दूसरे की आलोचना में पारस्परिक भ्रान्ति के अतिरिक्त अन्य आशय नहीं होगा । यदि उनके विवक्षित लक्ष्य या उद्देश्य समान हैं तब आन्वीक्षात्मक व्याख्या, उनके भेद व विरोधों को समाप्त करने में हमारी सहायता कर सकती है ।

शंकर द्वारा पाशुपत एवं पांचरात्र ईश्वरवादी दर्शनों की आलोचना

सब भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' ही है, अद्वैत के अतिरिक्त [illegible] सभी ने अपने इस अभीष्ट को विभिन्न दृष्टियों से देखने-समझने का प्रयास किया है । अपने इस प्रयत्न में समस्त दर्शन आंशिक दृष्टिकोणों से युक्त होते हुए श्रुतिवाक्यों से असंगति रखते हैं, इसी कारण-विशेष से शंकराचार्यजी ने तर्कपाद में इन को अपना आलोच्य विषय बनाया । यहां पुनः हम कहेंगे कि शंकर ने इन दर्शनों के 'खण्डन' के उद्देश्य से इनकी आलोचना नहीं की है, वरन् वे अपनी इस

आलोचना द्वारा इन दर्शनों में निहित भारतीय आध्यात्मिक व दार्शनिक चेतना को प्रदर्शित एवं स्पष्ट करना चाहते हैं थे। शंकराचार्य जी स्वयं अतीन्द्रिय स्तर पर एक ईश्वरवादी विचारक हैं, किन्तु वे ईश्वर-कारणवाद को असंगत एवं अनौचित्यपूर्ण सिद्ध करते हैं।

ईश्वर कारणवाद की असंगतता को दिखाते हुए अद्वैत दार्शनिक शंकर पाशुपत मत का निराकरण करते हैं --

ईश्वरकारणवाद के अनुसार ईश्वर ही जगत का मूल कारण है अर्थात् यही जगत का निमित्त कारण है। शंकराचार्य जी ने स्वयं भी ईश्वर को जगत के निमित्त एवं उपादान कारण के रूप में वर्णित किया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ईश्वर जगत का निमित्त कारण है[1]। परन्तु अद्वैतवादी शंकर यहां पर विशेष रूप से उस मत को अतार्किकता को स्पष्ट कर रहे हैं जिसके अनुसार ईश्वर केवल जगत का नियन्ता है, अधिष्ठाता है और इस प्रकार केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं है। यह मत वेद-विरोधी तथा वेद से स्वतंत्र है[2]।

वेदबाह्य सिद्धान्त के कई प्रकार हमें प्राप्त होते हैं --सांख्य योग का ईश्वर-कारणवाद जिसके मतानुसार प्रधान, पुरुष तथा ईश्वर परस्पर भिन्न एवं विलक्षण है तथा ईश्वर प्रधान व पुरुष के नियन्ता एवं अधिष्ठाता के रूप में एक निमित्त व सक्रिय कारण है। वैशेषिक मतानुयायियों के अनुसार भी अदृष्ट के रूप में ईश्वरेच्छा ही जगत का निमित्त कारण है तथा पाशुपत विचारक भी यह प्रतिपादित करते हैं कि शिव या पशुपति ही जगत के निमित्त कारण हैं[3]; यह विशुद्ध चैतन्य है, यह जगत का उपादान कारण नहीं है तथा शिव ही कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःखान्त आदि के उपदेश द्वारा जीव को जगत पाश से मुक्त कराते हैं। शंकर का कथन है कि शिव या पशुपति प्रकृति व पुरुष

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२, पा०२, अधि० ७ सूत्र ३७, पृ० १३०२

२. एस०के० बेलवल्कर, दि ब्रह्मसूत्र आफ बादरायण, विद दि कमेंट आफ शंकराचार्य, चैप्टर २, क्वार्टर्स। और २, मू०-२७ सूत्र ३७, पृ० १३३

३. वही, नोटस आन अधिकरण ७, सूत्र ३७, पृ० १९५-९६ तथा एस० राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, II, २, ३७ पृ० ३६० "The Māheśvaras hold that Paśupati, Śiva, is the efficient cause."

के अधिष्ठान एवं नियन्ता के रूप में जगत के कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इसे स्वीकार करने से हमें असंगततायें दृष्टिगत होती हैं। जगत में हमें जीवों की उत्तम, मध्यम व निम्न विभिन्न श्रेणियां प्राप्त होती हैं। कहने का तात्पर्य है कि ईश्वर की रचना में दुःख, सुख आदि अनेक रूपों में भेदभाव दृष्टिगत होता है इसलिए वह भी राग द्वेषादि से युक्त एक सांसारिक प्राणी की भांति होगा और ऐसा होने पर उसके ईश्वरत्व की हानि हो जायेगी। यदि पूर्व पक्षी पाशुपत विचारक यह कहें कि मनुष्य अपने कर्म के अनुसार भिन्नताओं से युक्त होता है तब भी उनके मत की असंगतता का निवारण नहीं होता है। शंकर कहते हैं कि ईश्वर निमित्त होने के कारण कर्म का प्रवर्तक हो जाता है तथा कर्म उसका प्रवर्त्य हो जाता है और परिणामस्वरूप अन्योन्याश्रय दोष की सिद्धि हो जाती है क्योंकि ईश्वरेच्छा द्वारा ही प्राणि कर्म में प्रवृत्त होता है तथा कर्मानुसार ही ईश्वर उनके परिणाम को निर्धारित करता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया परस्पराश्रित होकर तथा अनादि एवं अनन्त होकर एक अन्ध परम्परा को प्रसक्त करती है। हम जानते हैं कि कर्म की प्रवृत्ति किसी अपूर्णता से प्रेरित होती है अथवा दोष-निवृत्ति के लिए होती है, चाहे वह स्वार्थमूलक हो अथवा परार्थ के लिए हो। जब इनका ईश्वर पुरुष-विशेष है, निष्कल, अविकारी, नित्य तथा उदासीन है, तब उसमें प्रवृत्ति मानना अनुचित ही है।

शंकराचार्यजी का कथन है कि ~~इनके~~ इनके ईश्वर, पुरुष तथा प्रधान ये सब नित्य, निरवयव एवं सर्वव्यापी हैं और भिन्न हैं इसलिए इनमें किसी भी प्रकार का संयोग समवाय आदि कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है। शंकर केवल तर्क व प्रत्यक्षानुभव पर ही आश्रित न होकर श्रुति व आगम

---

१. एस०राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, २,२,३७ पृ० ३६०

"If the Lord assigns to different people different positions according to his likings, he will be like any one of us, subject to hatred, passion and so on. If we say that these positions high, intermediate and low, are determined by the merit and demerit of living beings, this leads to mutual dependence."

प्रमाण से तादात्म्य सम्बन्ध की मान्यता प्रदान करते हैं । अन्य वेद-विरोधी दर्शन अपने सर्वज्ञ प्रणेता के प्रति विश्वास दिखा कर अपने आप को शास्त्र-सम्मत कहते हैं,और इस प्रकार श्रुति व आगम प्रमाण से सादृश्य दर्शाते हैं; किन्तु यह भी संभव नहीं हो सकता है,क्योंकि इनके सर्वज्ञ प्रणेता तथा उनके अनुयायियों की श्रद्धा में अन्योन्याश्रय दोष निहित हो जाता है । ऐसा इसलिए कि आगम के प्रत्यय से ही सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है और सर्वज्ञ के प्रति विश्वास ही इनके अनुयायियों का आगम शास्त्र है ।[1]

यदि पाशुपत अनुयायी ईश्वर कारणवाद का समर्थन करते हुए यह व्याख्यानुमान प्रस्तुत करें कि जिस प्रकार एक कुम्भकार मृत्तिका आदि विषयों से प्रेरित होकर घटादि के कार्य में प्रवृत्त होता है,उसी प्रकार ईश्वर भी प्रधान से प्रेरित होकर जगत का निमित्त कारण बन जाता है ,तब भी उनके कारणवाद को युक्तसंगत नहीं कहा जा सकता है,क्योंकि मिट्टी इत्यादि की भाँति इनका प्रधान रूपादि से युक्त न होकर निर्विकार तथा रूपादि से रहित है और अप्रत्यक्ष है । इन पूर्वपक्षियों के समर्थन में यह दृष्टान्त भी तर्कसंगत एवं समीचीन नहीं है कि जीवात्मा और ईश्वर दोनों ही अप्रत्यक्ष हैं, इसलिए जिस प्रकार जीवात्मा समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता एवं प्रेरक है,उसी प्रकार ईश्वर भी प्रधान का प्रेरक है क्योंकि जीवात्मा तो इन्द्रियों को प्रेरित करके सुख,दुःखादि भोगों से युक्त हो जाता है किन्तु ईश्वर तो इनसे परे है,जीवात्मा की भाँति ईश्वर को प्रेरक मानने से उसे भी भोगादि से युक्त स्वीकार करना होगा और फलस्वरूप ईश्वर में सांसारिक प्राणि के समान अनीश्वरत्व व की सिद्धि हो जायेगी ।[2]

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा,ब्रह्मसूत्रभाष्य,शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित, अ०२ पा० २ अधि०७ सू० ३८ पृ० १३१०-११

२. वहीं,पृ० १३१५-१६

पाशुपत सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर या शिव आत्मा है तथा प्राकृतिक जगत और जीव उसके शरीर हैं, परन्तु ये तीनों असमान हैं और अनन्त हैं तथा ईश्वर या शिव सर्वज्ञ तथा अनन्त दोनों ही हैं[१]। इस सम्बन्ध में शंकर यह प्रश्न उठाते हैं कि शिव इनकी तथा स्वयं अपनी संख्या व परिमाण के ज्ञाता हैं या नहीं, यदि ज्ञाता हैं तब वह प्रधान आदि सहित सीमित व सान्त तथा विनाशी हो जायेंगे। इस प्रकार उनके अनन्तता की हानि होगी और यदि ईश्वर संपूर्ण का नियन्ता एवं ज्ञाता है, तब वह सब सान्त प्राणियों को बंधनमुक्त कर देंगे, ऐसा करने से शून्य ही शेष रह जायेगा और फलस्वरूप उनके ज्ञातव्य विषय का अभाव हो जायेगा। यदि उन्हें सर्वज्ञ नहीं माना जाता तो उनके सर्वज्ञता की हानि हो जाती है[२]। इस प्रकार अद्वैतवादी शंकराचार्य जी यह दिखाते हैं कि पाशुपत ईश्वरकारणवाद असंगत एवं अतार्किक है।

शंकराचार्य जी ने पाशुपत सिद्धान्तों की अतार्किकता एवं इसके आंशिक दृष्टिकोण को उपरोक्त तार्किक विवेचना द्वारा स्पष्ट किया तथा यह दिखाया कि इस प्रकार यह एक वेद-विरोधी दर्शन की संज्ञा ले लेता है।

अब शंकर यह दिखाते हैं कि पांचरात्र दर्शन एक वेद-सम्मत दर्शन है, किन्तु इसका ईश्वरकारणवाद भी वेदानुकूल नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह भी असंगतताओं से रिक्त नहीं है। वे पांचरात्र सिद्धान्त में निहित तार्किक असंगतता को निम्नप्रकार से दर्शाते हैं--

पांचरात्र ईश्वरकारणवादी वैष्णव विचारकों के अनुसार नारायण या वासुदेव नित्य, निरवयव, निराकार तथा निरंजन हैं, ये ही ज्ञानस्वरूप परमार्थ तत्व हैं तथा जगत के निमित्त व उपादान कारण हैं[३]। शंकराचार्य जी कहते हैं कि

---

१. एस० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफी, वाल्यूम ।।, पृ० ७२५

२. जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र, पार्ट ।, अ०२ पा०२, ४१ पृ० ४३६ ।

३. एस० राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, अ०२पा०२ अधि०८, सूत्र ४२ पृ० ३६३

कि यह तो श्रुति-सम्मत सिद्धान्त है ' वासुदेव ही ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व है' अत: यह ग्रहण करने योग्य है[१] । किन्तु ये वैष्णव तत्त्वदार्शनिक वासुदेव को चार विभागों में वर्णित करते हैं तथा इनके मतानुसार वासुदेव परमात्मा से संकर्षण-रूप जीव, जीव से प्रद्युम्नरूप मन तथा इस मन से अनिरुद्धरूप अहंकार की उत्पत्ति होती है[२] । शंकर इसे स्वीकार नहीं करते, उनका कहना है कि जीव की उत्पत्ति होने से जीव अनित्य हो जायेगा और इस प्रकार जीव के विनष्ट होने से उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी । अत: वासुदेवस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए जीव की उपासना आदि निरर्थक हो जाती है तथा परिणामस्वरूप भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष होगा ही नहीं[३] । इतना ही नहीं शंकराचार्य जी का कहना है कि यदि परम ब्रह्म नारायण या वासुदेव से जीव की उत्पत्ति संभव नहीं है तब संकर्षणरूप चेतन जीवात्मा से प्रद्युम्नरूपी मन तथा मन से अनिरुद्धरूपी अहंकार तत्त्व की उत्पत्ति भी असंभव है, क्योंकि जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टीरूपी साधन को उत्पन्न नहीं कर सकता उसी प्रकार जीवात्मा कर्ता चेतन है, वह मन तथा अहंकार आदि करणों की उत्पत्ति नहीं कर सकता है[४] ।

पांचरात्र विचारकों के अनुसार संकर्षण, प्रद्युम्न आदि जीवों के समान नहीं हैं वरन् ये ईश्वरीय गुण ज्ञान, ऐश्वर्य, तेज, बल, शौर्य तथा शक्ति आदि गुणों से युक्त हैं और ये क्रमश: जीव, मन तथा अहंकार के अधिष्ठाता हैं तथा ये निर्दोष एवं पूर्ण हैं । इसलिए इनसे उत्पत्ति संभव हो सकती है[५] । किन्तु इसके विरुद्ध

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित, अं०२पा० २ अधि०८ सू०४२ पृ० १३२१

२. वही, पृ० १३२२

३. वही, पृ० १३२२-२३

४. जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र पार्ट-१, अ० २ पा०२, सू० ४३ पृ० ४४१

५. वही, पृ० ४४१-४२

शंकर कहते हैं कि यदि ये परस्पर भिन्न वासुदेव इत्यादि चारों ईश्वर समान धर्मों एवं गुणों से युक्त हैं, तब यहां अनेक ईश्वर की कल्पना प्रस्तुत हो जाती है । ऐसा होने से स्वयं पांचरात्र दार्शनिकों के इस सिद्धान्त का बाध हो जाता है कि एकमात्र वासुदेव ही परमार्थ तत्त्व है । पुन: शंकर कहते हैं कि यदि यह कहा जाये कि ये वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध आदि चारों भगवान वासुदेव के ही अंगभूत हैं अर्थात् ये एक ही भगवान या ईश्वर के चार स्वरूप तथा समानधर्मी हैं तब भी इनसे मन आदि की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती है, क्योंकि इनमें अतिशय या सर्वोत्तमता का सर्वथा अभाव है, कारण और कार्य को समान रूप का नहीं होना चाहिए, उनमें भेद अवश्य होना चाहिए जैसे मृत्तिका व घट आदि में भेद है । पांचरात्र मतावलम्बियों के अनुसार तो वासुदेव संकर्षण इत्यादि में ज्ञान, ऐश्वर्य, तेज इत्यादि समान हैं, इनमें न्यूनाधिक्य का भेद नहीं है तथा वासुदेव ही व्यूह निर्विशेष[1] हैं । इनके विरुद्ध शंकर एक यह आक्षेप भी लगाते हैं कि चार स्वरूपों में सीमित करके परमार्थ तत्त्व वासुदेव का निरूपण नहीं किया जा सकता है ~~कवल~~ ब्रह्मा से ले कर तृण इत्यादि समस्त जगत के रूप में भगवान या ईश्वर को स्वीकार किया जाता है[2] ।

शंकराचार्य जी का ~~वह है कि~~ कथन है कि महर्षि शांडिल्य चारों वेदों के अध्ययन से आत्म-संतुष्टि न प्राप्त कर सकने के कारण ही पांचरात्र ईश्वरवादी विचारदर्शन का अध्ययन करते हैं । अस्तु इस मत को पूर्णतया वेदानुकूल नहीं कहा जा सकता[3] है । इसमें कई विरोध सम्मिश्रित हैं—कभी ये विचारक ज्ञान, तेज, बल तथा शक्ति इत्यादि को ईश्वर के गुण रूप में स्वीकार करते हैं, कहीं-कहीं पर ये इन गुणों को ही वासुदेव स्वरूप या आत्म स्वरूप स्वीकार करते हैं । ये

१, जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र पार्ट-१, अ०२पा० २, सूत्र ४२ पृ० ४४२

२, वही, पृ० ४४२

३, एस०के० बेल्वल्कर, दि ब्रह्मसूत्र आफ बादरायण, विद दि कमेंट आफ शंकराचार्य, चैप्टर ।।, क्वार्टर्स । और ।।, ४२-४५, पृ० १४२ ।

ईश्वरवादी विचारक तो माया का उल्लेख नहीं करते हैं, किन्तु अद्वैत वेदान्त में तो माया शक्ति के कारण वही ब्रह्म व्यावहारिक अथवा औपाधिक रूप से अनेक विभिन्नताओं में परिलक्षित होता है और तात्त्विक एवं पारमार्थिक रूप से वही ब्रह्म निर्विकार व निर्गुण स्वीकृत किया गया है।

(२)

अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्यजी द्वारा प्रस्तुत ईश्वरवाद की आन्वीक्षात्मक समीक्षा को पर्याप्त रूप से एक युक्तियुक्त रूप में वर्णित किया गया है। इस विषय के सम्बन्ध में अब हमें यहां अपने इस प्रमुख दावे को प्रमाणित करने की आवश्यकता है कि शंकर का दर्शन एक बार पुन: भारतीय दार्शनिक विचार की उस संरचनात्मक विशेषता को स्पष्ट करता है, जिसका बीजमन्त्र शंकर का अद्वैत-वेदान्त ही है। ईश्वरवादी दर्शनों की आलोचना के लिए प्रयुक्त सम्पूर्ण तर्कों को इन दो प्रकारों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है-- प्रथम वह प्रकार है जो ईश्वर को जगत का 'निमित्त कारण' ही स्वीकार करता है। द्वितीय वह प्रकार है जो ईश्वर को जगत का निमित्त व उपादान दोनों ही कारण मानता है। यहां शंकर का उद्देश्य इन दर्शनों की निरर्थकता को उतना अधिक सिद्ध नहीं करता जितना यह दिग्दर्शित करता है कि किस प्रकार ये ईश्वरवादी दर्शन उस सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति से सम्बन्धित अपने केन्द्रीभूत पक्ष को प्रमाणित करने में अभावग्रस्त एवं त्रुटिपूर्ण है, जो परम लक्ष्य मुक्ति के एकत्व-प्रवर्तक अनुमति में निहित है, तथा जो आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य के रूप में सर्वव्यापी रूप से घोषित एवं अनुमोदित है। शंकर ने अपनी युक्ति एवं तर्क के प्रसंग में उपरोक्त कथितदोषी तर्कों के अन्तर्गत ईश्वरवाद के विपक्ष में जो कुछ भी विचार विमर्शित किया है, वह ईश्वरवाद के उतना विरुद्ध नहीं है, जितना ईश्वरवाद के भ्रान्त प्रकारों के विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में हमें केवल यह ध्यान देना आवश्यक है कि स्वयं शंकर का अद्वैत दर्शन भी अनिश्वरवादी दर्शन नहीं है। एक अत्यन्त उच्च स्तर पर यह एक ईश्वरवादी दर्शन है, इस स्तर को एक 'अतीन्द्रिय स्तर' कहा जा सकता है, जिसका संकेत शंकर द्वारा गृहीत कारणता के विशेष दृष्टिकोण में प्राप्त होता है।

शैव,सांख्य-योग तथा वैशेषिक आदि दर्शन इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वर जगत का निमित्त कारण है[1]। इन दर्शनों के विरुद्ध शंकर अपने इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं कि ईश्वर जगत का निमित्त तथा उपादान दोनों ही कारण है[2]। किन्तु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है क्योंकि यदि शैव,वैशेषिकों आदि का उपरोक्त कथित ईश्वर कारण-वाद पक्ष के रूप में है तो विपक्ष के रूप में पांचरात्र मत भी है,परन्तु हम देखते हैं कि ये पक्ष तथा विपक्ष दोनों ही यथेष्ट एवं व्याघातरहित नहीं हैं। पांचरात्र दर्शन इस दृष्टिकोण को स्थापित करता है कि ईश्वर का जगत के निमित्त तथा उपादान दोनों कारणों के साथ तादात्म्य है[3]। इस सिद्धान्त के विरुद्ध अद्वैत वेदान्त के निर्माता शंकर यह प्रतिपादित करते हैं कि कारण और कार्य का तादात्म्य है,ब्रह्म एक आधार अथवा सम्पूर्ण लौकिक अस्तित्व के अधिष्ठान के रूप में है,और इस प्रकार से तादात्म्यित कारण और कार्य को समस्तरीय नहीं कहा जा सकता। कारण और कार्य का तादात्म्य अन्तत: केवल कारण की सत्ता को स्थापित करता है[4], और यदि ऐसा ही है, तब तो शैव और पांचरात्र दर्शनों में स्वीकृत कार्य की सत् सत्ता को भ्रमात्मक स्वीकार करना चाहिए। माया की धारणा के माध्यम से ही जो कि अद्वैत दार्शनिक-सिद्धान्त का एक तार्किक सूत्र है,हम ब्रह्म तक पहुंचते हैं और यह समझते हैं कि सम्पूर्ण जगत उस ब्रह्म का ही प्रसार है,तथा ब्रह्म ही इस प्रकार की पृष्ठभूमि है एवं जीव ब्रह्म के परिणाम नहीं हैं वरन् जीव स्वयं ही ब्रह्म है[5]।

---

१. एस०राधाकृष्णन्,दि ब्रह्मसूत्र,अ०२पा०२-२-३७ पृ० ३६०

२. एस० राधाकृष्णन्,इण्डियन फिलासफी,वाल्यूम-II,पृ० ५४७

३. यतिवर श्री भोले बाबा,ब्रह्मसूत्र,शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित, अ० २पा० २ अधि० ८ सूत्र ४२,पृ० १३२०
"भागवत सम्प्रदायी पांचरात्र मानते हैं कि--भगवान वासुदेव एक है,और जगत का उपादान एवं निमित्त कारण है।"

४. एस० राधाकृष्णन्,इण्डियन फिलासफी वाल्यूम-II,पृ० ५३०

५. वही,पृ० ५६५।

केवल माया के अवगुंठन से ही निवृत्त होना है,अर्थात् उसे ही उठा देना है, इस अवगुंठन से ही जीव तथा ब्रह्म के बीच एक आवरण की प्रतीति होती है तथा माया का यह अवगुंठन ही समस्त लौकिक अस्तित्व व व्यावहारिक प्रपंच को निर्मित करता है तथा ब्रह्म से इसे भिन्न रूप में दर्शाता है[१]। इस प्रकार ईश्वर को निमित्त कारण स्वीकार करने वाले ईश्वरवादी दार्शनिक सिद्धान्त में निहित विरोधों का शंकराचार्यजी उचित रूप से संकेत करते हैं और उन्हें स्पष्ट करते हैं। ये उस ईश्वरवादी सिद्धान्त को भी दोषयुक्त सिद्ध करते हैं जो उसी स्थान पर ईश्वर के निमित्त एवं उपादान कारणता की स्थापना करता है तथा जिसके अनुसार ईश्वर कारण व कार्य के बीच एक विच्छेद उत्पन्न करते हैं और जो क्रमशः विष्णु या वासुदेव को संकर्षणरूपी जीव तथा संकर्षण रूपी जीव से प्रद्युम्नरूपी मन एवं प्रद्युम्नरूपी मन से अनिरुद्ध रूपी अहंकार के स्वरूपों में एक व्यूहों के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं। एक अन्तिम एवं वास्तविक ईश्वरवाद के प्रतिपादन में शंकराचार्यजी की महत्वपूर्ण देन यह है कि वह एक ऐसी अन्तिम सत्ता की स्थापना करते हैं जो सत् चित् एवं आनन्द की पूर्णता है। यह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही जीवों के बन्धन के रूप में भी जगत प्रपंच का अधिष्ठान है। परन्तु न तो जगत प्रपंच की,और न तो जीवों के बन्धन की कोई ऐतिहासिक व्याख्या की जा सकती है। इतिहास की विकल्प कोटि,जो कि काल-सत्ता के पूर्वमान्यता में अधिष्ठित है,बुद्धि के लिए एक भ्रमात्मक कोटि है।

---

१. एस० राधाकृष्णन्,इण्डियन फिलासफ़ी वाल्यूम-II,पृ० ५०६

"This Māya,or the force of self-expression,in Iśvara, resulting in the multiplicity of the world,deludes the individual soul into the false belief of the independence of the world and the souls in it."

अद्वैत वेदान्ती शंकर के दर्शन की आध्यात्मिक विचार-दृष्टि एक लौकिक प्रकार का ईश्वरवाद नहीं है, वरन् उनका ईश्वरवाद एक अतीन्द्रियात्मक या अलौकिक ईश्वरवाद है, जिसमें सम्पूर्ण प्रपंचात्मक अस्तित्व की विभिन्नता और जीवों के बन्धन की व्याख्या होती है, वह ईश्वर की उत्पत्ति नहीं है वरन् उस अविद्या का प्राबल्य है जिसका आश्रय जीव है। यहां हम अविद्या के आश्रय-सम्बन्धी समस्या के विवाद पर प्रकाश नहीं डालेंगे, जिस विवाद को शंकराचार्य जी के अनुयायियों अर्थात् विवरण और भामती सम्प्रदाय अपने प्रबल तर्कों द्वारा विस्तृत करते हैं। यहां हम केवल यह कहेंगे कि चूंकि अविद्या वस्तुत: अनादि है, इसलिए जगत प्रपंच तथा बन्धन का क्रम भी अनादि है। परन्तु अवि॰ अनन्त नहीं है। इसके अनादि प्रकृति पर आग्रह करना एक ऐसा व्यावहारिक उपाय या साधन नहीं है, जो कारणता के अनवस्था दोष से आबद्ध तर्क के रूप में प्राप्त है। इस पर आग्रह केवल इसलिए किया गया है कि वस्तुत: किसी भी आध्यात्मिक दर्शन की समस्या एक पुरुषार्थ की समस्या है, यह समस्या एक खोये हुए लुप्त आश्रय को पुन: खोजने की समस्या है तथा यह आश्रय ऐसे आनन्द का आवास है जिस आनन्द का केन्द्र जीवों की चेतना है। चेतना में निहित एक अन्तर विषयी और विषय में विभेदित है। केवल इस आत्म तथा अनात्म तत्त्व के भेद के कारण ही जीव अपने मौलिक आनन्दस्वरूप अस्तित्व से अपने को पृथक समझते हैं, तथा अपने उस वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रहते हैं। इस भेद को मिटाने की आवश्यकता के लिए ही मानवीय बुद्धि ने प्रत्येक नवीन उपाय को अनेक ईश्वरवादी तर्कों के रूप में निर्मित किया, किन्तु इस विभेद को वास्तविक एवं सत् रूप में स्वीकार न करना ही वास्तविक प्राप्ति या सत्य है सम्पूर्ण अन्यत्व तथा सम्पूर्ण भेद रज्जु में सर्प के भ्रम की भांति ही आभासित होने वाले सत्य हैं और जो केवल एक विश्वास का ही विषय है तथा जो अप्रश्नित व निर्विवाद होते हुए नानात्व के एक अनन्त दृश्य को तथा आनन्द प्राप्ति की एक न बुझने वाली अशमनीय इच्छा को उत्पन्न करने में पर्याप्त रूप से सफल है। इसलिए अद्वैत विचार-दर्शन ईश्वर के एक ऐसे परिमार्जित दृष्टिकोण की अनिवार्यता को दर्शाता है जिसके अनुसार ईश्वर सम्पूर्ण प्रपंच

का न तो निर्माता है,न तो नियन्ता है,यद्यपि यह जगत-प्रपंच का तथा दु:खपीड़ित आत्माओं का मुक्ति से पुनरुज्जीवित होने के लिए अन्तिम लक्ष्य है। इसी मुक्ति के साथ तो वास्तव में वे आत्माएं या जीव सदैव तादात्म्य रखते हैं। केवल अविद्या में वे पृथक् हैं तथा अपने स्वरूप से विमुख रहते हैं। जगत-सृष्टि की समस्या अथवा कोई भी सृष्टि-सम्बन्धी समस्या,समस्या ही रह जाती है क्योंकि इसका समाधान करने वाले ने ईश्वर को अपने से ओझल कर दिया है और जीव-बन्धन की समस्या केवल इसलिए है कि जीव ने अपने सहज मुक्त स्वरूप को अपनी दृष्टि से ओझल कर दिया है। इस प्रकार का मुक्त स्वरूप ईश्वर तथा जीव के अभेद में निहित है,यही पारमार्थिक तथा वास्तविक तादात्म्य है। ईश्वर के संगोपन से आविर्भूत समस्याएं वास्तविक समस्याएं नहीं हैं और उनका समाधान भी उपरोक्त वर्णित दो विभिन्न ईश्वरवादी दर्शन व्यवस्थाओं में नहीं है वरन् उनके विघटन में निहित है। परन्तु विघटन भी इस तथ्य से अवगत होकर करना चाहिए कि किस प्रकार केवल ईश्वर ही है और वह ईश्वर भी जगत की सृष्टि के आदि तथा अन्त के रूप में उसके रचयिता व विनाशक नहीं है वरन् केवल ऐसी सत्ता के रूप में है जिसके चारों ओर भौतिक या व्यावहारिक सत्ता का गल्प अविद्या के द्वारा ही निर्मित किया गया है, तथा जिसमें सुख,दु:ख एवं नानात्व के बीज निहित हैं और जिसके कारण जीव बन्धनग्रस्त हो जाता है।[१]

---

१. श्री हरिकृष्ण गोयन्दका (अनुवादक),शांकरभाष्य,हिन्दी अनुवाद सहित, श्रीमद्भगवद्गीता,अध्याय ५,१४-१५ ।

अध्याय-- ६

शास्त्र-विरोधी दार्शनिक सम्प्रदायों की शंकर द्वारा आलोचना

श्रुति अनुगामी सिद्धान्तों की यथार्थ व्याख्या करते हुए शंकर ने समस्त आस्तिक एवं नास्तिक भारतीय दर्शनों की आलोचना की है,क्योंकि वे वेद-उपनिषदादि के वास्तविक गूढ़ रहस्य को प्रकाश में लाना चाहते थे । पूर्ववर्ती अध्याय में यथाशक्ति हमने यह निरूपित करने का प्रयास किया है कि सांख्य, वैशेषिक आदि वेद-सम्मत आस्तिक दर्शन किस प्रकार अपनी आंशिक दृष्टियों द्वारा श्रुति-विरुद्ध तथा वेद-बाह्य हो जाते हैं और उन्हें किस प्रकार पूर्ण श्रुति-सम्मत अद्वैत दर्शन के समीप खड़ा किया जा सकता है । अब प्रस्तुत विवेचन में हम इस बात का निरूपण करने का प्रयास करेंगे कि शास्त्र-विरोधी नास्तिक दर्शनों की अद्वैतवादी शंकर ने किस प्रकार आलोचना की है तथा हम उन्हें किन सुझावों के प्रकाश में अद्वैत दर्शन के समीप ला सकते हैं ।

बौद्ध तथा जैन दोनों ही श्रुति-विरुद्ध नास्तिक दर्शन हैं,यद्यपि इनका भी लक्ष्य निर्वाण तथा कैवल्य ही है,जो समस्त भारतीय दर्शनों का अभीष्ट है । आचार्य शंकर के अनुसार बौद्ध तथा जैन दर्शन परम्पराओं में अनेक असंगत एवं अतार्किक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं । बौद्ध दर्शन परम्परा में नैरात्म्यवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद व क्षणिकवाद जैसे अनेक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं,जो अन्धकार से प्रकाश में ले जाने वाली एकमात्र कल्याणकारी श्रुति के विरोधी हैं तथा जीव, जगत,ब्रह्म,ईश्वर,आत्मा एवं कारणवाद सम्बन्धी अद्वैतवादी धारणा के प्रतिकूल हैं । इसलिए शंकराचार्य ने अपने तर्कपाद में बौद्ध-दर्शन की आलोचना करके उन्हें असंगत एवं अनौचित्यपूर्ण दर्शाया है । ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ने बौद्ध-विचार दर्शों की समीक्षा उनकी अभेद दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए ही की थी, न कि खण्डन के उद्देश्य से,क्योंकि इनका भी अभीष्ट समस्त भारतीय दर्शनों की भांति निर्वाण ही है । कहने का अभिप्राय यह है कि इनका भी विवक्षित दर्शन-बिन्दु अद्वैत के मोक्ष के समान ही है ।

शंकर द्वारा बौद्ध-दर्शन की आलोचना

शंकराचार्य जी ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में 'समुदायाधिकरण' तथा 'अभावाधिकरण' सूत्रों के अन्तर्गत बौद्ध दार्शनिक मतों का प्रत्याख्यान किया है। इन्होंने बौद्ध दर्शन के सर्वास्तित्ववाद, विज्ञानमात्रवाद तथा शून्यवाद आदि सिद्धान्तों को सर्ववैनाशिकवाद का नाम दिया है। बौद्ध मत के उपरोक्त तथाकथित सिद्धान्तों का वे निम्न प्रकार से खण्डन करते हैं :--

सर्वप्रथम वे सर्वास्तित्ववाद की उपरुल्लिखित समुचित अतार्किकता का विवेचन करते हैं। इनके अनुसार बौद्ध दर्शन की जो विचारधारा आन्तरिक एवं बाह्य वस्तुओं अर्थात् जो चित्त यानी बुद्धि और चैत यानी बौद्धिक पदार्थ को तथा भूत और भौतिक पदार्थ को स्वीकार करती है वह सर्वास्तित्ववाद के नाम से जानी जाती है।[१] इसमें सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक दोनों ही वस्तुवादी मत सम्मिलित हैं जिनके अनुसार आन्तरिक जगत क्षणिक विज्ञानों का सन्तान या समुदायमात्र है तथा बाह्य जगत क्षणिक परमाणुओं का संघात मात्र है।[२]

सर्वास्तित्ववादी बौद्धों के दृष्टिकोणानुसार पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि ये चार धातुएं भूत तत्त्व हैं तथा इनके क्षणिक परमाणु क्रमशः कठोर, शीतल या स्निग्ध, गतिशील तथा उष्ण आदि हैं, और रूपादि विषय तथा नेत्रादि इन्द्रियां भौतिक तत्त्व हैं। परमाणुओं का एकत्रीकरण ही गोचर आणविक इकाई है जो पृथ्वी आदि संघातों में प्रत्यक्ष होता है और इसी प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आदि पंच स्कन्ध हैं जो आध्यात्मिक हैं तथा इनसे मानसिक प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये ही सम्पूर्ण व्यवहारों के विषयरूप से संघीभूत होते हैं।[३]

---

१. भरत सिंह उपाध्याय, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ०६६२

२. डा० चन्द्रधर शर्मा, बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृ० १८२

३. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२ पा०२ अधि० ४ सूत्र १८, पृ० १२१२-१३।

शंकराचार्य जी का कथन है कि बौद्धों द्वारा स्वीकृत एवं प्रतिपादित उपरोक्त दोनों प्रकार के आन्तरिक एवं बाह्य समुदाय जिन्हें 'सन्तान' एवं 'संघात' का नाम दिया गया है, सम्भव हो नहीं हो सकते हैं। इसकी असिद्धि के लिए शंकर कई तर्क देते हैं। प्रथम तो वे यह तर्क देते हैं कि इन समुदायों अर्थात् संघातों के उत्पादक समुदायी स्वयं ही अचेतन हैं अतः ये भूत, भौतिक तथा चित्त व चैत को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं।[१] दूसरा तर्क देते हुए शंकर कहते हैं कि बौद्धों के अनुसार परमाणुओं से भिन्न धारा का अभिज्वलन या स्फुरण समुदाय द्वारा ही सम्भव है परन्तु जब समुदाय ही असिद्ध है तब चित्त-चैत का स्फुरण संभव नहीं हो सकता है। इसके पश्चात् यह भी प्रश्न उठता है कि जब बौद्ध दर्शन किसी भी चेतन भोक्ता या नियन्ता की सत्ता स्वीकार नहीं करता तो संघात या समुदाय की प्रतिष्ठापना कौन करता है? अतः शंकर कहते हैं कि भोक्ता या शासक के अभाव में भी समुदायों की सिद्धि नहीं होती है। यदि अपेक्षारहित प्रवृत्ति को स्वीकार करके सर्वास्तित्ववादी बौद्ध यह कहते हैं कि बिना किसी प्रवर्तक कारण के ही परमाणु संघात के प्रति प्रवृत्त होते हैं तब तो प्रवृत्ति का कदापि अन्त नहीं होगा और परिणामस्वरूप निर्वाण को भी कोई सिद्धि नहीं होगी। शंकर के अनुसार बौद्धों का विज्ञानों के प्रवाह या आलय-विज्ञान सन्तान द्वारा समुदाय को सम्भव बनाना अतार्किक है, क्योंकि वे यह निश्चय नहीं करते कि आलय-विज्ञान प्रवाह संघात या समुदाय से भिन्न है या अभिन्न। इसे क्षणिक मानने पर कोई भी व्यापार संभव नहीं हो सकेगा, कोई भी प्रवृत्ति नहीं होगी, और परिणामस्वरूप समुदाय की असिद्धि हो जाती है।[२] इनके मतानुसार जब परमाणु क्षणिक हैं तब

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित, अ०२ पा०२ अधि०४ सूत्र १८ पृ० १२१४

२. वही, पृ० १२१५।

घातविध्वंसी परमाणु पृथ्वी आदि संघातों के रूप में कैसे परिणत हो सकते हैं। शंकर के विचारानुसार सर्वास्तित्ववादी बौद्धों द्वारा संघातपूर्वक जगत की कल्पना युक्ति-विरुद्ध हो जाती है।

बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक वस्तु में एक अन्य वस्तु को उत्पन्न करने की क्षमता होती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है।[1] इस प्रकार द्वादश-निदान में अविद्यादि के पारस्परिक कारण-कार्य सम्बन्ध द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद को सिद्ध करते हैं। शंकर कहते हैं कि यदि बौद्ध चिन्तक 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को ही समुदायों का कारण बताते हैं, अर्थात् इनके अनुसार अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरामरण आदि का पारस्परिक चक्र ही संघात को उत्पत्ति का कारण है तो यह भी शंकराचार्य जी के अनुसार युक्तिसंगत नहीं है,[2] क्योंकि शंकर कहते हैं कि संघात को हम तब स्वीकार कर सकते हैं, जबकि इसका कोई निमित्त या प्रवर्तक कारण स्वीकार किया जाय। परन्तु बौद्ध दार्शनिक व्यवस्था में इसका सर्वथा अभाव है। यदि हम यह मान लें कि अविद्यादि निदान एक दूसरे से कारण-कार्य भाव से सम्बद्ध रहते हैं तब भी हम देखते हैं कि ये उत्तरोत्तर की उत्पत्ति मात्र में ही निमित्त माने गये हैं, समुदाय या संघात में नहीं। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि पूर्वनिदान उत्तरोत्तर निदान की उत्पत्ति का ही तो कारण हो सकता है, संघात की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता है। पुन: शंकर यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यदि सर्वास्तित्ववादी बौद्ध यह कहें कि अविद्यादि निदान अपने अस्तित्व के लिए संघात की ही अपेक्षा रखते हैं तब भी इसके विरुद्ध यह आपत्ति है कि

---

१. डा० एस० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, पृ० ३४१, भाग-१.

२. एस०के० बैलवल्कर, दि ब्रह्मसूत्र आफ बादरायण विद दि कमेंट्री आफ शंकराचार्य, चैप्टर II, क्वार्टर्स १ और २, अ०२ पा०२ सूत्र-१६, पृ० १०५

इसके लिए निमित्त की अपेक्षा होती है, जबकि यहां निमित्त का अभाव है और इनके क्षणिक अनित्य परमाणुओं से निमित्त की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। शंकर कहते हैं कि जब न्याय-वैशेषिकों के परमाणुवाद में नित्य तथा आश्रयाश्रयि स्वरूप अणुओं के उपस्थित होने पर भी निमित्त की सिद्धि नहीं होती तब बौद्धों के भोक्तृरहित तथा आश्रय एवं आश्रयि से विहीन क्षणिक परमाणुओं से तो निमित्त की उपलब्धि असंभव ही है[१]। यदि ये बौद्ध दार्शनिक स्वयं अविद्यादि को ही संघात का कारण माने तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि जब ये स्वयं ही संघात की अपेक्षा करते हैं तब इन पर संघात निर्भर नहीं हो सकता है।

इतने से ही शंकर मानने वाले नहीं हैं, वे पुनः पूर्वपक्ष बौद्ध परमाणुवाद का निराकरण करते हैं। यदि पूर्वपक्षी बौद्ध इस अनादि जगत में संघात को प्रवाहित रूप से पूर्वस्थित मानते हैं, और अविद्या संस्कार आदि को उसी पर आश्रित मानते हैं, तब भी वे अपने मत की पुष्टि नहीं कर पाते, क्योंकि यहां यदि हम नवीन उत्पन्न संघात को अपने कारण पूर्वस्थित संघात के सदृश नियमपूर्वक उत्पन्न मानते हैं, तब हम मानव के कर्मानुसार उसके विभिन्न योनियों की प्राप्ति को स्वीकार नहीं कर सकते, और यदि हम अनियमपूर्वक एक संघात के समान तथा असमान संघात की उत्पत्ति मानते हैं तो हमें मानव-शरीर को एक ही क्षण में मनुष्य, देव तथा पशु रूप में परिवर्तित होता हुआ मानना पड़ेगा। अतः शंकर के अनुसार प्रतिपक्षियों का पूर्वस्थित संघात तथा इस पर आश्रित अविद्यादि भी उपयुक्त नहीं सिद्ध होते हैं। शंकर तर्क को आगे बढ़ाते हुए यह कहते हैं कि यदि ये पूर्वपक्षी बौद्ध किसी भोक्ता को स्वीकार नहीं करते तो भोग भोग के लिए तथा मोक्ष मोक्ष के लिए होगा, भोग व मोक्ष के लिए कोई भी ऐसी अन्य सत्ता नहीं होगी, जिसे इनकी आवश्यकता हो। कहने का अर्थ यह

---

१. एस० के० बेलवलकर, दि ब्रह्मसूत्र आफ बादरायण विद दि कमेंट्री आफ शंकराचार्य, चैप्टर ।।, क्वार्टर्स १ और २ अ० २ पा० २ सूत्र-१६ पृ० १०५-६

है कि बन्धन और निर्वाण किसका होगा, यह स्पष्ट नहीं होता तथा यदि किसी मुमुक्षु व भोक्ता को स्वीकार करते हैं तो उस सत्ता को स्थायी मानना पड़ेगा । ऐसा मानने से इनके क्षणिकवाद की हानि होती है । इस प्रकार द्वादश निदान में प्रत्येक निदान भले ही एक दूसरे को उत्पन्न करते हों, परन्तु इससे संघात की सिद्धि नहीं हो पाती है[1] ।

बौद्ध दार्शनिक क्षणभंगवाद का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व केवल एक ही क्षण रहता है[2] । अतः शंकराचार्य जी कहते हैं कि अविद्यादि द्वादश निदानों द्वारा संघात की सिद्धि तो असंभव है ही, इनके द्वारा इनकी पारस्परिक उत्तरोत्तर उत्पत्ति भी असम्भव है, अर्थात् अविद्यादि कारण संस्कारादि भावों की उत्पत्ति में भी निमित्त नहीं हो सकते । इसे शंकर इस प्रकार से अपनी युक्तियों द्वारा प्रस्तुत करते हैं कि बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा द्वादश-निदान के चक्र में प्रत्येक पूर्ववर्ती निदान उत्तरवर्ती का कारण होता है, किन्तु यह भी असंभव है क्योंकि इनके क्षणिकवाद के अनुसार तो उत्तरक्षण में प्रस्तुत वस्तु के समय पूर्वक्षण में प्रस्तुत वस्तु विनष्ट हो जाती है, अतः पूर्व और उत्तर क्षणों में कारण-कार्य सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती है[3] । यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि पूर्व क्षण परिपूर्ण रूप से विकसित अवस्था को प्राप्त करके ही उत्तर क्षण का कारण बनने का सामर्थ्य रखता है तब भी प्रथम क्षण को दूसरे क्षण से सम्बन्धित होना पड़ेगा और इस प्रकार क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं हो सकेगी । अतः शंकर के अनुसार इस प्रकार बौद्धों के निदानों की निमित्तता सिद्ध नहीं होती है । बौद्धों के पक्ष में स्वीकृत यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है कि पूर्व क्षण या पूर्वांग कारण की सत्ता को ही उत्पन्न कार्यशक्ति के रूप में मान लिया जाय, क्योंकि शंकर के अनुसार कार्य को अपने

---

१. एस०के० बेल्वलकर, दि ब्रह्मसूत्र आफ बादरायण विद द कमेंट्री आफ शंकराचार्य, चैप्टर II, क्वार्टर्स १-२ पा० २ सूत्र-१६ पृ० १०६- ७

२. सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्रमोहन दत्त, भारतीय दर्शन पृ० ८८

३. एस० राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, सैक्शन ३ (१८-२७)२,२,२० पृ० ३७८

"Between two momentary things there can not be any relation for the first has ceased to be, when the second comes to exist.

कारण के स्वभाव से ही उत्पन्न होना चाहिए । ऐसी दशा में कारण के स्वभाव का स्थायित्व कार्य की उत्पत्ति के क्षण में भी स्वीकार करना पड़ेगा । परन्तु क्षणिक अस्तित्व के कारण अविद्यादि निदान पूर्वोत्तर रूप में निमित्त नहीं हो सकते । यदि कारण के अभाव में ही कार्योत्पत्ति मानते हैं तब कहीं भी किसी भी कार्य के उत्पन्न होने से अतिप्रसंग का दोष आ जाता है ।[1]

शंकराचार्य जी कहते हैं कि यहां पुनः यह प्रश्न उठता है कि वस्तु की उत्पत्ति व विनाश क्या उसके स्वरूप हैं अथवा एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाएं हैं या उससे अन्य भी कुछ वस्तु हैं । यदि दोनों ही वस्तु के स्वरूप हैं तब वे दोनों पर्यायवाची हो जावेंगे और इस प्रकार किसी भी वस्तु के आदि,मध्य व अन्त होने के कारण,उसे तीन क्षणों तक स्थायी रहना होगा,[2] और यदि ये उत्पत्ति व विनाश घट,पट की भांति एक वस्तु की विभिन्न अवस्थाएं हैं,तब दोनों में आदि व अन्त का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा । इस प्रकार शाश्वतवाद को स्वीकार करना पड़ेगा । यदि वस्तु को इनसे भिन्न माना जाता है तब उसे नित्य मानना मानना पड़ेगा । अतः इस प्रकार भी क्षणिकवाद व प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में विरोध हो जाता है । यदि वस्तु की दृश्यता उसकी उत्पत्ति तथा अदृश्यता उसका विनाश है,तब भी वस्तु का दिखायी देना व न दिखायी देना देखने वाले का गुण होगा,न कि वस्तु का । इस भांति भी वस्तु शाश्वत हो जावेगी,अतः शंकर का कहना है कि अविद्यादि हेतु संस्कारादि भावों की उत्पत्ति के निमित्त नहीं हो सकते हैं ।[3]

क्षणिकवाद की अतार्किकता की व्याख्या करते हुए शंकर कहते हैं कि बौद्धों की मान्यता के अनुसार अधिपति प्रत्यय,सहकारी प्रत्यय,समनन्तर प्रत्यय

---

१. जार्ज थीबू,वेदान्त सूत्र,पार्ट-१,।। अध्याय,२ पाद,२०,पृ० ४०८

२. एस० राधाकृष्णन्,दि ब्रह्मसूत्र सेक्शन ३(१८-१७) २,२,२० पृ० ३८० । तथा डाक्टर चन्द्रधर शर्मा,बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० १८४

३. जार्ज थीबू,वेदान्त सूत्र,पार्ट १,२ अध्याय,२ पाद २० पृ० ४०८-९

तथा आलम्बन प्रत्यय जो क्रमश: इन्द्रिय,प्रकाश,मनोयोग तथा विषय के पर्याय हैं,विज्ञानों की उत्पत्ति के हेतु हैं । इस प्रतिज्ञा से भी क्षणभंगवाद सिद्ध नहीं होता है । यदि बौद्ध दार्शनिक बिना कारण के ही फल की उत्पत्ति मानते हैं,तब उपरोक्त मान्यता को कोई स्थान नहीं प्राप्त होगा और कोई वस्तु कभी भी उत्पन्न होने लगेगी[१] । यह मानने से कि पूर्वक्षण की स्थिति तबतक रहती है जब तक कि उत्तर क्षण उत्पन्न नहीं हो जाता,कारण और कार्य की एक ही काल में सत्ता स्वीकार करनी होगी । अत: इनका यह सिद्धान्त कि `सभी संस्कार क्षणिक हैं' उपादेय व तर्कसंगत नहीं होगा[२] ।

अद्वैतवादी शंकर ने केवल क्षणिकवाद को ही असमीचीन नहीं बताया है, वे सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन को ही सर्ववैनाशिकवाद कहते हैं । बौद्धों के दार्शनिक मतानुसार प्रतिसंख्यानिरोध अर्थात् बुद्धिपूर्वक सहेतुक विनाश तथा अप्रतिसंख्या-निरोध या अबुद्धिपूर्वक निर्हेतुक विनाश एवं आकाश इन तीनों के अतिरिक्त सब वस्तुएं क्षणभंगुर हैं[३] । शंकर उपरोक्त तीनों प्रकार के अभावों को भी असिद्ध कर देते हैं । ये कोई वस्तु नहीं हैं,केवल अभाव मात्र हैं,अत: इन्हें भाव रूप में नहीं सिद्ध किया जा सकता है । ऐसा इसलिए कि दोनों निरोध विनाशबोधक होने से अभावमात्र हैं तथा आकाश आवरण का अभावमात्र है । अब प्रश्न उठता है कि इन प्रतिसंख्या व अप्रतिसंख्या निरोधों का स्थान कहां है :विज्ञान या चित्त के निरन्तर प्रवाह में अथवा उसमें निहित अविद्यादि किसी भाव में ? विज्ञान-सन्तति में विनाश संभव हो नहीं है,क्योंकि यह सन्तान या प्रवाह कारण-कार्य की श्रृंखला के रूप में निरन्तर कार्यशील एवं प्रवाहित होता रहता है । सन्तान-

---

१. स्वामी श्री हनुमानदासजी षट्शास्त्री (व्याख्याकार) तथा डा० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय (भूमिका लेखक),ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्,`ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या सहितम्,अ०२ पा०२ सू० २१,पृ० ४८६

२. वही ।

३. भरतसिंह उपाध्याय,बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन,द्वितीय भाग पृ०१००६

प्रवाह का विच्छेदनहीं होता, प्रत्येक क्षण एक दूसरे से अविच्छेदित रहते हैं, इसलिए इनका एकदम से स्थिर हो जाना असम्भव है । विज्ञान सन्तति या प्रवाह के अंगभूत भावों में भी विनाश संभव नहीं हो सकता है क्योंकि ये भाव रूप संस्कार हैं जो पूर्णतया विनष्ट नहीं होते तथा अपना अवशेष चिन्ह छोड़ते जाते हैं । स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा अनुमान द्वारा भी इनका सम्बन्ध स्पष्ट होता है, अतः किसी भी तरह से दोनों प्रकार के अभावों या विनाशों की सिद्धि नहीं होती है।[1] यदि बौद्ध दार्शनिक यह कहें कि भ्रान्तिरूप अविद्या से सत्य प्रतीत होने वाला जगत अविद्या के नष्ट होने पर उसी के साथ विनष्ट हो जाता है तब अहेतुक विनाश यानि अप्रतिसंख्यानिरोध को नहीं स्वीकार किया जा सकता है । यदि अविद्या-नाश अहेतुक माने तब ज्ञान और उसके साधन आर्य अष्टांगिक मार्गों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है[2] अतः शंकर कहते हैं कि इन बौद्धों का मत किसी प्रकार से भी तर्कसंगत नहीं है ।

शंकर कहते हैं कि बौद्धों का यह कहना कि आकाश आवरण का अभावमात्र है, उचित नहीं है । वे आकाश में भी वस्तुत्व को स्वीकार करते हैं, इनका कथन है कि जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु क्रमशः गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्श के आश्रय हैं उसी प्रकार शब्द का भी कोई आश्रय होना चाहिए, वह आकाश ही है । यही नहीं यह आकाश अन्य चार भूतों का भी आश्रय है, पक्षी भी आकाश में विचरण करते हैं, हम जानते हैं कि किसी भी भावरूप वस्तु को अभाव में स्थान नहीं प्राप्त हो सकता है । इस तरह आकाश भी वस्तुरूप में प्रत्यक्ष है । शंकर कहते हैं कि श्रुति तथा आगम प्रमाण से तो आकाश की उत्पत्ति सिद्ध होती ही है किन्तु यदि पूर्वपक्षी बौद्ध इसे स्वीकार नहीं करते तब भी शब्द गुण के अनुमान से आकाश के पदार्थत्व विशेष को स्वीकार करना

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२ पा०२, अधि० ४ सूत्र-२२, पृ० १२३०

२. वही, सूत्र-२३ पृ० १२३१

ही पड़ेगा । इससे सिद्ध होता है कि बौद्धों का,आकाश को अभावमात्र रूप में स्वीकार करना अनुचित है । [1]

बौद्ध विचारक आत्मा के नित्य अस्तित्व को स्वीकार न करके इसे क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह मात्र ही घोषित करते हैं किन्तु शंकराचार्य जी उनके इस मत को भी तार्किकता एवं अनौचित्यता से परिपूर्ण बताते हैं ,और वे यह लक्ष्य कराते हैं कि इसके साथ पुन: क्षणिकवाद की असंगतता भी परिलक्षित होती है । अनुस्मृते: अर्थात् पूर्वानुभवों की बार-बार स्मृति द्वारा अनुभूति होती है इसलिए अनुभवकर्ता क्षणमात्र के लिए कदापि अस्तित्वयुक्त नहीं हो सकता है,अनुभूति करने वाली आत्मा को नित्य ही मानना होगा । [2] 'मैंने व्यतीत काल में अमुक वस्तु देखी थी' इस प्रकार का वर्तमानकालिक अनुभव या स्मृति नित्य ज्ञाता आत्मा को सिद्ध करती है । यदि बौद्ध चिन्तक इस एकता को समानता या सादृश्यता कहते हैं तब भी क्षणिकवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता है,क्योंकि जब हम यह कहते हैं कि यह वही वस्तु नहीं है जिसे हमने कल देखा था वरन् यह वस्तु उसके समान है तब भी इस प्रकार की समानता को समझने के लिए एक नित्य ज्ञाता की अनिवार्यता है अपेक्षा रहती है । शंकराचार्य जी ने बाह्य जगत की अपेक्षा में क्षणिकवाद की असिद्धि को दिखाया ही था,अब इस सूत्र द्वारा आन्तरिक जगत में भी क्षणिकवाद को असंगत सिद्ध करते हैं । [3]

क्षणिकवाद के आधार पर ही बौद्ध मतानुयायी यह प्रतिपादित करते हैं कि कारण वस्तु के नष्ट होने पर ही उत्तर क्षण में एक नवीन कार्यवस्तु की उत्पत्ति होती है,वे कहते हैं कि बोये हुए बीज के नष्ट होने पर ही उससे अंकुर

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा,ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२ पा०२,अधि०४ सूत्र-२४ पृ० १२३२-३३-३४

२. एस०राधाकृष्णन्,दि ब्रह्मसूत्र,सेक्शन ३(१८-२७) २-२-२५ पृ० ३८२
" The moments of cognition and recognition perception and remembrance should belong to the same parsom and so he cannot be regarded as momentary."

३. वही ।

उत्पन्न होता है,दूध को नष्ट करके ही दही बनता है । इस प्रकार ये अभाव से भाव की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं,किन्तु अद्वैतवादी शंकर 'नासतोऽदृष्टत्वात्' सूत्र के भाष्य में उपरोक्त मत को असंगत बताते हैं[१] । ये कहते हैं कि यदि कूटस्थ कारण से ही कार्योत्पत्ति हो जाती है तब किसी विशेष कारण जैसे वृक्ष के लिए बीज की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है,और फलस्वरूप प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होनी चाहिए । जब बीज असत् ही है तब फिर उससे कोई भी वस्तु उत्पन्न हो जानी चाहिए,उससे अंकुर की ही उत्पत्ति क्यों होती है,घट व पट के कारण मृत्तिका व सूत ही क्यों होते हैं ? जिस प्रकार नीलत्व आदि कमल के विशेषण हैं यदि उसी प्रकार अभाव को भी विशेषण रूप में स्वीकार किया जाय तब तो असत् की प्रतीति असत् के रूप में होनी चाहिए, किन्तु शंकर कहते हैं कि लोक-व्यवहार में ऐसा दृष्टिगत नहीं होता है,प्रत्येक वस्तु सत् रूप में स्थित है और उसी रूप में दृष्टिगत होती है । शशविषाण, वन्ध्यापुत्र तथा आकाशकुसुम इत्यादि केवल वाणी से ही कहे जाते हैं,वस्तुत: उनका व्यावहारिक अस्तित्व नहीं है । मिट्टी से ही घट की तथा दूध से ही दही की उत्पत्ति होती है । इस तरह अपने-अपने रूप में प्रत्येक वस्तु भावमय ही दृष्टिगत होती है,इसलिए असत् सेसत नहीं उत्पन्न हो सकता है[२] । जबकि बौद्ध विचारक स्वयं ही चार कारणों से चित्त व चैत्त को तथा परमाणुओं से समुदाय को उत्पन्न मानते हैं तब ये किस प्रकार अभाव से भाव के उत्पत्ति की स्थापना करते हैं ।

शंकर कहते हैं कि यदि बौद्ध अनुयायी कार्योत्पत्ति के लिए किसी नित्य चेतन कारण को स्वीकार न करके इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि अभाव से अपने आप ही भावरूप कार्य की उत्पत्ति होती है तो यह भी युक्तिसंगत नहीं

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा,ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, पृ० १२४२ ।

२. वही,पृ० १२४७ ।

सिद्ध होता है,क्योंकि अभाव तो सर्वत्र उपलब्ध होगा और फिर किसी भी कार्य के लिए हमें किसी प्रयत्न या चेष्टा की आवश्यकता न होगी । बिना किसी उद्योग के ही खेतों से अनाज की,मिट्टी से बर्तन इत्यादि की उपलब्धि हो जायेगी । इतना ही नहीं,उदासीन,चेष्टाशून्य तथा अकर्मण्य व्यक्तियों को भी इष्ट-सिद्धि हो जायेगी । हमें अपने निर्वाण व दुःख निवृत्ति के लिए कुछ भी करने की आवश्यकता न होगी,परन्तु ऐसा संभव नहीं है[1] । अतः शंकर कहते हैं कि वैभाषिक व सौत्रान्तिक सर्वास्तित्ववादी बौद्धों का मत भ्रान्तिमूलक एवं असंगत है[2] ।

`अभावाधिकरण` सूत्र के अन्तर्गत शंकर विज्ञानवादी बौद्ध सिद्धान्तों की असंगतता को दिखाते हैं[3] । विज्ञानवादी बौद्ध विचारक मन या चित्त अर्थात् विज्ञान से पृथक् बाह्य जगत की सत्ता को स्वीकार नहीं करते । ये केवल विज्ञानमात्र को ही तत्वरूप में स्वीकार करते हैं । इनका कहना है कि हमारा सम्पूर्ण अनुभव केवल मानसिक अवस्थाओं में ही अभिव्यक्त होता है तथा कोई भी बाह्य पदार्थ तभी बोधगम्य हो सकता है जबकि वह मन,बुद्धि अर्थात् विज्ञान द्वारा निर्मित एवं आरूढ़ हो । इन बौद्ध विचारकों के अनुसार सभी व्यवहार आन्तरिक हैं तथा विज्ञान या चित्त से भिन्न बाह्य वस्तु संभव नहीं है । बाह्य प्रकृति तथा रूप जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है,सम्पूर्ण काल्पनिक वस्तुओं का अधिष्ठान यह विज्ञान अथवा चित्त ही है ।" चित्त तो सत् है किन्तु दृष्टि के विषय पदार्थ सत् नहीं हैं । पदार्थों के द्वारा जिनका बोध चक्षु से होता है,चित्त अपने को व्यक्ति शरीर के अन्दर सुखकारी पदार्थों एवं निवासस्थान आदि के रूप में

---

१. यतिवर श्री भोलेबाबा,ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित,पृ०१२४।
२. वही ।
३. वही,अधि० ५ (२८-३२) पृ० १२४६ से७८ तक ।

अभिव्यक्त करता है । इसे मनुष्यों का आश्रय कहते हैं । विज्ञान में समस्त विश्व का समावेश है । प्राकृतिक पदार्थ केवल इसके अतिरिक्त है,किन्तु विज्ञान एक सम्पूर्ण इकाई है ,जिसमें वह स्वयं एवं उक्त प्राकृतिक पदार्थ भी अन्तर्निहित हैं । मनोवैज्ञानिक रूप से आत्मा के तार्किक रूप के प्रति क्रमिक संक्रमण को हम अनुभव करते हैं । सब वस्तुओं का सम्बन्ध विज्ञान के साथ है । विचार से बाह्य अथवा विचार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । विचार करने वाले विषयी एवं पदार्थ जगत के अन्दर जिसका वह विचार करता है,परस्पर नितान्त विरोध कभी हो ही नहीं सकता । विचार ही समस्त ज्ञान का आदि एवं अन्त है ।"[१] इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञानमात्र के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं ।

बौद्ध विचारक अपने पक्ष के समर्थन में तर्क देते हुए कहते हैं कि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व सम्भव नहीं है,क्योंकि यदि स्तम्भादि बाह्य पदार्थ हैं तो वे या तो परमाणु रूप होंगे या परमाणुओं के समुदाय मात्र होंगे । कहने का अर्थ यह है कि यदि घट,पट स्तम्भादि बाह्य पदार्थों को सरल या अमिश्रित रूप में स्वीकार किया जावे तो ऐसा संभव नहीं है क्योंकि अणु अतीन्द्रिय हैं,ये वस्तुएं अणु से भिन्न हैं । हमें अणुओं का बोध नहीं होता,ये पदार्थ अणुओं के समुदाय अथवा एकत्रीभूत पुंज हैं,यह भी हम नहीं कह सकते,क्योंकि हम इस बात का निर्णय नहीं कर पाते कि ये समुदाय रूप बाह्य पदार्थ अणुओं से भिन्न हैं या नहीं । यदि भिन्न हैं तब ये अणु द्वारा निर्मित नहीं हो सकते,यदि ये भिन्न न होकर अणुओं के समान हैं तब इन्हें अणु रूप होना चाहिए और ऐसी दशा में ये मूर्तरूप पदार्थों के कारण नहीं हो सकते इसलिए ये अणुओं के समान भी नहीं हैं । इस प्रकार बाह्य पदार्थ सत् सिद्ध नहीं होते और इसी तरह बाह्य वस्तुओं की अन्य कोटियाँ जाति,गुण,आदि भी संभव नहीं हैं । विज्ञान ही

---

१. डा० राधाकृष्णन्,भारतीय दर्शन १ (हिन्दी अनुवाद)पृ० ५७६

घट,पट आदि का रूप ग्रहण करते हैं । इसे स्पष्ट करने के लिए बौद्ध दार्शनिक यह कहते हैं कि सब विषयों के प्रति हमें ऐसा ज्ञान होता है कि यह घट ज्ञान है या पट ज्ञान है । अतः यहाँ ज्ञान में ही कुछ विशेषता है,इसके साथ ही अनिवार्यतया हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे विज्ञान वस्तुओं के स्वरूप को धारण कर लेते हैं,अन्य शब्दों में हमारे आन्तरिक विज्ञान और बाह्य अर्थ की एक साथ उपलब्धि से हीयह प्रमाणित हो जाता है कि विज्ञान ही बाह्य अर्थ का रूप ग्रहण करता है । जब इस प्रकार ज्ञान की विषय से सारूप्यता सिद्ध हो जाती है अर्थात् आकार,लम्बाई,स्वाद,रंग आदि जिनका हमें ज्ञान होता है ये सब गुण विषयीनिष्ठ हैं तब पृथक् बाह्य जगत की क्या आवश्यकता है,विज्ञानों से स्वतंत्र इनकी सत्ता नहीं है[1] । हमारे विचारों में निहित वास्तविक नानात्व के कारण पूर्व विचारों के प्रभाव हैं । पुनः इन पूर्वपक्षी बौद्धों का कथन है कि जिस प्रकार हमारी स्वप्नावस्था में,गन्धर्वनगर में तथा माया आदि में विज्ञान ही विषयी और विषय के रूप में आभासित होते हैं अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न जगत आनुभविक प्रतीति में हमें पूर्व के मानसिक प्रभावों से उत्पन्न विचार प्राप्त होते हैं किन्तु बाह्य अर्थ के रूप में उनका अभाव होता है उसी प्रकार जागृतावस्था में भी स्तम्भादि गोचर वस्तुएं विज्ञानरूप ही हैं । बाह्य अर्थ के अभाव में प्रत्ययों की विचित्रता या बहुत्व की सिद्धि कैसे होगी,इसके लिए ये विज्ञानवादी कहते हैं कि विज्ञानों के नानात्व का कारण वासना का वैचित्र्य है । कहने का तात्पर्य है कि वासना-भेद ही विज्ञानों के भेद का कारण है ,बाह्यार्थ भेद नहीं । इस परिवर्तनशील अनादि जगत में विज्ञान व वासना बीजांकुर की भांति एक दूसरे का कार्य कारण-कार्य बनते रहते हैं । विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार ज्ञान वैचित्र्य वासना-निमित्तक ही है[2] । इसे मै

१. एस०के० बेलवल्कर,दि ब्रह्मसूत्र आफ बादरायण विद् दि कमेंट्री आफ शंकराचार्य,चैप्टर-२,क्वार्टर्स १ और २ (२८-३२) पृ० ११७-१८ ।

२. डा० चन्द्रधर शर्मा,बौद्ध दर्शन और वेदान्त,पृ० १८६

अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकारों से सिद्ध करते हैं ।

विज्ञानवादी बौद्धों के उपरोक्त तर्कों की न्याय असंगतता को दर्शाते हुए शंकराचार्य जी कहते हैं कि ` नाऽभाव: उपलब्धे :` अर्थात् बाह्य अर्थ के अभाव को नहीं स्वीकार किया जा सकता है ,क्योंकि इनकी उपलब्धि हमें होती है । भोजन करते हुए भी यह कहना कि ` मैं भोजन नहीं कर रहा हूं; बाह्य पदार्थों की इन्द्रिय-सन्निकर्ष से देखता व उनसे तृप्त होता हुआ भी यह कहना कि` मैं देख नहीं रहा हूं;` मैं तृप्त नहीं हो रहा हूं; सर्वथा अनर्गल एवं हास्यास्पद-सा प्रतीत होता है ,क्योंकि अभाव की उपलब्धि कभी नहीं होती[1]। पुन: शंकर कहते हैं कि यदि विज्ञानवादी विचारक यह कहें कि उपलब्धि से अतिरिक्त वे कुछ भी उपलब्ध नहीं करते,उनका यह कहना भी अनुचित है, क्योंकि बाह्य पदार्थ स्वयं ही उपलब्धियां हैं । हम इस प्रकार का अनुभव नहीं करते,हम सब मनुष्य बाह्य पदार्थों को उपलब्धि के विषयों के रूप में ही ग्रहण करते हैं । प्रमाणस्वरूप हम कह सकते हैं कि बाह्य पदार्थों की सत्ता को अस्वीकार करने वाले भी उनकी सत्ता को स्वीकार करते हैं । शंकर कहते हैं कि स्वयं पूर्वपक्षी बौद्धों द्वारा प्रदत्त युक्ति है--जो अन्त:ज्ञेयरूप है उनका बहिर्वत् अवभास होता है । इस बात का प्रमाण है कि बाह्य जगत का अस्तित्व है[2] । शंकर स्वयं भी सर्वप्रसिद्ध बाहर अवभासित होती हुई उपलब्धि को मानते हैं । जब हमें बाहर कोई वस्तु दृष्टिगत होती है तभी तो हम यह कहते हैं कि हमारे अन्दर स्थित विचार बाह्य पदार्थों की भांति अवभासित होता है । हम यह क्यों नहीं कहते हैं कि यह गुलाब का फूल आकाश कुसुम-सा भासित होता है,विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्र-सा प्रतीत होता है,अत: सिद्ध है कि बाह्य पदार्थ का अस्तित्व उपलब्ध होने के कारण सिद्ध है ।

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा,ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित, अ०२ पा०२ अधि०५ सूत्र-२८,पृ० १२५६

२. वही,पृ० १२५७ ।

पुनः अद्वैत दार्शनिक शंकर कहते हैं कि किसी वस्तु का सम्भव-असम्भव होना प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पर निर्भर है अर्थात् जो वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से किसी के द्वारा भी उपलब्ध होती है तो उसे सम्भव मानते हैं और यदि किसी भी प्रमाण द्वारा उपलब्ध नहीं होती तो उसे असम्भव, न कि हम सम्भव-असम्भव पर ही प्रमाण प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति को निर्भर बना दें। शंकर का कथन है कि बाह्य पदार्थ समस्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध है अतः उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। "यह कथन है कि प्रत्यक्ष ज्ञान-विषयक चेतना दृष्ट वस्तु के आकार को ग्रहण कर लेती है जिससे कि हमें वस्तु का ज्ञान कभी नहीं होता अपितु केवल उस आकार का ज्ञान होता है जिसका ग्रहण चेतना ने किया है, शंकर के अनुसार सर्वथा असंगत है। वे प्रश्न करते हैं कि यदि आरम्भ से ही पदार्थ नहीं हैं तो प्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थों की आकृति कैसे ग्रहण करता ? पदार्थ हैं तभी तो चेतना उनके आकार को ग्रहण कर सकती है अन्यथा चेतना अपनी इच्छानुसार किसी भी आकृति को ग्रहण कर सकती है। यदि कहा जाए कि हमारी वस्तुओं के बाह्यरूप की चेतना भ्रान्तिमात्र है, अर्थात् हम पदार्थों को भ्रम से बाह्यरूप में देखते हैं जबकि वस्तुतः वे बाह्य नहीं हैं तो शंकर फिर प्रश्न करते हैं कि यदि वास्तव में बाह्य वस्तु कुछ नहीं है तब हमें बाह्यता के सम्बन्ध में भ्रान्ति भी कैसे हो सकती है ? यदि सांप नाम की कोई वस्तु बिल्कुल ही न होती और हम उसे जानते भी नहीं तो हम रस्सी में उसकी कल्पना कैसे कर सकते थे ? अतः बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व आवश्यक है।"[१]

शंकर के तर्क के अनुसार यह भी नहीं माना जा सकता है कि ज्ञान के विषय-सारूप्य से विषय का नाश हो जाता है, क्योंकि घट, पट आदि विषयों के अभाव में विषय सारूप्य भी सम्भव नहीं है और वस्तु-विषय ही उपलब्धि के

---

१. डा० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन पार्ट १, पृ० ५८२

विषय है । घट-पट विभिन्न ज्ञानों में घट और पट रूप विशेषणों का ही भेद है न कि विशेष्यरूप ज्ञान का, श्वेत गाय व काली गाय में 'श्वेतत्व' और 'कालिमा' भिन्न है उनका गोत्व समान है । अत: ज्ञान व पदार्थ में भेद स्पष्टरूप से है । पूर्व तथा उत्तर कालों में उत्पन्न दो प्रकार के विज्ञान अपना अनुभव करके ही उपक्षीण हो जाते हैं, उनमें एक दूसरे के प्रति ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं बन सकता है । शंकर कहते हैं कि इसमें बौद्धों के क्षणिकवाद, स्वलक्षण-प्रतिज्ञा तथा अविद्या के संसर्ग से सद्धर्मप्रतिज्ञा, बन्धन और मोक्ष के सिद्धान्त की भी असिद्धि हो जाती है[1]। यदि यह मान लिया जाय कि विज्ञान अर्थ से अतिरिक्त अपने आप ही अनुभव में आता है तब भी इसमें क्रिया-विरोध हो जाता है, यदि वह अपने से अतिरिक्त किसी ग्राहक द्वारा विज्ञान ग्राह्य है यानी उपलब्धि का विषय है तब ग्राहक को अन्य का ग्राह्य विषय बनना होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा[2]। शंकराचार्य जी कहते हैं कि जब विज्ञानवादियों का विज्ञान दीपक की ज्योति के समान स्वतः अपने आप ही प्रज्वलित होता है तथा उसे प्रज्वलित करने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है, तब विज्ञान को दीपक की ही भांति किसी अन्य की उपलब्धि का विषय होना चाहिए, क्योंकि यह कहना तो हास्यास्पद होगा कि अग्नि अपने आप को ही जलाती है । शंकर के विचारानुसार नित्य साक्षि चैतन्यरूप आत्मा को ही दीपक के समान स्वप्रकाश स्वरूप कहा जा सकता है, विज्ञानवादी बौद्धों के क्षणिक विज्ञान को नहीं[3]। इनका विज्ञान तो उत्पत्ति, नाश आदि अनेकत्व

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित, अ०२ पा०२ अधि०५ सू० २८ पृ० १२६१-६२

२. वही, पृ० १२६४

३. एस०राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, सैक्शन-४ (२८-३२), II, २, २८, पृ० ३८५

"The witnessing self exists by himself and can not be doubted. This witnessing self of the AdvaitaVedānt is one, permanent and self-illuminating , while the ideas of the vijñāna-vāda are transitory ..."

से युक्त हैं अत: इसे भी प्रदीप के समान अपने से भिन्न किसी अन्य का ज्ञेय विषय होना चाहिए। यदि ये विज्ञान को किसी प्रकार के उच्चतम अनुभव यानी स्वयं सिद्धान्त साक्षि ज्ञाता के समान स्वीकार करते हैं तो इन्हें विज्ञान को स्थायी मानना होगा। किन्तु ऐसा करने पर अद्वैत मत की स्थापना हो जाती है तथा इनका क्षणिकवाद विलुप्त हो जाता है इसलिए विज्ञानवादियों द्वारा बाह्य पदार्थों की अस्वीकृति असंगत हो जाती है।

एक अन्य सूत्र में बौद्धों के विरुद्ध शंकर कहते हैं कि स्वप्नावस्था के ज्ञान तथा जागृतावस्था के ज्ञान में क्रमश: बाधित व अबाधित विषय स्वरूप का विरोध है, अत: स्वप्नादि के दृष्टान्त से जागृतावस्था के ज्ञान को निराधार नहीं सिद्ध किया जा सकता है। स्वप्नगत ज्ञान का बाध जागृतावस्था द्वारा हो जाता है परन्तु जागृतावस्था के ज्ञान का बाध नहीं होता है। स्वप्न ज्ञान केवल स्मृति का विषय होता है किन्तु जागरित ज्ञान में विषय की उपलब्धि होती है, अत: शंकर कहते हैं कि दोनों में भिन्न धर्मों की प्राप्ति होने के कारण उनमें साधर्म्य दिखाना नितान्त अनुचित है।[१]

शंकराचार्य के अनुसार विज्ञानवादियों द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त कि विज्ञानों या प्रत्ययों की विचित्रता का कारण वासना-वैचित्र्य है, पूर्णतया असंगत एवं अतार्किक है क्योंकि जो वस्तु पहले उपलब्ध हो चुकी है उसी के संस्कार बुद्धि में शेष रहते हैं तथा वे ही संस्कार वासना-रूप में स्फुरित होते हैं, परन्तु जब बौद्ध दार्शनिक बाह्य पदार्थों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते तो पूर्वानुभव के संस्कार कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। शंकर कहते हैं कि वासना का अर्थ है--संस्कार विशेष वासना और फिर विभिन्न प्रकार की वासनाएं पदार्थों की उपलब्धि स्वरूप ही होती हैं, परन्तु जब पदार्थ ही नहीं है तब वासनाओं की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि वासना को अनादि मान लिया तो

---

१. जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र, पार्ट-१,२ अध्याय, पा०२,२६ पृ० ४२४-२५

अनादि वासना परम्परा अन्ध परम्परा के समान व्यवहार का लोप करने वाली अनवस्था को जन्म देती है । शंकर के मत में पदार्थों के अभाव से संस्कारों का अभाव होता है क्योंकि संस्कारों का कोई आश्रय नहीं रह जाता है । बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार पदार्थों का अभाव है, अत: वासना का भी सर्वथा अभाव ही होगा, क्योंकि पदार्थों के बिना वासना सम्भव ही नहीं है ।[१]

क्षणिकवाद के आधार पर शंकर पुन: यह सिद्ध करते हैं कि बौद्ध दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत वासना का सर्वथा अभाव है । इनके अनुसार वासना की आधारभूता बुद्धि या आलय-विज्ञान है तथा यह क्षणिक है किन्तु शंकर कहते हैं कि अस्थिर स्वरूप होने के कारण यह आलय-विज्ञान वासनाओं का अधिष्ठान नहीं हो सकता, इसे हम स्थायी नहीं मान सकते हैं ।[२] जबतक एक स्थिर, कूटस्थ आत्मा नहीं होती तब तक विज्ञान-प्रवाह के क्षणिक होने के कारण देश-काल सापेक्ष वासनाओं के अधिष्ठान तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि प्रत्यक्ष व्यवहार संभव ही नहीं हो सकते हैं । क्षणिकवाद को मानने के कारण सर्वास्तित्ववादी बौद्ध सिद्धान्त पर लगाये गये सब आक्षेप विज्ञानवादी बौद्ध सिद्धान्त के लिए भी उपयुक्त सिद्ध होते हैं ।

बौद्ध दर्शन के शून्यवादी सिद्धान्त के विषय में शंकराचार्य जी केवल यही कहते हैं कि यह सिद्धान्त समस्त प्रमाणों से विरुद्ध है इसलिए इसका खण्डन करके भी इसे सम्मानित नहीं किया जा सकता है । शंकर के अनुसार बौद्ध दर्शन सिद्धान्त की जितनी ही परीक्षा की जाती है उतना ही यह युक्ति-विरुद्ध तथा असंगत प्रतीत होता जाता है । रेती या बालू द्वारा निर्मित कूप की भांति यह सिद्धान्त ढहता जाता है । इस प्रकार अद्वैतवादी विचारक शंकर बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीनों परस्पर-विरोधी बौद्ध-

---

१. एस०के० बेल्वल्कर, ब्रह्मसूत्र आफ बादरायण, चैप्टर-२, क्वार्टर्स १-२ (२८-३२) २-२-३०, पृ० १२४-२५

२. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२ पा०२ अधि०५ सू०३१पृ० १२७४

सिद्धान्तों को सर्ववैनाशिकवाद की संज्ञा दे देते हैं[1]।

(२)

शंकराचार्य द्वारा की गयी बौद्ध दर्शन की समीक्षात्मक आलोचना को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने के पश्चात् हम पुन: अपने इस केन्द्रीभूत सिद्धान्त पर आ जाते हैं कि एक अद्वैत विरोधी दर्शन के रूप में स्वीकृत बौद्ध-दर्शन तथा अद्वैत दर्शन के बीच एक ऐसा महत् भेद नहीं दृष्टिगत होता, जिस प्रकार का विरोध पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट के दर्शन तथा शंकर के दर्शन में दृष्टिगत होता है। कान्ट के दर्शन में आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तनधारा का चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है, तथा इनके दार्शनिक विचार सुदृढ़ एवं अमिट रूप से पाश्चात्य देशों की धार्मिक, आस्तिक तथा दार्शनिक व सांस्कृतिक परम्परा पर ही आधारित हैं। अपने इस विचार पक्ष के समर्थन में पुन: हमें यह ध्यान देना है कि बौद्ध दर्शन और अद्वैत दर्शन की एक निरन्तरता दो दृष्टियों के एक तादात्म्य के समान नहीं जानी जा सकती है, इस प्रकार की भूल से एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, जिसका किसी भी दशा में परिहार करना आवश्यक है। प्राय: इस प्रकार की त्रुटि हमारे समक्ष इन दो प्रकार के समान कथनों के रूप में उपस्थित हो जाती है--शंकराचार्य एक प्रच्छन्न बौद्ध[2] हैं और नागार्जुन एक प्रच्छन्न अद्वैतवादी हैं[3]।

इन दो कथनों में से हम जिसे भी अधिक ग्राह्य मानें, हमारा लक्ष्य इनके सार की समानता को मानते हुए भी, यह होगा कि हम इनमें से किसे अधिक व्यापक मानें। जो अधिक व्यापक सिद्ध होगा उसमें दूसरे के सार का विलय हो जायेगा। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण निरीक्षण है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि

---

१. एस० राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, सेक्शन ४ (२८-३२)।।,२,३२, पृ० ३८७

२. श्री एस०एस० राय, दि हेरिटेज आफ़ शंकर, पृ० १ तथा पद्मपुराण, उत्तरखंड, परिच्छेद २३६; विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचनभाष्य, १।२२; मध्व, तत्वोद्योत, पृ०२२,२३ सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ़ इंडियन फ़िलासफ़ी वाल्यूम-१, पृ० ४९३-९४; रामानुज, श्रीभाष्य, २।२।२७, राहुल सांकृत्यायन दर्शनदिग्दर्शन पृ० ८२० ।

३. डा० चन्द्रधर शर्मा, इण्डियन फ़िलासफ़ी, ए क्रिटिकल सर्वे, पृ० ३१८-१९ ।

किस सिद्धान्त का किसमें विलय होगा,क्योंकि जो विलीन होता है वह अपने अधिष्ठान में अपने को समाप्त कर देता है । इसलिए ` शंकर एक प्रच्छन्न बौद्ध है` इस कथन का अर्थ ` नागार्जुन एक प्रच्छन्न अद्वैतवादी है` इस दूसरे कथन के अर्थ के समान नहीं होगा । विलय होने वाली विचार व्यवस्था गौण हो जाती है तथा कम महत्वपूर्ण हो जाती है;क्योंकि इसमें कुछ न्यूनता,अभाव या अन्तर्भूत दोष निहित है जिनका परिहार तभी हो सकता है,जब यह एक दोषमुक्त सिद्धान्त में विलीन हो जावे । यहां हम विलयन परिकल्पना को एक मताग्रही रूप में स्वीकार करने के लिए सहमत नहीं हैं । इनमें से किसी एक की व्यापकता को मताग्रही रूप में स्वीकार करना दार्शनिक चिन्तन से असंगत होगा । यहां यह मान लेना मात्र पर्याप्त नहीं है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं या नागार्जुन प्रच्छन्न अद्वैतवादी हैं । हमें यह बतलाना अनिवार्य है कि किस किसी भी कथन के औचित्य को हम मानते हैं तो,क्यों मानते हैं ।

अब हम अपना विवेचन इस कथन में अभिव्यक्त विचार निरीक्षण से प्रारम्भ करते हैं कि शंकर एक प्रच्छन्न बौद्ध हैं । प्रश्न यह है कि इस सन्दर्भ में बौद्ध पद का क्या अर्थ है ? बौद्ध विचार-दर्शन के विभिन्न रूप हैं,जो सर्वास्तित्व-वादियों के आलोचनात्मक यथार्थवाद तथा नव्य-यथार्थवाद से महायान परम्परा के शून्यवाद और आत्मनिष्ठवाद तक व्यवस्थित व क्रमबद्ध होता हुआ विज्ञानवाद और माध्यमिक नामक दो अत्यधिक महत्वपूर्ण बौद्ध दर्शन सम्प्रदायों को अपने में समाविष्ट करता है । इसलिए प्रश्न यह है कि यदि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं तो वे किस प्रकार के बौद्ध हैं--सर्वास्तित्ववादी या महायानी । वे विज्ञानवादी बौद्ध मत का अनुमोदन करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि सत्य आत्मनिष्ठता या विज्ञानमात्र है,अथवा शून्यवादियों का समर्थन करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि--` तत्व चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है ' ? इस प्रसंग विशेष की स्थिति में हम विज्ञानवाद तथा ` सर्वास्तित्ववाद की शंकर द्वारा प्रदत्त आलोचनात्मक समीक्षा का पुन: वर्णन नहीं करेंगे,क्योंकि इनकी आलोचनात्मक समीक्षा पहले ही पूर्ण एवंविस्तृत रूप से वर्णित है । बादरायण-रचित

ब्रह्मसूत्र भाष्य की अपनी समीक्षा में शंकराचार्य जी समस्त भारतीय दर्शन-व्यवस्थाओं की आलोचना द्वारा इसी बात का संकेत देते हैं कि उनके दर्शन-दृष्टि के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएं हैं,उनका परिहार कर देना है तथा उन्हें समाप्त कर देना है । क्योंकि अद्वैत अपने अन्तिम विश्लेषण में इस विचार-दृष्टि को स्वीकार करता है कि वस्तुनिष्ठता ही सत्य है । इसका अर्थ यह नहीं है कि यह पुद्गल नैरात्म्यवाद है । यह न तो धर्मों की यथार्थता के दर्शन को स्वीकार करता है, न तो उसके साथ तादात्म्य ही स्थापित करता है । चूंकि हम इस तथ्य से अवगत हैं कि प्रतिदिन के अनुभव में स्वीकृत जगत को हमें अपने अन्तिम विश्लेषण में नहीं प्राप्त करना है,इसलिए यह प्रमाणित किया जाता है कि सर्वास्तित्ववादियों द्वारा स्वलक्षणों के रूप में स्वीकृत प्रत्यक्षात्मक अनुभव के जगत का अतिक्रमण एक अनुभवातीत अवस्था में करना है अर्थात् उस प्रत्यक्ष जगत को अनुभव से परे एक श्रेष्ठ अवस्था में देखना है । अद्वैतवादी विचारकों के अनुसार ब्रह्म में अनेक विशेषों के आनुभविक जगत की सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता का अतिक्रमण एवं निषेध हो जाता है । न तो शंकराचार्य जी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं कि सत्य इस अर्थ में आत्मगत है जिस अर्थ में स्वप्न आत्मगत होते हैं । जो स्वप्न-चेतना तथा जागृत-चेतना के जगत में कोई भेद नहीं स्वीकार करते उन विज्ञानवादी विचारकों के आत्मनिष्ठ ऐकान्तिक पक्ष के विरुद्ध अद्वैतवादी शंकर सर्वास्तित्ववादियों या किसी भी यथार्थवादी विचारकों की आनुभविक व भावात्मक प्रवृत्ति को उचित समझते हैं[१] । यही कारण है कि अपनी विचार दृष्टि में शंकर सर्वास्तित्ववादियों के विचार-पक्ष की अपेक्षा विज्ञानवादियों के सिद्धान्त पक्ष में अधिक सन्देह

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२ पा० अधि-५ सू० २८ पृ० १२५६ ।

ब्रह्मसूत्र भाष्य की अपनी समीक्षा में शंकराचार्य जी समस्त भारतीय दर्शन-व्यवस्थाओं की आलोचना द्वारा इसी बात का संकेत देते हैं कि उनके दर्शन-दृष्टि के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएं हैं, उनका परिहार कर देना है तथा उन्हें समाप्त कर देना है । क्योंकि अद्वैत अपने अन्तिम विश्लेषण में इस विचार-दृष्टि को स्वीकार करता है कि वस्तुनिष्ठता ही सत्य है । इसका अर्थ यह नहीं है कि यह पुद्गल नैरात्म्यवाद है । यह न तो धर्मों की यथार्थता के दर्शन को स्वीकार करता है, न तो उसके साथ तादात्म्य ही स्थापित करता है । चूंकि हम इस तथ्य से अवगत हैं कि प्रतिदिन के अनुभव में स्वीकृत जगत को हमें अपने अन्तिम विश्लेषण में नहीं प्राप्त करना है, इसलिए यह प्रमाणित किया जाता है कि सर्वास्तित्ववादियों द्वारा स्वलक्षणों के रूप में स्वीकृत प्रत्यक्षबोधात्मक अनुभव के जगत का अतिक्रमण एक अनुभवातीत अवस्था में करना है अर्थात् इस प्रत्यक्ष जगत को अनुभव से परे एक श्रेष्ठ अवस्था में देखना है । अद्वैतवादी विचारकों के अनुसार ब्रह्म में अनेक विशेषों के आनुभविक जगत की सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता का अतिक्रमण एवं निषेध हो जाता है । न तो शंकराचार्य जी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं कि सत्य इस अर्थ में आत्मगत है जिस अर्थ में स्वप्न आत्मगत होते हैं । जो स्वप्न-चेतना तथा जागृत-चेतना के जगत में कोई भेद नहीं स्वीकार करते उन विज्ञानवादी विचारकों के आत्मनिष्ठ सैद्धान्तिक पक्ष के विरुद्ध अद्वैतवादी शंकर सर्वास्तित्ववादियों या किसी भी यथार्थवादी विचारकों की आनुभविक व भावात्मक प्रवृत्ति को उचित समझते हैं[2] । यही कारण है कि अपनी विचार दृष्टि में शंकर सर्वास्तित्ववादियों के विचार-पक्ष की अपेक्षा विज्ञानवादियों के सिद्धान्त पक्ष में अधिक सन्देह

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२ पा० अधि-५ सू० २८ पृ० १२५६ ।

रखते हैं,उनकी उन्होंने विस्तृत आलोचना भी की है । परन्तु हम अपने विषय के मूल रहस्य पर तब पहुंचते हैं,जब कि हम शंकर के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लें कि वस्तुवाद तथा विज्ञानवाद दोनों ही खण्डित हो जाते हैं,तथा अतीन्द्रिय सत्ता के तत्त्व-दर्शन में दोनों का अस्तित्व लुप्त व समाप्त हो जाता है ।[१] "शंकराचार्य एक प्रच्छन्न बौद्ध हैं" इस कथन के वास्तविक अर्थ को हम इसी विशेष दृष्टिकोण से समझ सकते हैं । यह अतीन्द्रिय सत्य ही माध्यमिकों का सत्य है तत्त्व है । वे विचारक,जो शंकर की दार्शनिक स्थिति का तादात्म्य बौद्ध दर्शन के साथ स्थापित करते हैं,केवल इस बात के लिए तर्क देते हैं कि बौद्ध विचारक नागार्जुन के तत्त्व में अतीत क्रम विलुप्त हो जाता है । जैसा कि हमारा लक्षित अभिप्राय है प्रारम्भ में ही हमने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि नागार्जुन के तत्त्व में क्रम का विलोप भारतीय दर्शन में क्रमवाद परम्परा के सम्पूर्ण महत्त्व को भी त्रुटिपूर्ण बना देता है । क्रमवाद आत्मवाद है जो उपनिषद् सम्बन्धी परम्परा की नित्यता अथवा निरन्तरता है । इस परम्परा में सत्ता का सांचा नित्यता या कूटस्थता ही है किन्तु इस नित्यता को त्रुटिपूर्ण रूप में नहीं समझना चाहिए । इसका तात्पर्य भूत,भविष्य तथा वर्तमान इन तीन काल प्रतीकों द्वारा निरन्तरता नहीं है ।

यहां नित्यता एक ऐसी धारणा है जिसे कालातीत स्वीकार किया जाता है । इसे किसी भी प्रकार को काल की धारणा के आधीन नहीं स्वीकार किया जाता है । नित्यता का अर्थ है सहज रूप से अबाधित अर्थात् जो अपने स्वरूप में अनुलंघनीय है । कहने का तात्पर्य है कि यह वह है,जिसका अपने स्वरूप से ही उल्लंघन कहीं भी हो सकता है । नित्यता वह नहीं है,जो सम्पूर्ण काल द्वारा

---

१. यतिवर श्री भोले बाबा,ब्रह्मसूत्र,शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, सूत्र ३०,पृ० १२७१ ।

अपरिवर्तित व स्थिर होता है, उसका तात्पर्य केवल यह है कि वह काल द्वारा कथित, नष्ट तथा परिवर्तित नहीं हो सकता है। अपरिवर्तनीय का अर्थ है-- काल के प्रभावों से अप्रभावित होना। काल भौतिक अथवा सांसारिक वस्तुओं को ही प्रभावित करता है, उन्हें नष्ट करता है तथा उन्हें समाप्त कर देता है, अर्थात् समस्त वस्तुएं काल के गाल में समाहित हो जाती हैं। काल में समस्त वस्तुएं अस्थायी रूप से आभासित होती हैं और फिर वे ऐसे तिथिविहीन काल में छिप जाती हैं जिसमें समस्त घड़ियों की 'टक-टक' ध्वनि अवरुद्ध हो जाती है। यद्यपि काल-धारणा की शब्दावली का प्रयोग किया गया है, परन्तु फिर भी नित्यता को निषेधात्मक रूप से ही ग्रहण किया जाता है। अनित्यता की धारणा द्वारा अपने केन्द्रीभूत दार्शनिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करने में बौद्ध दार्शनिकों का अभिप्राय केवल यह कहना था कि काल के माध्यम में कुछ भी स्थायी नहीं रहता है। प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, क्योंकि वह अपने आपको एक क्षण के बाद स्थायी नहीं रख सकती अर्थात् एक क्षण से दूसरे क्षण तक वस्तु स्थिर नहीं रहती है। अद्वैत दर्शन का 'नित्यम्' अपने स्वरूप में काल से अतीत है। इस सन्दर्भ में काल की रचना को केवल लाक्षणिक प्रयोग के रूप में अपनाया व समझा गया है। यहां काल की चर्चा का विषय इस सन्दर्भ में है कि ब्रह्म त्रिकालाबाधित है, अपने स्वरूप में निर्विरोधी है, अव्याघाती है, इसलिए यह काल में घटित होने वाली किसी वस्तु या काल से भी अबाधित है। अपने सत्य रूप में ब्रह्म अबाधित रहता है। ब्रह्म स्वयं प्रकाश है, इसलिए काल तथा कोई भी बाह्य तत्त्व इसके प्रकाश को मन्द व धुंधला नहीं कर सकता है। आत्मा के स्वप्रकाश स्वरूप को इसके कालातीत अर्थ में ही ग्रहण किया जा सकता है। नित्यता एक आनुभविक विशेषता की अपेक्षा एक तार्किक स्वरूप के अधिक निकट है। बौद्ध दर्शन जो अनित्यता की धारणा को ही अपने दर्शन का केन्द्रीभूत सिद्धान्त बनाता है, अद्वैत दर्शन के 'नित्य' को त्रुटिपूर्णरूप में स्वीकार करता है, इसलिए उनकी त्रुटिपूर्ण रूप में ग्रहण की गयी नित्यता की धारणा अद्वैत धारणा के विरुद्ध है। इनके अनुसार प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सत्ता

अनित्य है, अनिस्थिर है और यदि चेतना का सिद्धान्त ही जिसके साथ आत्मा को एकरूपित एवं तादात्मित समझा जाता है, सर्वोत्कृष्ट सत्ता है, तब उसका भी एक स्थायी स्वरूप नहीं हो सकता और फलस्वरूप अनात्मा उसका स्थान ग्रहण करेगी । बौद्ध दर्शन में न तो वस्तुओं की दृष्टि से ही कुछ स्थायी है, न तो उन विज्ञानों की दृष्टि से ही कुछ स्थायी है ।

कोई भी वस्तु जो सापेक्षता से परिपूर्ण है--चाहे वह विषयी हो या विषय उसका अपना एक स्वभाव नहीं होता है । निःस्वभावता ही उनका चिन्ह है और निःस्वभाव होने के कारण ही उनमें एक विरोध निहित है । कोटियों की आन्वीक्षात्मक आलोचना द्वारा ही इस स्थिति की पुष्टि होती है । माध्यमिकों के अनुसार केवल तत्त्व ही इस स्थिति का अतिक्रमण करता है, किन्तु इस तत्त्व के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है । अधिक से अधिक इसे ज्ञेय रूप में अभिगृहीत वस्तुओं के अज्ञेय प्रतिवस्तु के रूप में ही समझा जा सकता है । जब माध्यमिक चिन्तक सम्पूर्ण विचार-दृष्टियों के आत्म-व्याघाती स्वरूप के लिए युक्ति देते है, तब वे अपने आप में ही निहित विचार-दृष्टियों के विरोध को तथा प्रत्येक विचार-दृष्टि के अन्तर्भूत आत्मव्याघात को दिखाते है । किसी भी विचार-दृष्टि के विरोध से मुक्त होने का दावा करना उस अविरोध के सिद्धान्त से तादात्म्य स्थापित करना है जो स्वयं एक विचार-दृष्टि नहीं है बल्कि एक तार्किक आदर्श है, जिसकी चेतना विचार में तत्त्वदार्शनिक सद्धठित पद्धतियों के आत्मव्याघात द्वारा संकेतित है । यह तार्किक आदर्श कुछ ऐसा नहीं है जो अनुभूति की सामग्री हो । यह न तो आत्मा है न अनात्मा । यह अपने स्वरूप में सत्तात्मक भी नहीं है । यही कारण है कि माध्यमिक दर्शन दो निषेधात्मक स्थितियों से युक्त होता है : (१) संवेद्यवाद जिसके अनुसार कोई भी तात्त्विक कथन विधाउग्रस्त एवं विरोधपूर्ण है तथा अनिवार्य सत्य से युक्त नहीं है (२) अज्ञेयवाद, जिसके अनुसार तत्त्व ज्ञेय वस्तु नहीं है । चूंकि माध्यमिक दर्शन एक विशुद्ध आलोचना है, भूतप्रत्यवेक्षा है इसलिए यह प्रत्येक दृष्टि

का तिरस्कार करता[1] है । यह अविरोध की उस धारणा पर अत्यधिक आस्था रखता है,जो अप्रतिबद्ध है क्योंकि यह विचार द्वारा अज्ञेय है । चूँकि अद्वैत ब्रह्म भी अवेद्य है,इसलिए जिन विचारकों ने शंकर के दर्शन को प्रच्छन्न बौद्ध दर्शन की उपाधि से विभूषित किया है,उन्होंने शंकर के अद्वैत दर्शन के ब्रह्म का तादात्म्य माध्यमिकों के तत्त्व के साथ स्थापित कर दिया है । इस प्रकार विलुप्त होने वाले दृष्टिकोण के पर्दों में निरन्तरता रखते हुए निरपेक्ष के एक प्रकार का दूसरे में विलोप हो जाता है । शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वाले आलोचकों का अभिप्राय यही है कि हमें शंकर के ब्रह्म को माध्यमिक के तत्त्व में विलीन समझना चाहिए । परन्तु यहाँ सिद्धान्त में एक भ्रान्ति है,क्योंकि नागार्जुन तथा शंकर के दर्शनों का प्रारंभिक सिद्धान्त-बिन्दु ही मौलिक रूप में भिन्न है । प्रारम्भिक बिन्दु का यह मौलिक भेद ही दो ऐसे निरपेक्षवादों को निर्मित करता है,जिनका उद्देश्य व तात्पर्य विरुद्ध रूप में भिन्न है ।माध्यमिक दर्शन का प्रारम्भ-बिन्दु सभी विचार-दृष्टियों तथा सिद्धान्तों की आलोचना है । अद्वैत तत्त्व-दर्शन का प्रारम्भ-बिन्दु 'सत्ता के सिद्धान्त नहीं हैं' अपितु स्वयं अनुभव का एक चिन्तनात्मक ज्ञान है । अचिन्तनात्मक अनुभव कोई भी समस्या नहीं प्रस्तुत करता । जो समस्या उत्पन्न करता है,वह रज्जु-सर्प के स्वरूप की भाँति एक भ्रान्तिपूर्ण अनुभव है । रज्जु-सर्प का अनुभव चिन्तनशील विचार में मिथ्यात्व को दर्शाता है ।

शंकर के दर्शन में अनुभव के तीन स्तर हैं--व्यावहारिक,प्रातिभासिक व पारमार्थिक,जिन पर हम अनुभव की समस्या के निदान को प्राप्त करते हैं । 'व्यावहारिक स्तर' 'स्वीकार' की दृष्टि है,प्रतिभासिक स्तर 'सम्भ्रम' की दृष्टि है तथा पारमार्थिक स्तर शांति की दृष्टि है,जिसमें समस्त मोह समाप्त

---

१. टी०आर०वी० मूर्ति,दि सैन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म,पृ० ३३५ ।
"...the Madhyama pratipad as the Reflective awareness of the antinomical conflict of reason(dharmanām bhūta-pratyaveks is atonce above the conflict and is an inner insight into it."

हो जाते हैं,सभी सन्देह दूर हो जाते हैं । स्वीकार की दृष्टि में हम वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं करते,वे जैसी रहती हैं उसी रूप में हम उन्हें ग्रहण कर लेते हैं,वे हमारे लिए कोई भी समस्या नहीं हैं,हम इन वस्तुओं में अविच्छिन्नरूप से निमग्न रहते हैं । परन्तु कभी-न-कभी ऐसे अवसर स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं,जिसमें जगत-सम्बन्धी प्रतिदिन की हमारी मधुर संतुष्टि व सुख उस भ्रम के अनुभव द्वारा कटु बन जाती है जिस भ्रम के रूप में ही इसे जाना गया है । यहां हम ऐसी स्थिति का सामना करते हैं जिसमें हमारी अवस्था उस पक्षी के समान हो जाती है जो सेमल के वृक्ष पर बैठ कर उसकी देखभाल करता है तथा सेमल-वृक्ष-फल के पक जाने की प्रतीक्षा करता है और समय आ जाने पर जब वह उस फल पर चोंच मारता है तब उसमें से रूई के रेशे बाहर निकल आते हैं और वह मोह-भ्रम से निवृत्त होकर विक्षिप्त हो जाता है । इस प्रकार स्वीकार की दृष्टि से बाहर निकल कर भ्रम-निवारण की एक अवस्था जगत के ऐसे मिथ्यात्व के बोध को स्पष्ट करती है जो रज्जु में सर्प की भांति दिखायी देता है । रज्जु-सर्प का सादृश्यानुमान एकमात्र दृष्टान्त के रूप में नहीं प्रयुक्त होता है,यह समष्टि की स्थिति के मूल्यांकन के लिए पूर्णतया प्रयुक्त हो जाता है । यह जगत-सम्बन्धी लौकिक स्थिति,जगत में सत्ता की स्थिति है,अर्थात् अविचारित स्वीकार की ऐसी दृष्टि है जो भ्रम से ओत-प्रोत है,जो धोखा है,छल है । जिस प्रकार रज्जु के रूप में रज्जु का ज्ञान सर्प के आभास को बाधित कर देता है उसी प्रकार इस जगत-सम्बन्धी समष्टि के भ्रम का भी एक अबाधित अधिष्ठान होना चाहिए । यह अधिष्ठान संसार के प्रपंच द्वारा घटने वाला नहीं है तथा यह अपने स्वरूप में अप्रतिबद्ध है । यह एक ऐसी स्थिति है जिसका प्रज्वलित पूर्ण राजमार्ग अस्थायी रूप से अज्ञान के पर्त द्वारा केवल विच्छेदित प्रतीत होता है ।

---

१. श्री एस०एस० राय,दि हैरिटेज आफ शंकर,पृ० १५३

हो जाते हैं, सभी सन्देह दूर हो जाते हैं। स्वीकार की दृष्टि में हम वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं करते, वे जैसी रहती हैं उसी रूप में हम उन्हें ग्रहण कर लेते हैं, वे हमारे लिए कोई भी समस्या नहीं हैं, हम इन वस्तुओं में अविच्छिन्नरूप से निमग्न रहते हैं। परन्तु कभी-न-कभी ऐसे अवसर स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं, जिसमें जगत-सम्बन्धी प्रतिदिन की हमारी मधुर संतुष्टि व सुख उस भ्रम के अनुभव द्वारा कटु बन जाती है जिसे भ्रम के रूप में ही इसे जाना गया है। यहां हम ऐसी स्थिति का सामना करते हैं जिसमें हमारी अवस्था उस पक्षी के समान हो जाती है जो सेमल के वृक्ष पर बैठ कर उसकी देखभाल करता है तथा सेमल-वृक्ष-फल के पक जाने की प्रतीक्षा करता है और समय आ जाने पर जब वह उस फल पर चोंच मारता है तब उसमें से रूई के रेशे बाहर निकल आते हैं और वह मोह-भ्रम से निवृत्त होकर विक्षिप्त हो जाता है।[1] इस प्रकार स्वीकार की दृष्टि से बाहर निकल कर भ्रम-निवारण की एक अवस्था जगत के ऐसे मिथ्यात्व के बोध को स्पष्ट करती है जो रज्जु में सर्प की भांति दिखायी देता है। रज्जु-सर्प का सादृश्यानुमान एकमात्र दृष्टान्त के रूप में नहीं प्रयुक्त होता है, वह समष्टि की स्थिति के मूल्यांकन के लिए पूर्णतया प्रयुक्त हो जाता है। यह जगत-सम्बन्धी लौकिक स्थिति, जगत में रहने की स्थिति है, अर्थात् अनुचिंतनरहित स्वीकार की ऐसी दृष्टि है जो भ्रम से ओत-प्रोत है, जो धोखा है, छल है। जिस प्रकार रज्जु के रूप में रज्जु का ज्ञान सर्प के आभास को बाधित कर देता है उसी प्रकार इस जगत-सम्बन्धी समष्टि के भ्रम का भी एक अबाधित अधिष्ठान होना चाहिए। यह अधिष्ठान संसार के प्रपंच द्वारा घटने वाला नहीं है तथा वह अपने स्वरूप में अप्रतिबद्ध है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसका प्रज्वलित पूर्ण राजमार्ग अस्थायी रूप से अज्ञान के पर्त द्वारा केवल विच्छेदित प्रतीत होता है।

---

१. श्री एस०एस० राय, दि हेरिटेज़ आफ़ शंकर, पृ० १५३

चूंकि अद्वैत अनुभव का सर्वोच्चता एक असत् स्थिति के बोध से ही स्पष्ट होती है,इसलिए अद्वैत तत्त्व का बोध किसी प्रागनुभवी परिभाषा द्वारा लक्षित नहीं किया जा सकता है । यह केवल विश्वास में ही एक ऐसे आशय के रूप में अनुभूत होता है जो अपनी सीमा के कारण असीम का संकेत करता है । इस असीम में काल व देश के माध्यम में परिकल्पित सम्पूर्ण चेष्टाओं का अन्त हो जाता है । अद्वैत चिन्तन प्रणाली एक ऐसे अनुभव के विश्लेषण से युक्त है, जिसका आधार सत्तात्मक है । यह माध्यमिक दार्शनिकों की व्यवस्था के समान तार्किकों का अभिगम नहीं है । माध्यमिकों का तत्त्व केवल उस अतीन्द्रिय स्थिति का संकेत मात्र है,जो तार्किक स्तर की व्याघात-रिक्तता का द्योतक है,क्योंकि दृष्टियों में व्याघात उपलब्ध है,व्याघात-मुक्तता के रूप में ही तत्त्व परिलक्षित है । अविरोध का सिद्धान्त स्वयं कोई दृष्टि नहीं है,इसलिए इसके ज्ञेय होने का कोई प्रश्न नहीं उठता है । माध्यमिकों की स्पष्ट अज्ञेयवादी अवस्था उनके इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि जो ज्ञेय रूप में स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाता है,वह विरोध से परिपूर्ण होता है । इसलिए जो तत्त्व व्याघाती नहीं है, उसे अज्ञेय होना ही चाहिए । पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले की भांति माध्यमिक अपने दार्शनिक चिन्तन को अविरोध के रूप में ज्ञान की निरपेक्ष कसौटी से प्रारंभ करते हैं तथा उसकी समाप्ति इस खोज के साथ करते हैं कि कोई भी ज्ञेय वस्तु उस कसौटी पर खरी नहीं उतरती है । ब्रैडले के इस प्रकार के कथनों का अर्थ यह नहीं है कि सत ज्ञेय है,जिनमें वह बार-बार यह कहते हैं कि सत् में 'किसी प्रकार' व्याघातों का शमन हो जाता है । यह केवल एक ऐसी कसौटी का बोध है जिसके साथ किसी भी ज्ञात अथवा ज्ञेय वस्तु का तादात्म्य नहीं किया जा सकता है । इसी कारण से माध्यमिक विचारक तथा ब्रैडले समान रूप से ईश्वर,आत्मा अथवा इस प्रकार की किसी भी सत्ता के साथ निर्विरोधी सत्ता का तादात्म्य स्थापित करने में प्रतिरोध करते हैं । जो कुछ भी ज्ञेय है, उसे अनिवार्य रूप से एक विषयी का विषय ही होना चाहिए । परन्तु जो कुछ भी इस विषयी विषय के स्वरूप का है वह अवश्य ही विरोधग्रस्त है । तार्किक अभिगम का अन्त सदैव अज्ञेयवाद में ही होता है । ज्ञान के विमर्शात्मक स्तर का सन्देह अज्ञेयवाद के लिए केवल एक प्रस्तावना है । जो कुछ भी ज्ञेय है,

वह विरोध से युक्त है इसलिए जो विरोध से रहित है उसे अज्ञेय ही होना चाहिए। यह चाहे माध्यमिकों का तत्त्व हो या ब्रैडले का परम, दोनों ही रिक्त एवं शून्य तत्त्व हैं, निस्तेज हैं तथा एक सत्तामूलक स्थिति के रूप में विचारित चेतना से परे हैं। ठीक यही बात दार्शनिक कान्ट के साथ चरितार्थ होती है, जिनके अनुसार प्रज्ञा के आदर्श इस रूप में सिद्ध व प्रमाणित किये जाते हैं कि वे सदैव ज्ञान की पहुंच से परे हैं। वे विचारणीय रूप से अज्ञेय हैं। इस प्रकार चेतना की इकाई के रूप में आत्म-विचारित वस्तु अन्त में अन्य तार्किक सिद्धान्तों की भांति एक उचित तार्किक सिद्धान्त के रूप में घोषित हो जाती है; अर्थात् कान्ट चेतना की एकता को एक तार्किक सिद्धान्त के रूप में ही स्वीकार करते हैं। यह ज्ञेय नहीं है। कान्ट के अनुसार ज्ञेयता एक वस्तु-विषय के रूप में ही ग्राह्य है, जो एक संश्लेषणात्मक प्रागनुभवी निर्णय के स्वरूप में सत्ता के सन्दर्भ में ही कथनीय तथा अभिव्यक्त हो सकती है। `चेतना की एकता` समस्त अनुभवों का एक प्रागनुभवी आधार एवं पूर्वमान्यता है। क्योंकि दैशकालिक ढांचे में विस्तृत होने की असमर्थता से इसमें प्रत्यक्षप्रतीतिक स्वरूप का अभाव है, इसलिए इसके बारे में किसी भी प्रकार का संश्लेषणात्मक प्रागनुभवी निर्णय निर्मित नहीं किया जा सकता है। ब्रैडले के `परम तत्त्व` की स्थिति इससे ऊंची नहीं है और माध्यमिकों के तत्त्व की भी यही स्थिति है।

अपने विग्रहव्यावर्तनी में माध्यमिक विचारक नागार्जुन कहते हैं कि-- दृष्टियों की शून्यता से सम्बन्धित उनके कथन `एक दृष्टि होने` के समान नहीं हैं, अर्थात् दृष्टिशून्यता कोई एक दृष्टि नहीं है[१]। इस प्रकार की दृष्टिशून्यता का दावा करने में नागार्जुन यह नहीं प्रदर्शित करते कि अन्य सिद्धान्तों के समर्थन द्वारा वे एक अतिरिक्त तत्त्व-दार्शनिक सिद्धान्त को प्रस्तुत कर रहे हैं। उनके चतुष्कोटियों के अन्तर्गत समस्त सिद्धान्त तिरोहित हो जाते हैं और इसलिए

---

१. विग्रहव्यावर्तनी, कारिका ६३ से ६६ तक (नवनालन्दा महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, १) पृ० ३६ से ४० तक।

उनकी शून्यता से सम्बन्धित कथन स्वयं एक पांचवी कोटि नहीं है । यदि निर्भीकतापूर्वक एक पांचवी कोटि का पुष्ट दावा किया जाता है तब यह कोटि भी व्याघात से परिपूर्ण होगी और यदि ऐसा है तो निर्वाण की धारणा भी निरर्थक हो जायेगी । यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि निर्वाण केवल दृष्टिशून्यता है । केवल ज्ञानात्मक रिक्तता या शून्यता की पद्धति द्वारा निर्वाण के आदर्श लक्ष्य की खोज सार्थक नहीं हो सकती है । दृष्टियां अपनी प्रकृति में प्रतिबद्ध या सापेक्ष होती हैं । प्रतिबद्ध अथवा सापेक्षता का निषेध, किसी को भी अप्रतिबद्ध अथवा निरपेक्षता की ओर नहीं ले जा सकता है । परन्तु निषेध द्वारा कोई भी दुतरफा व्यापार सम्भव नहीं है । स्वीकृति आत्मव्याघाती है किन्तु अस्वीकारात्मक विधि को ग्रहण करके भी हम केवल असफलता को ही स्वीकार करते हैं;क्योंकि इसके द्वारा हम एक ऐसे लक्ष्य की ओर प्रगति नहीं करते हैं,जिसमें सम्पूर्ण विरोध समाप्त हो जाते हैं । इससे यह प्रमाणित होता है कि अद्वैतवादी स्थिति से बाहर निकलने का रास्ता तर्क द्वारा संभव नहीं है । माध्यमिक दर्शन की प्रारम्भिक प्रतिज्ञा से ही ज्ञात है कि उसका कथ मार्ग प्रासंगिक है । यह अनेक दृष्टिकोणों की एक परीक्षा से प्रारम्भ होता है तथा चार प्रकार के दृष्टिकोणों के एक सुस्पष्ट तथा सुदृढ़ वर्गीकरण को प्रतिपादित करने में अग्रसर होता है और किसी भी दृष्टिकोण को न ग्रहण करने की एक दलील व तर्क में समाप्त हो जाता है । प्रश्न यह है कि दृष्टिकोणों के परिष्करण द्वारा शून्यता को प्रज्ञा के साथ कैसे तादात्म्यित किया जा सकता है । यह कहना उचित हो सकता है कि प्रज्ञा में कोई दृष्टि नहीं है अर्थात् यह समस्त दृष्टियों से रहित है,शून्य है परन्तु यह कहना पूर्णतया एक भिन्न बात है कि दृष्टियों से मस्तिष्क को रिक्त करके कोई भी व्यक्ति दृष्टियों के स्थान पर अमर प्रज्ञा की आशा कर सकता है । प्रज्ञा जिसका तत्व से तादात्म्य माना जाये उसका कोई गन्तव्य नहीं हो सकता है । एक तार्किक आदर्श के रूप में तो इसे मान्यता दी जा सकती है । यदि यह एक प्राप्य स्थिति के रूप में घटित हो जायेगी तो यह भी एक दृष्टि बन जायेगी,जिसके कारण यह भी शून्यताग्रस्त हो जायेगी । इस प्रकार का तत्व अपने अतान्द्रिय स्वरूप से शून्य है । इसके लिए इस तक पहुंचने के सभी रास्ते अवरुद्ध हो जाते हैं । अतः शून्यवाद एक ऐसा मत बन जाता है जिसका

लक्ष्य एक दृष्टि के दृढ़ दावे का निषेध करना है,क्योंकि सभी दृष्टियां असंगत एवं परस्पर-विरोधी हैं । इस दर्शन में आत्मव्याघात का तात्पर्य मिथ्यात्व नहीं है,इसका तात्पर्य केवल आत्म अविरोध या स्वसामंजस्य का अभाव है । माध्यमिक दर्शन में इस कमी की पूर्ति असम्भव नहीं है । इसलिए हम माध्यमिक दर्शन को परमवाद की चरम स्थिति के रूप में स्वीकार करने में असमर्थ हैं । इसमें सत्तामूलक आधार का अभाव है । जब इस परम की उपलब्धि के समस्त मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं तब हमारे समक्ष यह कहने का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है कि निरपेक्ष निर्विरोध एवं व्याघात-मुक्त है । इसी कारण वसुबन्धु तथा असंग का विज्ञानवाद अपनी परम्परा में अधिक स्वीकारात्मक है । विशुद्ध चित् का परम से तादात्म्य एक स्वीकारात्मक स्थिति है । यह विज्ञप्ति स्वरूप है जिसके कारण इसमें सभी धर्मों का नैरात्म्य लक्षित है । फलत: धर्मता का प्रतिपादन परिकल्पित कोटि की सत्ता के अन्तर्गत ही किया जा सकता है । विज्ञान की आत्मबहिर्मुखता अथवा अपने आप से बाहर विज्ञान का आत्म-प्रक्षेपण ही उस वस्तुनिष्ठता का उत्पादक है,जिसे परिकल्पित एवं अवास्तविक घोषित किया गया है । वस्तुनिष्ठता असत्य है,केवल आत्म-निष्ठता ही सत्य है ।

विज्ञानवाद में हम एक ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त पाते हैं जिसे निम्नलिखित दो कारणों से स्वीकार किया जा सकता है -- (१) ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त माध्यमिक के चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्व को एक सत्तामूलक सामग्री प्रदान करता है । (२) ऐसा ज्ञात होता है कि यह आत्मा के अद्वैतवादी दृष्टिकोण के लिए,जो 'विशुद्ध चैतन्य' है,मार्ग प्रशस्त करता है । इस सन्दर्भ में हम डा० चन्द्रधर शर्मा के विचारों से अपने मत की पुष्टि पाते हैं[१]। ये अद्वैतवादी ब्रह्म तथा विज्ञानवादियों की विज्ञप्ति के सदर्भो

---

१. डा० चन्द्रधर शर्मा,बौद्ध दर्शन और वेदान्त,पृ० २८३ :
'विज्ञानवाद और वेदान्त दोनों परम तत्त्व को विशुद्धनित्यविज्ञानस्वरूप मानते हैं जो क्षणिक प्रपंच का आधार है और जो व्यावहारिक ज्ञाता ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी से परे है ।'

स्वरूप को सुदृढ़तापूर्वक स्वीकार करते हैं। इसलिए बिना किसी सन्देह के हम पुन: अपने इस केन्द्रीभूत विषय पर पहुंच जाते हैं कि दार्शनिक साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों की भिन्नता के बावजूद भी समस्त भारतीय दर्शन को एक संरचनात्मक एकता में एक साथ रखा जा सकता है। हमारे सम्पूर्ण मत सापेक्षता से परिपूर्ण हैं। तत्व न तो विषयवत् सत्ता ही है और न अभिलाप्य ही है, और न तो यह ऐसा विषयी ही है जो योगाचार के योग-भाव-समाधि में विषय से वियोजित प्राप्त बतलाया गया है। यह आत्मस्वरूप है जिसमें वस्तुनिष्ठता तथा आत्मनिष्ठता दोनों का अतिक्रमण पाया जाता है[1]। यह स्वप्रकाश ज्ञान है, जो न तो हमारी गृहीत मान्यताओं व सम्पत्तियों द्वारा जानने योग्य है और न तो समस्त अनुभव की सीमा से परे है।

अब तक हम विशेष रूप से एक निषेधात्मक विवेचन में व्यस्त थे, जिसके द्वारा हमने यह दिखाया कि--(१)भारतीय दर्शन की आत्मवादी तथा अनात्मवादी परम्पराओं में क्या भेद है और (२) शंकर के अद्वैत वेदान्त में तथा बौद्धों के माध्यमिक एवं विज्ञानवादी दर्शनों में सत्य के सिद्धान्त के प्रतिपादन में क्या भेद है। अब हम इस तथ्य को बतलायेंगे कि विभिन्नता चाहे दार्शनिक परम्परा की हो अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की, भारतीय दार्शनिक विचार उन विभिन्नताओं के बावजूद भी एक व्यापक ऐक्य से युक्त है। यह एकता ही भारतीय दर्शन का आध्यात्मिक स्वरूप है अर्थात् सांसारिक दु:ख एवं बन्धन के परे पारमार्थिक स्थिति की अनुभूति है। आत्मवादी परम्परा में यह स्थिति मोक्ष कहलाती है जिसे अद्वैत दर्शन उद्धृत करता है तथा बौद्धों द्वारा उद्धृत अनात्मवादी दर्शन परम्परा में यह निर्वाण कहलाती है। व्यवहार तथा परमार्थ, संवृत्ति तथा परिनिष्पन्नता अथवा परिकल्पित तथा लोकोत्तर सत्यों का भेद ही इन दर्शनों की इस अभिरुचि को लक्षित करता है। यह अभिरुचि एक आध्यात्मिक अभिरुचि है जिसमें

---

१. प्रो एस०एस० राय, दि हैरिटेज़ आफ़ शंकर, पृ० १७१-७२

यह विश्वास किया जाता है कि सांसारिक क्लेशों एवं विपाकों का शमन हो जायेगा । अद्वैत-माध्यमिक तथा विज्ञानवादी--इन तीनों विचारधाराओं में वस्तुनिष्ठ सत्ताओं की अनुपयुक्तता को सिद्ध भी किया गया है । द्वन्द्वन्याय विचार की वह शैली मात्र है जो वस्तुनिष्ठता की अपर्याप्तता एवं अग्राह्यता को प्रदर्शित करती है । सत् एवं आभास के भेद-स्पष्टीकरण के साथ ही द्वन्द्व-न्याय का आविर्भाव होता है । द्वन्द्वन्याय एक ऐसी विशुद्ध तत्वदार्शनिक क्रिया है जो आभासों के उस जाल को काटती है जिससे सत् आवृत होकर अप्राप्य प्रतीत होता है । हमारी दृष्टि से जो सत्ता को ओफल ~~कर~~ रखता है,वह इन निरपेक्षवादी दर्शनों के अनुसार अज्ञान या अविद्या है । अज्ञान अथवा अविद्या सत्ता का निक्षेप है । इसके दो कार्य हैं जो आवरण और विक्षेप कहलाते हैं । बौद्ध दर्शन इन्हीं को 'आवरण' एवं 'असत्ख्यापन' कहते हैं । अत: सत का आवरण तथा असत् के विक्षेप विचारणीय विषय हैं । यदि आवरण के लिए कुछ भी सत् रूप में नहीं है,तब यह कहना अर्थशून्य हो जाता है कि कोई 'कुछ आभासित' हो रहा है । शून्यता सर्ववैनाशिकता नहीं है,यह निर्वाण है । इस तथ्य को घोषित करने व प्रतिपादित करने में माध्यमिक बौद्ध शून्यता का अतीन्द्रिय सत्ता से तादात्म्य स्थापित करते हैं । परन्तु यहां प्रश्न यह है कि वह किस मार्ग अथवा विधि के अनुसरण से अप्रतिबद्ध एवं अतीन्द्रिय सत्ता तक पहुंचना संभव बतलाते हैं ।

उनका यह अभिगम सभी दृष्टियों की अस्वीकृति में लक्षित है,क्योंकि समस्त दृष्टियां विरोधों से परिपूर्ण हैं । दृष्टियों की आलोचना अथवा दृष्टि स्व-चेतना हो प्रज्ञा है और यही प्रज्ञा निर्वाण है । परन्तु दृष्टियों का प्रहाण क्यों विवक्षित है ? इसलिए कि ये आत्मव्याघाती हैं । यदि ऐसा ही है तो इसका तात्पर्य यह है कि तत्व विरोध मुक्त है अथवा तत्व का स्वरूप विरोध से मुक्ति में ही निहित है । इसी को अन्य शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि असत्य विरोधपूर्ण एवं असंगत है तथा सत्य

विरोधरहित एवं सुसंगत है । यह स्थिति सत्यता एवं असत्यता दोनों का विशुद्ध रूप से एक तार्किक विवेचन है । परन्तु यदि 'सत्य' ही तत्त्व है,तब तत्त्व सुसंगत एवं विरोधरहित स्थिति का द्योतक होने के नाते विचार-विमर्श की कोटि में आ गिरेगा और जिस जाल से निकलने के हेतु माध्यमिकों ने चतुष्टकोटि न्याय का निर्माण किया था,वे उसी जाल में उसी प्रकार से फंस जायेंगे,जिस प्रकार उन्होंने दूसरों को ग्रस्त सिद्ध किया था । अत: यह सिद्ध होता है कि प्रज्ञा को एक स्व-संगत तथा आत्म-अविरोधी स्थिति के रूप में नहीं समझा जा सकता है । इसे पाश्चात्य दार्शनिक हीगल के परम की भाँति एक स्व-संगत समष्टि के रूप में भी नहीं समझा जा सकता है । हीगल का परम एक सुसंगत एवं सामंजस्यपूर्ण समष्टि के रूप में निर्विवाद रूप से इसलिए ग्राह्य है कि उसकी सत्ता बौद्धिक है । चतुष्कोटिविनिर्मुक्त होने के कारण माध्यमिक विचारकों का तत्त्व अविरोध अथवा सामंजस्यता की कोटियों के बाहर है । परन्तु यदि तत्त्व केवल विरोधयुक्त एवं असंगत दृष्टियों का स्व-संगत अभिनिष्कर्ष है,तब तो यह मानना पड़ेगा कि माध्यमिक दार्शनिक सत् की एक प्रागनुभवी परिभाषा को लेकर चलते हैं और इस स्थिति में उनके तत्त्व की धारणा उन सब आक्षेपों का पात्र बन जायेगी,जिन्हें कान्ट ने बुद्धिवादी दार्शनिकों के द्रव्य सम्बन्धी प्रागनुभवी परिभाषा के खण्डनार्थ प्रस्तुत किया था । यदि माध्यमिकों की तत्त्व-समीक्षा भी एक प्रागनुभवी परिभाषा से युक्त है तो यह भी एक दृष्टि मात्र ही होगी । परन्तु माध्यमिकों की दार्शनिक प्रस्तावना में सभी दृष्टियों का परित्याग विवक्षित है,यहां तक कि वे अपने स्वयं के दर्शन का भी परित्याग कर सकते हैं,यदि वह किसी दृष्टि का समर्थन करता है । यह कहना कि तत्त्व एक सामंजस्यपूर्ण सुसंगत समष्टि है,एक दृष्टि को स्वीकार करने का द्योतक होगा किन्तु तत्त्व तो अतितार्किक तथा अतिबौद्धिक है । माध्यमिकों का दार्शनिक अभिमत पूर्णतया तार्किक होने के कारण विरोधों से युक्त हो जाता है । ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष एक न्यायसंगत निष्कर्ष यही शेष रह जाता है कि माध्यमिक दर्शन विरोधों में फंस जाने के कारण एक प्रकार के अज्ञेयवाद का पोषक है । खोज की बौद्धिक प्रक्रिया ने विचारों के अपर्याप्तता की इस चेतना

को निर्मित किया है कि अप्रतिबद्ध को जानना आवश्यक रूप से अज्ञेयवाद में फंसना है । इसका तात्पर्य यह है कि विचार केवल एक निषेधात्मक कार्य का ही परिचालन करता है अर्थात् यह उन सब रास्तों को विघटित करता है,जो अप्रतिबद्ध की दिशा में अभिमुख हैं । यह विवशता उनके उस द्वन्द्वन्याय का ही परिणाम है जो उनके दार्शनिक खोज की सर्वोपरि प्रणाली है । माध्यमिक चिन्तक,दर्शन का आलोचना के साथ तथा आलोचना का द्वन्द्वन्याय के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं । ऐसा ही कान्ट ने भी किया था । उन्होंने सीधे-सीधे इस तथ्य को स्वीकार किया कि अप्रतिबद्ध की ओर का बौद्धिक मार्ग विध्वंसित रहता है और ज्ञान उसे सुधार नहीं सकता,क्योंकि वह ज्ञान की सीमा के बाहर[1] है । किन्तु इतने पर भी माध्यमिक दर्शन सर्वनाशिक नहीं है । उनका ' तत्त्व ' स्वयं ही निर्वाण है और वे कभी भी एक सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में निर्वाण के विचार का निषेध नहीं करते हैं क्योंकि वे इसे अनुभवगम्य बतलाते हैं । अत: उनका चिन्तन भारतीय विचार-चिन्तन के क्षेत्र से बाहर नहीं है । समस्त भारतीय दर्शन मोक्ष-शास्त्र है,अत: निर्वाण को लक्ष्य बनाने के कारण माध्यमिक बौद्ध दर्शन भी मोक्षशास्त्र है । सर्वोच्च दार्शनिक पद्धति के रूप में ' प्रासंगिक विधि ' को अपनाना ही उनका दोष है ।

अपने चिन्तन को दृष्टियों की एक द्वन्द्वन्यायात्मक आलोचना से आरंभ करने के स्थान पर यदि उन्होंने अपने चिन्तन का प्रारम्भ भ्रान्तिपूर्ण अनुभव के विश्लेषण से किया होता तो यह अधिक उपयुक्त होता । कहने का तात्पर्य है कि उन्हें अपने दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ भ्रम की समीक्षा से करना चाहिए था । विज्ञानवादियों तथा अद्वैतवादी विचारकों ने ऐसा ही किया है ।

---

१. टी०आर०वी० मूर्ति,दि सैन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म,पृ० २६४,२६६

अद्वैतवादियों का भ्रम से साक्षात्कार ही उन्हें यह विश्वास दिलाता है कि विकल्प वृत्ति असत् है, मिथ्या है और सत्य को इससे बाहर अन्यत्र ही पाया जा सकता है। अब प्रश्न उठता है कि कहां? एक ऐसे अनुभव में जो केवल प्रतीति-सिद्ध नहीं है। जो एकमात्र प्रतीति का विषय है, वह ज्ञान का विषय नहीं है और वह सत् नहीं हो सकता, क्योंकि रज्जु-सर्प के दृष्टान्त में रज्जु की भांति इसकी एक वस्तुतंत्र सत्ता होना चाहिए। भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं का अधिष्ठान क्या है, इसका अधिष्ठान तो केवल वही हो सकता है, जो स्वयंसिद्ध एवं वस्तुतन्त्र सत्ता से युक्त हो। इसके बारे में कौन बतायेगा? मैं या मुफसा कोई इसके विषय में कुछ नहीं कह सकता है, नित्य, अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत सत्य को बतलाने वाले वचन ही इसके विषय में कुछ कह सकते हैं। ये वचन ही श्रुति हैं, चूंकि ये अपौरुषेय[१] हैं, इसलिए ये अविश्वास अथवा सन्देह के परे हैं। श्रुति-सम्मत होने के कारण ही अद्वैत वेदान्त किसी भी प्रकार की अज्ञेयवादी धारणा से ग्रसित नहीं होता है। कुछ इसी प्रकार से योगाचार दार्शनिकों की योग-समाधि उनको अज्ञेयवाद से सुरक्षित रखती है। किन्तु योगाचार-विचारकों की योगसमाधि की प्रामाणिकता अद्वैत वेदान्त से किस प्रकार भिन्न है? हमारे अनुसार यह भिन्नता केवल भिन्नता केवल मात्रिक ही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अन्तिम विश्लेषण में इन दार्शनिकों का प्रमाण भी बुद्ध-वचनों में निहित है। यही बात माध्यमिकों के बारे में भी कही जा सकती है। यदि ऐसा है तो यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि माध्यमिक भी केवल एक विशुद्ध तार्किक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते हैं। न तो ऐसा ही है कि योगाचार अपने समाधि में निर्दिष्ट अनुभूति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। वेदान्तियों की भांति वे भी अपनी धारणा को किसी-न-किसी श्रुति पर ही आधारित करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इनकी श्रुति पौरुषेय है,

---

१. डा० आर०के० त्रिपाठी, प्रॉब्लम्स आफ फिलासफी एण्ड रैलिजन, पृ० १४५ से १५४ तक, जहां श्रुति के अपौरुषेय एवं निर्विवाद होने की अति सुन्दर व्याख्या की गयी है।

क्योंकि यह बुद्ध-वचनों द्वारा निर्मित है । इसीलिए इस प्रकार की श्रुति विवादयुक्त हो सकती है । व्यक्ति तो व्यक्ति ही है, चाहे उन्हें बुद्ध के रूप में लिया जाय या किसी अन्य के रूप में । अत: वह श्रुति, जो उनके वचनों में व्यक्त होती है एक ऐतिहासिक रूप की श्रुति है,[1] अर्थात् ऐसी श्रुति है जिसका प्रारम्भ समयाधीन है और इसीलिए किसी-न-किसी समय में उसका अन्त भी हो सकता है । इससे यह सिद्ध होता है कि ऐतिहासिक श्रुति की मान्यता समयातीत अनिवार्यता से युक्त नहीं है । ऐतिहासिक श्रुति-प्रमाण का अन्त उसके उस खण्डन के रूप में सामने आता है, जो किसी समय से प्रारम्भ होकर किसी अन्य ऐतिहासिक श्रुति से बांधित हो जाती है । इस आपत्ति के निवारणार्थ बौद्धों ने बुद्ध को एक व्यक्ति के रूप में न मान कर उनको एक सिद्धान्त के रूप में माना है, अर्थात् ऐतिहासिक बुद्ध को एक समयातीत सत्य के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है ।

अब प्रश्न यह है कि हमारी इस समीक्षा का निष्कर्ष क्या है ? द्वन्द्वात्मक न्याय के सम्बन्ध में, जो हमारे शोध-प्रबन्ध का विवेचित विषय है, हमें यही कहना है कि द्वन्द्वात्मक न्याय बौद्ध दर्शन एवं वेदान्त दोनों में ही मिथ्यात्व के स्वरूप को दर्शाने की चेष्टा करता है । जो विशुद्ध रूप से केवल द्वन्द्वन्याय तर्क शैली को लेकर चलता है, उसकी दुर्बलता एकमात्र इसी में है कि वह सभी दृष्टियों का खण्डन करने के बाद अपने को तत्त्व का ज्ञान कराने में नितान्त ही असमर्थ पाता है । सत्य एवं मिथ्यात्व दोनों, यदि कथनों के विशेषण न माने जायं वरन् अनुभव की स्थितियां मानी जायं तो द्वन्द्वन्याय अपने आपको एक सहायक बना कर उचित कार्य करेगा । इसलिए अनुभव के विश्लेषण में अद्वैतवादी विचारकों का प्रारम्भिक बिन्दु `सत्ता` को दार्शनिक

---

१. डा० आर०के० त्रिपाठी, प्राब्लम्स आफ फिलासफी एण्ड रैलिजन, पृ०१३५

रूप में प्रस्तुत करने का एक अधिक विस्तृत एवं बोधगम्य रास्ता है । दर्शन को दृष्टिकोणों व कथनों की एक मीमांसा के रूप में न स्वीकार करके,यदि अनुभव की एक मीमांसा के रूप में ग्रहण किया जाय तो यह एक अच्छा परिणाम प्रदान करेगा । माध्यमिक दर्शन तथा अद्वैत दर्शन के बीच इन विभिन्नताओं के होते हुए भी द्वन्द्वन्याय आध्यात्मिक प्रवृत्ति से रिक्त नहीं है,यह आध्यात्मिक प्रवृत्ति ही पूर्णता की खोज है । यह अप्रतिबद्ध की खोज है,जो भारतीय विचार-दर्शन को नैराश्य में जाने से बचाती है । भारतीय दार्शनिक-चिन्तन की रूपरेखा में एक आधारभूत संरचनात्मक एकता निहित है । अद्वैत विचार-दर्शन को बीजमंत्र के रूप में ग्रहण करके अन्य दर्शनों को भी उनके विवक्षित तथ्यों पर सहज रूप में स्थापित किया जा सकता है । अप्रतिबद्ध की प्राप्ति अथवा अनुभूति चाहे उसे ब्रह्म कहें या विज्ञप्ति अथवा तत्त्व कहें,एक ही अन्तिम लक्ष्य की ओर अभिमुख होने वाले तथा निषेधात्मक पहलुओं को महत्त्व देनेवाले सभी दार्शनिक सम्प्रदाय इस रूप में वर्णित किये जा सकते हैं कि सब अभेद, अविषय और अविवाद के लिए ही तर्क एवं दलील प्रस्तुत करते हैं । अद्वैतवादी विचारक भेद के अतिक्रमण पर बल देते हैं,विज्ञानवादी विचारक वस्तुनिष्ठता के निषेध या अतिक्रमण पर बल देते हैं तथा माध्यमिक विचारक विवादग्रस्त दृष्टिकोणों के निषेध व अतिक्रमण को ही वांछनीय बताते हैं । नि:सन्देह ही द्वन्द्वन्याय का प्रयोग उपरोक्त तीन भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय द्वारा किया गया है,किन्तु जिस रूप में माध्यमिकों ने किया है,उस रूप में किसी ने भी नहीं किया है । इन सब में एक वस्तु समान है--सभी एक अतीन्द्रियात्मक या प्रतिगोचर सत् को प्रस्तुत करते हैं तथा उसे मान्यता देना चाहते हैं और इस कार्य को दृष्टिकोण के एक अज्ञेयवादी प्रतिपादन में समाप्त भी नहीं करना चाहते हैं अर्थात् सभी दर्शनों का लक्ष्य,अतीन्द्रिय सत्ता को अज्ञेयवादी दृष्टिकोण से बचाना ही है । परन्तु कैसे ? बुद्ध वचन,माध्यमिक तथा अन्य बौद्ध विचारकों की रक्षा करते हैं,जबकि अद्वैत-वेदान्त की रक्षा श्रुति करती है । इस प्रकार अब हम अपने पूर्व प्रश्न पर विचार करते हुए यह देखें कि कौन

दर्शन किसे अपने में सम्मिलित करता है --बौद्ध दर्शन शंकर के दर्शन ~~के दर्शन~~ को अथवा शंकर-दर्शन बौद्ध दर्शन को । इनमें से कौन अधिक व्यापक दर्शन है ? प्रामाणिक रूप से अद्वैत दर्शन ही व्यापक है, इसका कारण उपरोक्त वर्णित है । अत: यह कहने का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता है कि शंकर 'प्रच्छन्न बौद्ध हैं', किन्तु यह कहना भी एक दार्शनिक विपरोक्ति प्रतीत होती है कि नागार्जुन एक प्रच्छन्न अद्वैत-विचारक हैं । ये कथन दर्शन की व्यापकता की अपेक्षा विरोध के द्योतक हैं ।

यहां हमारा अभिप्राय तार्किक विवादों को प्रतियोगिता को प्रदर्शित करना नहीं है, यहां हम केवल शंकर द्वारा की गयी बौद्ध दर्शन की द्वन्द्वन्यायात्मक समीक्षा के सन्दर्भ में अपने निष्कर्ष की न्याय-औचित्यता को ही दर्शाना चाहते हैं । हमारे दृष्टिकोण से बौद्धों के विचारों के तार्किक खण्डन में शंकर का अभिप्राय उनकी दृष्टिशून्यता को या सामान्यरूप से किसी भी तात्त्विक दृष्टि की विप्रतिषेधता को बतलाना न था । ऐसा तो तभी हो सकता था जबकि अद्वैतवादी विचारक भी एक ही प्रकार के तत्त्व-दर्शन अर्थात् केवल बुद्धि-निर्मित चिन्तनात्मक तत्त्वदर्शन को ही स्वीकार करते । ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वदार्शनिक दृष्टियों की आलोचना करते हुए माध्यमिक विचारक पूर्ण रूप से इस मान्यता से युक्त हैं कि सभी तत्त्व-दार्शनिक व्यवस्थाएं केवल बौद्धिक और चिन्तनात्मक हैं । इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के तत्त्व-दर्शन भी हो सकते हैं, परन्तु यहां इस समस्या का हल करना व प्रस्तुत करना अनावश्यक है । यहां हम केवल यही कह सकते हैं कि ब्रह्म सम्बन्धी अद्वैत सिद्धान्त चिन्तनात्मक तत्त्व-दर्शन की एक व्यवस्था नहीं है । यह बुद्धि-निर्मित नहीं है क्योंकि शंकर ने जब तर्क को अप्रतिष्ठित बतलाया, तब उनका ऐसा कहने का प्रयोजन मात्र यही था कि बुद्धि में वह रचनात्मक शक्ति नहीं है कि वह तत्त्व-सिद्धान्तों का निर्माण करे । तत्त्व प्रतिगोचर है, अत: अतीन्द्रिय है । फलत: वह किसी प्रकार की वैचारिक रचना नहीं हो सकती है । इस प्रतिगोचर अप्रतिबद्ध तत्त्व का ज्ञान तो श्रुति का ही प्रसार हो सकता है । केवल श्रुति ही

उसके विषय में बतला सकती है, परन्तु श्रुति-वचन सबके लिए अर्थयुक्त नहीं हो सकते हैं। केवल वही उसके अर्थ को समझ सकता है, जिसने गोचर के मिथ्यात्व को जान लिया है। जिसने सर्प के प्रातिभासिक रूप को नहीं जाना है, उसे रज्जु के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा हो ही नहीं सकती है। जगत के मिथ्यात्व का स्वाद पाने वाला ही ब्रह्म का जिज्ञासु हो सकता है। प्रतिगोचर तत्व को जानने की जिज्ञासा की स्थिति में ही श्रुति-वचन अर्थयुक्त हो सकते हैं। विषय-ग्रस्त वृत्तियों से प्रेरित व्यक्ति के लिए श्रुति-वचनों और साधारण कथनों में कोई अन्तर नहीं है। श्रुति महावाक्यों की भाषा एक उस प्रकार के बीजक के रूप में है जिसे सब नहीं बांट सकते हैं। इससे हमें आज की दार्शनिक समस्याओं की उलझनों को मिटाने के मार्ग का भी निर्देश मिलता है। तत्व-दर्शन के प्रतिवादी ने भाषा-विश्लेषण के स्तर पर तत्व-चिन्तन को सर्वत्र वर्जित घोषित किया है। वे तत्व-सिद्धान्तों की निरर्थकता को सिद्ध करते हैं[1]। यही उचित भी प्रतीत होता है कि उनका इस प्रकार का आग्रह अनर्गल नहीं है। वास्तव में यदि तत्व-दर्शन केवल बुद्धि की उपज है तो ऐसी उपज के विरुद्ध अनेकानेक अनुपपत्तियां खड़ी की जा सकती हैं। बुद्धि द्वारा निर्मित एक तत्व-सिद्धान्त दूसरे बुद्धि-निर्मित तत्व-सिद्धान्त से बाधित हो सकता है। इसी कठिनाई को ध्यान में रखते हुए समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक स्ट्रॉसन विवरणात्मक तत्व-मीमांसा की रूपरेखा को अपनी पुस्तक इंडिविजुअल्स में प्रस्तावित करते हैं[2]। इस प्रकार के तत्व-चिन्तन का अभीष्ट केवल विचार के उन आकारों का वर्णन करना है, जिनके माध्यम से हम आभासों के विषय में सोचते हैं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि तत्व-दर्शन की दो कोटियां हैं-- जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। परन्तु यदि हम इस विचार को स्वीकार कर लेते हैं कि तत्व-दर्शन या तो चिन्तनात्मक है या वर्णनात्मक है,

---

१. रम्मरमैन, फलैसिक्स ऑफ़ एनालिटिक फ़िलासफ़ी, जिसमें एयर के उन तर्कों को उद्धृत किया गया है जिनके द्वारा वह तत्व-दर्शन की निरर्थकता एवं उसके खण्डन को प्रस्तुत करते हैं --पृ० ११६-२०

२. पी०एफ़०स्ट्रॉसन, इंडिविजुअल्स (ऐन एसे इन डिस्क्रिप्टिव मैटाफ़िजिक्स) पृ०९

तब हम पुनः उस भंवर में फंस जाते हैं, जिसमें शताब्दियों से बुद्धिवादी व अनुभववादी दार्शनिक फंसे हुए थे । अद्वैत वेदान्त ने श्रुति को प्रतिष्ठित करके एक तीसरे प्रकार के तत्त्व-दर्शन को मान्यता प्रदान[1] की, जो बुद्धिवादी एवं अनुभववादी तत्त्व-दर्शनों के अतिरेकों से रिक्त[2] है । यह तत्त्व-दर्शन उस आध्यात्मिक अनुभूति की पुष्टि करता है, जो जगत मिथ्यात्व के रहस्य के खुल जाने पर श्रुति-अनुमोदित उस प्रतिगोचर तत्त्व को अपरोक्ष रूप में ला कर खड़ा कर देता है, जिसे उपनिषदों में 'ब्रह्म' कहा गया है और जो हमारे प्रत्यक् आत्मन् का स्वयं-ज्योति स्वरूप है ।

शंकर द्वारा जैन-दर्शन की आलोचना

यह भलीभांति स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों का अभीष्ट एक ही है अर्थात् सभी का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति ही है परन्तु फिर भी सभी दर्शनों में आंशिक दृष्टि-भेद निहित है । अद्वैत दार्शनिक शंकर ने सब भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों की समुचित परीक्षा द्वारा उनके आंशिक दृष्टिकोणों को कुशलतापूर्वक दिखाया है । 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' के 'एकस्मिन्नसंभवाधिकरण' सूत्र में जैन-दर्शन की दृष्टि-असंगतता को वह निम्न प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं ।

शंकराचार्य जी कहते हैं कि जैन मतावलम्बियों द्वारा सप्तभंगीन्याय के आधार पर एक ही परमार्थ रूप वस्तु में विरुद्ध धर्मों की स्वीकृति असंगत एवं अतार्किक[3] है ।

जैन दार्शनिक जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बंधन तथा मोक्ष इन सप्त पदार्थों की तथा जीव-अजीव से ही जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन पांच अस्तिकायों की स्थापना करते[4] हैं ।

---

१. डा० आर० के० त्रिपाठी, प्राब्लम्स आफ् फिलास्फी एण्ड रैलिजन, पृ० २१

२. वही, पृ० २१-२३

३. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२, पा०२, अधि० ६ सूत्र ३३, पृ० १२७६-८० ।

४. वाचस्पति गैरोला, भारतीय दर्शन, पृ० ११२, १३, १४, १५ एवं १६ । तथा बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० १६१ ।

ने अपने सप्तभंगीनयस्यादस्ति (किसी दृष्टि से है), स्यान्नास्ति (किसी दृष्टि से नहीं है), स्यादस्ति च नास्ति च (किसी दृष्टिसे है और नहीं भी है), स्यात् अवक्तव्य: (किसी दृष्टि से अवर्णनीय है), स्यादस्ति च चावक्तव्यश्च (किसी दृष्टि से है और अवर्णनीय है), स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च (किसी दृष्टि से नहीं है और अवर्णनीय है), स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च (किसी दृष्टि से है, और नहीं भी है तथा अवर्णनीय भी है), के स्याद्वाद सिद्धान्त का सभी स्थानों पर प्रयोग करते हैं तथा अनेक धर्मात्मक वस्तु की स्थापना करते हैं। शंकराचार्य जी इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि प्रकाश और अन्धकार के समान एक ही वस्तु में एक साथ नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व एवं नानात्व तथा सत्यता व असत्यता नहीं रह सकते हैं।[१] इनका स्याद्वाद स्वयं स्याद्वाद के अनुसार ही अप्रमाणित एवं असत्य सिद्ध हो जाता है, यह सिद्धान्त एक विक्षिप्त पुरुष के अनर्गल प्रलाप के समान है। एवं प्रथम तो सप्तभंगीनयों द्वारा सप्त पदार्थों का ज्ञान भी अनिर्धारित हो जाता है तथा संशयपूर्ण एवं अप्रमाण्य हो जाता है। जैन विचारकों का यह कहना कि वस्तु अनेकात्मक है अर्थात् हमारा व्यावहारिक ज्ञान आंशिक है, यह निर्धारित रूप ज्ञान है, अनौचित्यपूर्ण है क्योंकि इनके अनुसार निर्धारित वस्तुएं भी अनन्त धर्मों से युक्त होंगी और ऐसा होने पर सप्तभंगीनय का प्रयोग इन पर भी होगा, इस प्रकार ये भी अनिर्धारित हो हो जायेंगे तथा निर्धारणकर्ता और निर्धारण-फल के विषय में भी अस्तित्व तथा नास्तित्व हो जावेगा। शंकर कहते हैं कि इस प्रकार तीर्थंकर में भी उपदेश देने की सामर्थ्य नहीं रह जावेगी, क्योंकि स्याद्वाद के अनुसार प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता तथा प्रमिति ही निर्धारित नहीं होंगे।[२]

---

१. डा० चन्द्रधर शर्मा, बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृ० १८१।

२. यतिवर श्री भोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित, अ०२ पा०२ अधि० ६ सूत्र-३३, पृ० १२८७।

पुन: यह कहा जा सकता है कि इस सप्तभंगीनय के द्वारा पांच अस्तिकायों की संख्या के बारे में भी अनेक विकल्प सम्भव हो जाते हैं और परिणामस्वरूप इनकी संख्या में भी न्यूनता तथा आधिक्य प्राप्त हो जाता है। इन पदार्थों को अवर्णनीय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवक्तव्य होने पर ये कथित नहीं हो सकते तथा इनका कथित होना और अवर्णनीय होना विरुद्ध हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्याद्वाद द्वारा ये पदार्थ निर्धारित व अनिर्धारित दोनों हो जाते हैं तथा इस प्रकार इनका सम्यक् दर्शन व असम्यक् दर्शन दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं। इतना ही नहीं जैन सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष तथा स्वर्ग इत्यादि के विषय में भी अस्तित्व एवं अभाव तथा नित्यता एवं अनित्यता आदि विकल्प संभव हो जायेंगे, इसलिए यहां भी अनिश्चितता ही दृष्टिगत होती है। शंकर कहते हैं कि जो वस्तु भावरूप है, उसका अभाव नहीं हो सकता है, जो नित्य है वह अनित्य नहीं हो सकता है। स्याद्वाद द्वारा प्रत्येक वस्तु सम्भवत: सत्, असत् तथा अवक्तव्य आदि विकल्पों से युक्त है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को विरुद्ध धर्मों से युक्त मानना तर्कसंगत नहीं है। शंकर कहते हैं कि परमाणुवाद का निराकरण पहले ही हो चुका है, अत: जैन-दर्शन के अनुसार पुद्गलसंज्ञक अणुओं से संघात की उत्पत्ति को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता[१] है।

जैनी विचारक यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा या जीव एकदेशीय अर्थात् शरीर के बराबर माप वाला होता है। शंकर का कथन है कि जिस प्रकार एक पदार्थ में विरुद्ध धर्मों को स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है, उसी प्रकार यह मान्यता भी असंगत एवं दोषपूर्ण[२] है। क्योंकि एकदेशीय होने से आत्मा परिच्छिन्न व सीमित हो जावेगा और इस प्रकार यह घट पटादि के समान अनित्य हो जावेगा। कर्मबंधन से मानव अपने अन्य जन्मों में यदि हाथी जैसे वृहद् आकार वाले तथा चींटी जैसे सूक्ष्म शरीर को धारण करेगा

---

१. एस०के०बेलवलकर, दि ब्रह्मसूत्र आफ बादरायण विद दि कमेंट आफ शंकराचार्य, अध्याय २ पाद-२, पृ० ३३ सू० १२६-३० ।

२. एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ।। यतिवर श्री भोले बाबा, शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२, पा०२ अधि०६ सूत्र ३४, पृ० १२९१ ।

तब उन शरीरों के अनुपात में वह अपने आपको व्याप्त नहीं कर पायेगा। मानव जन्म में भी उसके लिए यही समस्या उत्पन्न हो जायेगी, क्योंकि बाल्यावस्था, तरुणावस्था तथा वृद्धावस्था में मानव-शरीर समान विस्तार वाला नहीं होता[१] है। शंकर का कथन है कि यदि जैन दार्शनिक यह कहें कि अनन्त अवयवों से परिपूर्ण जीव लघु तथा दीर्घ शरीर के अनुसार संकुचित एवं विस्तृत हो जाता है, तब यह भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि ऐसी दशा में हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जीवात्मा के अनन्त अवयव समान देश को ही आवृत करते हैं अथवा नहीं, यदि आवृत करते हैं तो एक परिच्छिन्न शरीर में अनन्त अवयव कैसे समाहित होंगे और यदि आवृत नहीं करते तो इसका तात्पर्य यह है कि अनन्त अवयवों से आवृत प्रदेश एक अवयव के प्रदेश के मापवाला ही होगा। ऐसा होने से समस्त अवयवों के एकत्रित विस्तार का विचार नहीं किया जा सकेगा और परिणामस्वरूप इनकी कल्पना हमें एक स्थूल शरीर के रूप में न करके सूक्ष्म अणुमात्र रूप में करनी होगी और तब हम यह अनुमान भी नहीं कर सकते कि एक परिच्छिन्न सीमित शरीरमात्र जीव अपने में अनन्त अवयवों को समाहित करेगा।

पुनः शंकराचार्य जी का यह कहना है कि यदि जैन-दार्शनिक अपने पक्ष के समर्थन में यह कहें कि--बड़ा एवं छोटा शरीर प्राप्त करने के लिए जीव के अवयव क्रमशः निकट एवं दूर हो जाते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि जीव के कुछ अवयव कूटस्थ व स्थायी हैं, किन्तु शेष अवयवों का शरीर के परिमाण के अनुसार वृद्धि एवं ह्रास होता रहता है, इसलिए जीव देह के माप के बराबर हो सकता है, यह भी अतार्किक एवं असंगत युक्ति है, क्योंकि क्रमशः वृद्धि एवं क्षय होने से जीव विकारयुक्त हो जायेंगे और तब वे अन्य घट, पट चर्मादि के समान

---

१. समान एव एकस्मिन अपि जन्मानि कौमारयौवन स्थाविरेषु दोषः

--यतिवर श्री भोलेबाबा, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, पृ० १२६२

अनित्यता को प्राप्त हो जायेगा तथा जीव अपने आने-जाने वाले अवयवों के कारण स्वयं ही आगम और अपगम के गुणों से युक्त होकर अनात्म तत्व हो जायेगा; इस प्रकार हम कूटस्थ या स्थिर आत्मा का निरूपण नहीं कर सकेंगे। अत: जैन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का, कि कर्मों के बन्धन से जीव संसार में निमग्न रहता है और बन्धनमुक्त होने पर वह मोक्ष प्राप्त करके ऊर्ध्वगामी हो जाता है, बाध हो जायेगा[1]। जीव की वृद्धि के समय उसके अवयवों का प्रादुर्भाव तथा जीव के ह्रास के समय अवयवों का विलीन होना किस प्रकार संभव है, यह भी स्पष्ट नहीं होता क्योंकि आत्मा अभौतिक तत्व है इसलिए इसलिए इसे भूततत्वों से उत्पन्न तथा इसका भूत तत्वों में विलीन होना भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। साधारण तथा असाधारण जावों के अवयवों के लिए कोई अन्य आधार भी प्रामाणिक रूप से नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार आवागमन करने वाले अनन्त अवयव अनिश्चित परिमाणवाले हैं अत: आत्मा का स्वरूप भी अनिश्चित ही होगा। शंकर कहते हैं कि जैन दार्शनिकों का उपरोक्त मत भी युक्तिसंगत नहीं है। पुन: वे कहते हैं कि यदि जैन विचारकों के तर्क को इस अर्थ में ग्रहण किया जाय कि जीव का परिमाण परिवर्तित होने पर भी उसी प्रकार नित्य हो सकता है, जिस प्रकार जल स्रोत का प्रवाह नित्य होता है तथा जिस प्रकार बौद्धों का विज्ञान-प्रवाह अथवा सन्तान नित्य है उसी प्रकार जैन दार्शनिकों का भी जीव-प्रवाह नित्य है, तब भी इनका मत तर्कसंगत एवं न्यायोचित नहीं सिद्ध होता क्योंकि इस अवस्था में आत्मा को वस्तुत्व से विहीन मानना होगा और परिणामस्वरूप बौद्धों की भांति नैरात्म्यवाद की सिद्धि होगी[2]।

जैन मतावलम्बियों के इसी सिद्धान्त का खण्डन शंकराचार्य जी एक अन्य युक्ति द्वारा इस प्रकार करते हैं --जैन विचारकों के मतानुसार मोक्ष की अवस्था में प्राप्त होने वाला जीव परिमाण नित्य होता है अर्थात् मोक्ष के समय जीव

---

१. एस०राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, सैक्शन ५.(३३-३६), २, २, ३५ पृ० ३८६

२. जार्ज थीबू, वेदान्त सूत्र पार्ट १, अ०२ पा०२ सूत्र ३५, पृ० ४३३

की स्थिति नित्य होती है । शंकर कहते हैं कि यदि मोक्षावस्था में जीव परिमाण घटता-बढ़ता नहीं, नित्य ही रहता है तब इसे अपनी पूर्व अवस्थाओं में भी अर्थात् आदि और मध्य की अवस्था में भी वृद्धि एवं ह्रास से विहीन होकर नित्य ही होना चाहिए, क्योंकि पहले परिमाण को अनित्य मानने से अन्तिम परिमाण को भी अनित्य ही मानना होगा, नित्य नहीं । जीव अपनी प्रत्येक अवस्था में समान परिमाण वाला ही हो सकता है, इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की विशिष्टता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है । अत: पूर्वापर की स्वीकृति में विरोध होने के कारण आत्मा को प्रत्येक शरीर के समान परिमाण वाला मानना तर्कसंगत नहीं है, जीव को सदैव अणु या महान ही स्वीकार करना होगा[१] ।

(२)

एक बार पुन: जब हम अपने इस दृष्टिकोण को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करते हैं कि शंकराचार्य जी का अद्वैत दर्शन हमें भारतीय दर्शन के सम्पूर्ण सम्प्रदायों को व्यवस्थित करने का सुअवसर प्रदान करता है, तब हमारा अभिप्राय यह कहने का नहीं होता कि ये सब भारतीय दर्शन व्यवस्थाएं अपने स्वरूप में अद्वैतवादी हैं । स्पष्ट रूप से वे अद्वैतवादी हैं भी नहीं अन्यथा अधिकारपूर्वक तथा नियंत्रित रूप से अपनी युक्तियों द्वारा शंकराचार्य जी को इन दर्शनों की आलोचना करने की क्या आवश्यकता हो सकती थी । इस प्रसंग में हमारा अभिप्राय केवल यह सिद्ध करना है कि किसी भी पाश्चात्य दर्शन और शंकर के अद्वैत दर्शन में जो समानता है उसकी अपेक्षा इन भारतीय दर्शनों तथा शंकर के अद्वैत दर्शन में बहुत अधिक साम्य है । चूंकि शंकर की अद्वैतवादी विचारदृष्टि ही भारतीय दार्शनिक विचार-दृष्टि का बीजमंत्र है, इसलिए स्वीकृत व प्रकट भारतीय विचारदृष्टि तथा पाश्चात्य विचार-दृष्टि के बीच विभिन्नता को स्पष्ट करने के लिए उन्हें ही एक उचित माध्यम के रूप में अपनाया जा सकता है । यहां हम अपनी युक्तियाँ

---

१. जार्ज थीबु, वेदान्त सूत्र पार्ट १, अ०२ पा० २ सू ३५ पृ०४३४ ।

तथा सामर्थ्य का निरर्थक प्रयोग यह दिखाने के लिए नहीं करेंगे कि शंकराचार्य जी द्वारा कई दृष्टिकोणों से की गयी जैन दर्शन की आलोचना न्यायमुक्त तथा संगतपूर्ण है। यहां हमें इस बात पर महत्व देने की आवश्यकता है कि--क्या जैन दर्शन को चिन्तन की एक सन्देहवादी व्यवस्था के रूप में नहीं समझा गया है ? किन दृष्टिकोणों का परिवर्तन करके यथासंभव इसे अद्वैत दर्शन के समीप लाया जा सकता है ?

उपरोक्त प्रयोजन से हम इस बात का प्रतिपादन करेंगे कि जैन दर्शन सन्देहवादी दर्शन नहीं है।[1] उसकी दर्शन-व्यवस्था में ज्ञान का कोई नैराश्य नहीं है। जैन विचारक यह प्रतिपादित करते हैं कि अनेक रूपों में प्रतीत होने की सम्भावनाओं के साथ परिपूर्णता ही सत्ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन मतावलम्बियों के अनुसार एक ही वस्तु को जानने व देखने की अनेक दृष्टियां संभव हैं, परन्तु फिर भी सम्पूर्ण सत्य सब दृष्टियों के संश्लेषण में ही निहित है। प्रत्येक दृष्टि एक सम्यक् दृष्टि है, तथा प्रत्येक दृष्टि अपने में यह भी समाहित करती है कि उसके प्रतिपक्षी का भी अस्तित्व है; उसका प्रतिपक्ष असत्य नहीं है। अनेक दृष्टियों में से प्रत्येक सत्य को जानने का एक मार्ग है, परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि अन्य शेष मार्ग व दृष्टियां भी असत्य नहीं हैं। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, इसके इसी अनेकधर्मता से ही जैन विचारक यह निगमित करते हैं कि अनेकान्त दृष्टि ही वस्तु-सत्य को जानने का वह तरीका है, जिसमें व्यक्ति किसी एक दृष्टि द्वारा अपने विवक्षित धर्म का ज्ञान प्राप्त करके भी अन्य दृष्टियों से अन्य धर्मों के ज्ञान का निषेध नहीं कर सकता है।[2] यही अनेकान्त दृष्टि ही जैन विचारकों की नयदृष्टि या स्याद्वाद है।

१, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, स्टडीज इन फिलासफी, वाल्यूम १, पृ० ३४३ :
"His theory of indeterministic truth is not a form of scepticism. It represents, not doubt, but toleration of many modes of truth."

२, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् तथा चार्ल्स ए-मूर, ए सोर्सबुक इन इंडियन फिलासफी, पृ० २६१।

जैन दर्शन के अन्तर्गत ज्ञानमीमांसात्मक स्थिति पूर्णतया यथार्थवादी है,कि जिसमें सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तु का स्वरूप वस्तु विषय के स्वरूप के समान वस्तुगत हो जाता है। वस्तु-विषय अपने इस धर्म के कारण कि 'वह वस्तु है' भ्रामक नहीं है। भ्रम किसी भी वस्तु की वस्तुगत स्थिति के ज्ञान में नहीं निहित होता है,यह केवल इस प्रकार के एक मनोवैज्ञानिक विश्वास में निहित है कि एक विशिष्ट स्थिति में काल की दृष्टि से किसी भी वस्तु का व्यक्ति का किसी भी वस्तु को जानना इतना व्यापक है कि जानने की कोई अन्य स्थिति सम्भव हो नहीं है। परन्तु प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों है,क्योंकि कोई भी वस्तु-विषय जब अपने आप को एक अन्य दृष्टि में प्रस्तुत करता है,तब उसकी यह सम्भावना उसे किसी एक स्थिति में समाप्त नहीं करती है। अत: हम इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि जैन दर्शन के प्रति यह आक्षेप नहीं लगाया जा सकता है कि अपने सप्तभंगीनय सिद्धान्त को प्रस्तुत करने में जैन-दर्शन विरोध के नियम की उपेक्षा करता है। जब भी अस्ति-नास्ति को एकत्रित रूप में स्वीकार किया गया है तब उनकी स्थिति को क्रमानुसार स्वीकार किया गया है,अर्थात् एक के बाद दूसरे की स्थिति है,एक साथ अथवा युगपत रूप में नहीं। उनका सम्बन्ध क्रमार्पण है,सहार्पण नहीं है[1]। सप्तभंगीनय के चतुर्थभंग के रूप में वर्णित अवक्तव्य की धारणा ही हमें एक ऐसे सांकेतिक सूत्र के रूप में प्राप्त होती है,जिसके द्वारा जैन दर्शन को एक त्रुटिपूर्ण दर्शन के रूप में समझा जा सकता है। जब हम यह कहते हैं कि एक विशेष वस्तु-विषय 'अवक्तव्य' है, तब यह कहने का हमारा अभिप्राय यही होता है कि वह अनिर्वचनीय है। अवक्तव्य कहने का यह अर्थ नहीं होता कि इसका अनिर्वचनीय स्वरूप पक्ष व विपक्ष अर्थात् अस्ति व नास्ति का समन्वय है,और न तो यही कहा जा

---

१. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य,स्टडीज़ इन फिलासफी,वॉल्यूम-१,पृ० ३४१

"The determinate existent is,in the sense explained, being and negation as distinguishably together,together by what the Jaina calls Kramārpaṇa."

सकता है,कि यह अवक्तव्यता अस्ति व नास्ति इन दोनों की पूर्ण समष्टि है,क्योंकि जो कुछ भी पूर्ण समष्टि होगी,वह मौलिक नहीं होगी । यह भंग 'अवक्तव्य' व्युत्पन्न तथा अमौलिक नहीं है,जैन विचारकों के अनुसार इसका एक मौलिक स्तर है । इनके अवक्तव्य की यह धारणा अद्वैत-वेदान्त दर्शन के अनिर्वचनीयता की धारणा के समान है । यहां समस्या यह उत्पन्न होती है कि जैन दर्शन तथा अद्वैत दर्शन के अनिर्वचनीयता के दृष्टिकोणों में वस्तुतः समानता है अथवा समानता केवल आभासित होती है । हम यह सिद्ध करते हैं कि अनिवर्चनीयता सम्बन्धी जैन दृष्टिकोण अर्थात् जैन दार्शनिकों का अवक्तव्य अपने आपको किसी से नहीं बल्कि वस्तु-जगत में निहित सत्ताओं से सम्बन्धित करता है । उनके अनुसार एक वस्तु-विषय ही अवक्तव्य रूप में वर्णित है । इस प्रश्न के उत्तर में कि जैन विचारक किसी वस्तु को अवक्तव्य क्यों कहते हैं,यह कहा जा सकता है कि वस्तु अज्ञात है,इसलिए अवक्तव्य है । किसी भी अज्ञात वस्तु के अस्तित्व तथा अनस्तित्व के बारे में 'ऐसा है','वैसा है' इस प्रकार का कोई भी विकल्प नहीं किया जा सकता है । क्योंकि जो अज्ञात है उसके बारे में अस्ति-नास्ति कोई भी निर्णय विधेयित नहीं किये जा सकते हैं । परन्तु जैन विचारकों का अवक्तव्य तो एक भंग या नय के रूप में अपने आपको ज्ञान की स्थिति से ही सम्बन्धित रखता है । ज्ञान की स्थिति में ही एक वस्तु-विषय को अवक्तव्य स्वीकार किया जाता है । यहीं पर बाधा व विरोध है । वे ऐसे ही विचार-तथ्य हैं जिसमें अधिक तथ्य को प्राप्त करना है ।

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत रज्जु में सर्प का अध्यास ही वस्तुतः अनिवर्चनीय स्थिति का निरूपण करता है[१] । रज्जु सर्प नहीं है,और इसे सर्प के रूप में जाना भी नहीं जा सकता है । भ्रमात्मक स्थिति का अभ्यस्त सर्प 'है' और 'नहीं' दोनों ही है,क्योंकि यह स्थिति वास्तव में विलक्षण एवं विस्मयपूर्ण स्थिति है ।

---

१. दि पंचपादिका ऑफ़ पद्मपाद,गायकवाड्स ओरियन्टल सिरीज़ वॉल्यूम-१०७ पृ० ८, Superimposition (Adhyāsa) means the manifestation of the nature of something in another which is not of that nature. That (manifestation), it is reasonable to hold, is false (mithyā). The word 'mithyā' is of double signification--it is denotative of negation as well as of inexpressibility (anirvacanīyatā) "

यहां पर अनिवर्चनीयता ज्ञान के कारण नहीं वरन् अज्ञान के कारण है। जो कुछ ज्ञान नहीं है उसे ज्ञान के रूप में गृहण किया गया है और जो कुछ केवल विश्वास का विषय है वह ज्ञान से अलग नहीं है। जो सत् नहीं है उसे सत्ता के रूप में भ्रमित किया गया है। परन्तु रज्जु-सर्प के द्वारा वर्णित अद्वैत वेदान्त दर्शन की अनिवर्चनीयता केवल एक साम्यानुमान है। इस साम्यानुमान के दो पदों में एक तो (रज्जु) अतीन्द्रियात्मक या पारमार्थिक है तथा दूसरा (सर्प) व्यावहारिक या आनुभविक है। जगत अपने स्वरूप में व्यावहारिक है, ब्रह्म अतीन्द्रिय या पारमार्थिक है। अतीन्द्रिय अथवा परमार्थ ही सत्य है, किन्तु जगत या व्यवहार सत्य नहीं है, यह एक आभासमात्र है, या यों कहिए कि ब्रह्म पर जगत का आरोपण है, अध्यास है। इसलिए यदि हम कहते हैं कि यह सत्य है तब हमारा तात्पर्य यह होता है कि ब्रह्म से इसका तादात्म्य है। जगत व्यावहारिक स्वरूप का एक वस्तु-विषय है; यह चिन्तन या व्यवहार का विषय है किन्तु क्या ब्रह्म विचार का विषय है अथवा क्या यह चिन्तन का विषय हो सकता है। इसका उत्तर है नहीं, इसलिए एक व्यावहारिक स्थिति का ब्रह्म से तादात्म्य नहीं हो सकता है। अप्रतिबद्ध ब्रह्म अज्ञेय है, अज्ञेय का तात्पर्य है--जगत के रूप में अज्ञेय। सत्य के रूप में जगत की मान्यता ब्रह्म के साथ इसके तादात्म्य पर आधारित है, परन्तु यदि ब्रह्म अप्रतिबद्ध है, अज्ञेय है तब इसे चिन्तन के वस्तु-विषय के रूप में नहीं वर्णित किया जा सकता है। यह वस्तु विषय ही जगत कहलाता है।

जैन दर्शन के अनुसार जो जगत ज्ञान का विषय है, शंकर के अनुसार वही अज्ञान का विषय है। जो वस्तुतः ज्ञात है वह अप्रतिबद्ध है, परन्तु यहां 'ज्ञात' का तात्पर्य एक वस्तु-विषय के रूप में ज्ञात होना नहीं है। अप्रतिबद्ध ब्रह्म तो अज्ञेय है क्योंकि इसे विचार या चिन्तन की किसी भी कोटि के अन्तर्गत कोटिविमर्शित नहीं किया जा सकता है और इसीलिए यह अनिवर्चनीय है।

---

१. दि पंचपादिका आफ़ पद्मपाद, गायकवाड़्स ओरियन्टल सिरीज़ वाल्यूम-१०७, पृ० १०।

ब्रह्म अवेद्य[१] है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसमें अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता नहीं है अर्थात् जो अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता रखता हुआ अज्ञेय है, वही ज्ञान सत्य व अनन्त है, क्योंकि वह किसी अन्य के ज्ञान से न प्रकाशित होकर स्वयं-प्रकाशित है[२] । इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत पारमार्थिक रूप से ब्रह्म अकथनीय है क्योंकि यह स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है । इसका ज्ञान के विषय के रूप में वर्णन नहीं हो सकता है । तार्किक रूप से जगत अनिवर्चनीय है क्योंकि ब्रह्म की सत्ता से बाधित हो जाने के कारण और प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण यह सत् असत् से विलक्षण है । परन्तु जैन दार्शनिकों का 'अवक्तव्य' अनिवर्चनीय ज्ञान एवं साध्यस्वरूप ब्रह्म न होकर सत्य की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र रह जाता है तथा इनका अवक्तव्य शंकराचार्य जी की भांति सत्-असत् से विलक्षण भी नहीं है क्योंकि ये अपने अवक्तव्य को अस्ति-नास्ति से युक्त मानते हैं । अत: हम कह सकते हैं कि वस्तु-जगत का अवक्तव्य के रूप में वर्णन करते समय जैन दार्शनिक ज्ञान की स्थिति को त्रुटिपूर्ण बना देते हैं क्योंकि--(१) प्रथम तो जो ज्ञेय है आवश्यक रूप से वह वर्णनीय भी है तथा उसकी अभिव्यक्ति भी हो सकती है और (२) जो अनभिव्यक्त या अवर्णनीय है वह एक वस्तु-विषय के रूप में अज्ञेय है ।

कदाचित् जैन विचारक अनभिज्ञरूप से एक कोटि को मान्यता प्रदान करते हैं । अन्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अपनी दार्शनिक व्यवस्था में वे वेदान्त दर्शन की चिन्तन-प्रक्रिया की ही ओर विसर्पण करते हैं । उनकी यह

---

१. चित्सुखी, तत्त्वप्रदीपिका, उदासीन संस्कृत ग्रन्थमाला, पृ० १६
"स्वयंप्रकाश का लक्षण असंभव नहीं है; क्योंकि अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार-योग्यता ही उसका लक्षण है ।"

२. वही, पृ० ४५ ।

कोटि` अनिर्वचनीय` या` अवक्तव्य` की कोटि है। जैन विचारक जिस चिन्तन-स्तर को अपनाते हैं, यदि उसे थोड़ा ही और ऊंचा स्तर प्रदान करते तब उन्हें भी इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती कि कैवल्य को एक ऐसी अतीन्द्रिय स्थिति प्रदान की जाय जो चिन्तन से परे की स्थिति है। जैन के अनुसार कैवल्य मुक्ति के रूप में और मुक्ति मोक्ष के रूप में न तो `यह है` न तो `वह है` वरन् एक ऐसी मुक्ति है जो विशुद्ध रूप से वस्तुगत दृष्टिकोण में ही सम्भव है। जैन विचारक अपने दर्शन में अवक्तव्य को ज्ञान की एक कोटि प्रदान करते हैं[1], इसका श्रेय इन्हें अवश्य ही प्राप्त होना चाहिए, परन्तु तब भी ये दोषयुक्त हो रह जाते हैं, क्योंकि ये प्रारम्भ से अन्त तक यथार्थवादी तथा पूर्णरूप से वस्तुवादी विचारक ही रहते हैं। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों है? इसका प्रमुख कारण यह है कि जैन विचारकों ने श्रुति से स्वतंत्र होकर मोक्ष को प्राप्त करने का मार्ग अपनाया। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि ये श्रुति-विरोधी सिद्धान्त को अपनाते हैं तथा श्रुति को ज्ञान का प्रमाण नहीं स्वीकार करते। हम जानते हैं कि श्रुति को प्रमाण न मानने वाले सभी तत्व-दर्शन चिन्तनात्मक या वर्णनात्मक तत्व-दर्शन के रूप में ही रह जाते हैं। चिन्तनात्मक तत्व-दर्शन विचार व कल्पना की रचना है जबकि वर्णनात्मक तत्व-दर्शन पूर्णतया व्यावहारिक या आनुभविक रह जाता है। ये दोनों तत्वदर्शन कोई भी तत्व-दर्शन नहीं हैं, समकालीन पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शनों में तत्व-दर्शन के महान शत्रु-विचारकों ने इस तथ्य को पर्याप्त रूप से स्पष्ट किया है। जैन दर्शन भी श्रुति को मान्यता न देने के कारण आंशिक हो जाता है।

—

---

१. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, स्टडीज़ इन फ़िलासफ़ी, वॉल्यूम १, पृ० ३४१

"It is objective as given: it can not be said to be not a particular position nor to be non-existent. At the same time it is not the definite distinction of position and existence: it represents a catagory by itself."

अध्याय - ७

उपसंहार

किसी शोध-प्रबन्ध के सम्पूरण के लिए एक उपसंहार वांछनीय होता है। यद्यपि यह एक औपचारिकता मात्र ही प्रतीत होती है;किन्तु फिर भी इस औपचारिकता की पूर्ति के लिए हम इस शोध-प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय के रूप में एक उपसंहार प्रस्तुत करना अनावश्यक नहीं समझते हैं। अत: अपने शोध प्रबन्ध का समापन करते हुए हम निम्नलिखित अनुच्छेदकों को उपसंहार स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। इस अन्तिम अध्याय में हमारा कोई नवीन ' विवेच्य विषय' नहीं है प्रत्युत इसमें भी हम अपने पूर्व अध्यायों में विवेचित तथ्यों को ही स्पष्ट करेंगे। शोध-प्रबन्ध की भूमिका में व्यक्त विचार तथ्यों का ही निरूपण इस परिच्छेद में किया गया है,अत: यहां एक पृथक उपसंहार को प्रस्तुत करने में हमारी न्याय-औचित्यता केवल यही हो सकती है कि निबन्ध का निष्कर्ष हमारे विचार-दृष्टि के उस प्रमाणीकरण की विशिष्टता पर प्रकाश डाल सकता है जिसकी ओर निबन्ध के अन्य परिच्छेदों में निहित समस्त युक्तियां अभिमुख हैं।

प्राच्य एवं पाश्चात्य समस्त दर्शनों में द्वन्द्वन्याय के विभिन्न प्रकारों व दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त किया गया है;परन्तु इन समस्त दृष्टिकोणों व द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी विभिन्न अर्थों में जो ' सर्वाधिक सामान्य तथ्य' गृहीत हो सकता है,उसके समर्थन में केवल यह कहा जा सकता है कि द्वन्द्वन्याय दार्शनिक तर्क-वितर्क के लिए सदैव एक प्रमाण से युक्त होता है। इस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि वह प्रमाण किस प्रकार का है और किस प्रकार की स्थिति में उसका उद्गम है ? उत्तर स्वरूप यह कहा जा सकता है कि वह एक ऐसी ' युक्ति ' है जो एक मिथ्यापूर्ण एवं भ्रमात्मक स्थिति के स्वरूप को उपलक्षित करने के लिए अभिप्रेरित होती है,क्योंकि भ्रमास्पद होने के कारण वह स्थिति हमारे लिए त्याज्य होती है। चूंकि एक युक्ति के लिए स्थिति-निर्देशन अनिवार्य होता है इसलिए यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि द्वन्द्वन्याय एक ' तर्कणा ' है अथवा एक तर्कप्रधान बौद्धिक प्रक्रिया है। यदि हमारे समक्ष कोई निषेधात्मक अभिप्राय

न होता और यदि हमें यह लक्षित करना न होता कि एक विशिष्ट प्रकार का विवाद अवांछनीय है अथवा एक विशिष्ट स्थिति भ्रमास्पद एवं मिथ्यापूर्ण है तो द्वन्द्वन्याय की कोई आवश्यकता न होती । एक तर्कशैली के रूप में द्वन्द्व-न्याय का सम्बन्ध ख्याति अथवा भ्रम की संशुद्धि से होता है । एक भ्रमास्पद परिस्थिति तथा एक भ्रमास्पद कथन के मिथ्यात्व का रहस्य ज्ञात हो जाने पर उनके निषेध या संशुद्धि की अपरिहार्य रूप से मांग होती है । परन्तु यह निषेध या तो केवल आनुभविक स्तर की विषय सामग्री से अर्थात् हमारे अनुभव के उस वस्तुगत स्तर से सम्बन्धित होता ही सकता है जिसका सम्बन्ध प्रत्यक्षीकरण द्वारा उपलब्ध सत्यापन से है अथवा यह किसी तत्वदार्शनिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित हो सकता है । एक तात्त्विक स्थिति में विषय आनुभविक रूप से सत्यापित नहीं हो सकता है क्योंकि तात्त्विक स्तर का विषय इन्द्रिय ज्ञान से परे है जिसे कान्ट ने सामान्य वस्तु-विषय कहा है और उनके अनुसार इस सामान्य विषय के अनेक रूप निर्धारित किये जा सकते हैं । हमें दृष्टिगत होता है कि चाहे वह बर्सां की 'विशुद्ध अवधि' हो या एलैक्जेंडर का 'देश-कालिक ढांचा' हो अथवा रामानुज व माध्वाचार्य का ईश्वर हो या जैन व वैशेषिक विचारकों का परमाणु तथा सांख्य विचारकों का प्रकृति-पुरुष हो, हमने सर्वत्र एक ऐसे सूक्ष्म विषय को ही महत्व दिया है, जो प्रत्यक्षानुभव की विषय-सामग्री नहीं है । एक इन्द्रियगम्य आनुभविक स्तर पर प्रस्तावित भ्रम-निवारण के लिए किसी द्वन्द्वन्याय की आवश्यकता नहीं होती है । इस स्तर पर भ्रम का परिष्कार एक दूसरे प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हो जाता है, इसलिए यहां भ्रम-निवारण एक प्रागनुभवी विधि द्वारा नहीं किया जाता है । भ्रम-सम्बन्धी आनुभविक स्थिति में सर्प के स्थान पर रज्जु को देखना किसी प्रागनुभवी तर्क द्वारा प्रेरित नहीं है ; इस प्रकार के चुनाव का कारण पूर्णरूपेण व्यावहारिक है । सर्प के स्थान पर रज्जु के चयन के लिए हमारे पास कोई भी प्रागनुभवी प्रमाण नहीं है, इसके लिए केवल विशुद्ध व्यावहारिक तर्क ही है, जो किसी भी अर्थ में अनिवार्य नहीं होते हैं । इन परिस्थितियों के अन्तर्गत या तो हमें सत्ता या भ्रम के भेद का परित्याग करना होगा या उन दोनों में भेद करने के लिए एक अनिवार्य कसौटी की खोज करनी होगी । इस अनिवार्य कसौटी की खोज ही तत्वदार्शनिक-चिन्तन है । अतः तत्वदर्शन की उत्पत्ति भ्रम के उस आनुभविक दृष्टिकोण की अस्वीकृति

में ही होती है जिसे हम अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम तथ्यों के आनुभविक जगत से आत्म-अवस्थित विषयों के तत्व-दार्शनिक जगत की ओर संक्रमण करते हैं और इस संक्रमण को औचित्यता प्रदान करने के लिए एक साधन के रूप में प्रयुक्त 'तर्कणा की प्रक्रिया' ही द्वन्द्वन्याय कहलाती है। अतः इस सम्बन्ध में द्वन्द्वन्याय को एक ऐसे साधन के रूप में ग्रहण किया जाता है जो सत्ता के एक आनुभविक दृष्टिकोण के विरुद्ध सत्ता के एक तत्व-दार्शनिक दृष्टिकोण को औचित्यता प्रदान करता है। परन्तु एक ही तत्वदार्शनिक सिद्धान्त नहीं है, इसलिए द्वन्द्वन्याय इन दो अतिरिक्त प्रयोजनों के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है -- (१) एक तत्वदार्शनिक दृष्टिकोण को एक दूसरे तत्व-दार्शनिक दृष्टिकोण के विरुद्ध औचित्यपूर्ण एवं तर्कसंगत सिद्ध करने के लिए तथा (२) सम्पूर्ण तत्व-दार्शनिक दृष्टिकोणों के आत्म-असिद्ध स्वरूप को दिखा कर उनका प्रत्याख्यान करने के लिए। ऐसा विदित होता है कि उपरोक्त कथित कार्य ही द्वन्द्वन्याय का उचित कार्य है। यही विशुद्ध द्वन्द्वन्याय है। चूंकि इसका प्रस्तावक निषेध है, इसलिए यह विशुद्ध द्वन्द्वन्याय अपने स्वरूप में निषेधात्मक है। माध्यमिक दार्शनिक युक्तियों में भी इसी प्रकार का द्वन्द्वन्याय प्राप्त होता है। इन दार्शनिकों के अनुसार यह अनुचिन्तनात्मक चेतना के स्वीकृत लक्ष्य के रूप में 'विशुद्ध आलोचना' का सहविस्तारी है। हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध-दर्शन में द्वन्द्वन्याय का कार्य उत्कृष्ट रूप से विचार द्वारा व्यक्त तथ्यों की निरर्थकता एवं निःसारता को सिद्ध करना है अर्थात् इसका प्रकट लक्ष्य तत्वदार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टिशून्यता को दिखाना है।[१]

---

१. श्री एस०एस० राय, 'वेदान्त एण्ड बुद्धिज़्म' फिलासफ़ी सेक्शन, यूनिवर्सिटी ऑफ़ इलाहाबाद स्टडीज़, १९५७, पृ० २२-२३

" ...dialectic among the Mādhyamikas is Coextensive with p[...] criticism as the avoued aim of reflective consciousness... But considered in the deeper aspect of its function in Budhism, as a whole, the dialecticis pre-eminently occupied with the demonstration of the hollowness or even the no-content nature of what thought intends."

कान्ट के दर्शन के एक निरीक्षणात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछ सीमा तक इनकी 'आलोचना' 'शुद्ध द्वन्द्वन्याय' होने का आभास देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी इसका प्रयोग निषेधात्मक प्रयोजन के लिए करते हैं, अर्थात् यह प्रदर्शित करने के लिए करते हैं कि अप्रतिबद्ध ज्ञेय नहीं है और इसे जानने व समझने के लिए वैज्ञानिक रूप से कोई भी सिद्धान्त प्राप्त नहीं होता है। इसका अर्थ है कि कान्ट के दर्शन में द्वन्द्वन्याय, सत्ता-सम्बन्धी सिद्धान्तों की अन्तिम संतुष्टि की खोज करने के लिए भावी अग्रदर्शी दार्शनिकों को रोक देता है, क्योंकि यह अन्तिम सन्तुष्टि केवल सत्ता के ज्ञेय होने पर ही प्राप्त हो सकती है। आनुभविक, अनुभवातीत तथा अतिअनुभवातीत, इन तीन प्रकार के स्तरों का कान्ट प्रतिपादन करते हैं। कान्ट के इस स्तर-भेद का प्रमुख अभिप्राय केवल तर्कबुद्धि के क्षेत्र से परे अति-अनुभवातीत स्तर की स्थापना करना है तथा ज्ञान के क्षेत्र से परे अतिअनुभवातीत सत्ता को अर्थ प्रदान करना है। यद्यपि ऐसा मालूम होता है कि कान्ट के दर्शन में द्वन्द्वन्याय को केवल आलोचना के लिए अपनाया गया है, किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि उनके दर्शन में इसका स्पष्ट लक्ष्य नैतिक, धार्मिक, तथा सौन्दर्यात्मक अनुभूतियों को इस प्रकार उन्मुक्त करना है कि वे 'नि:श्रेयस' की प्रदाता बन सकें।

कान्ट की यही विचार-दृष्टि हमें द्वन्द्वन्याय पर एक पुनर्विचार करने का संकेत देती है। प्रश्न यह है कि क्या इसका विचार, तर्कणा के एक प्रकार के रूप में होना चाहिए, जो केवल आलोचना तक ही सीमित है ? कुछ विचारकों के अनुसार तो द्वन्द्वन्याय का लक्ष्य विचार की अपर्याप्तता को ही दिखाना है। माध्यमिक दर्शन भी इसी तथ्य का समर्थन करता है कि कोई भी तत्वदार्शनिक सिद्धान्त विश्व की सन्तोषजनक व्याख्या करने में अपर्याप्त एवं असमर्थ है। बौद्ध विचारक विचार-कोटियों तथा आभासों के आत्म-विनष्ट स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए ही द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करते हैं।

ही द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करते हैं[१]। किन्तु यह तो द्वन्द्वन्याय की सीमा को अत्यन्त संकुचित रूप में स्वीकार करने के समान है। ऐसा मालूम होता है कि माध्यमिक दार्शनिक दृष्टिशून्यता की बात सोचते हैं और इनके विचारानुसार सम्पूर्ण दृष्टियों से मन को रिक्त करना, चेतना व अस्तित्व की सर्वोच्च अवस्था अर्थात् निर्वाण के लिए मार्ग प्रशस्त करना है। अत: अपने अन्तिम लक्ष्य में द्वन्द्वन्याय को 'विमुक्त' होने तथा 'स्वतंत्र' होने के अर्थ में समझा जाता है। ठीक ऐसी ही धारणा हीगल के दर्शन में भी प्राप्त होती है। तर्क-बुद्धि प्रज्ञा एक त्रिमुखी गति द्वारा उस अन्तिम अवस्था का अतिक्रमण कर जाती है जिसमें समस्त विरोधों का समाधान हो जाता है और जो हीगल का 'परम' कहलाती है। यह 'परम' पूर्णतया तर्कप्रधान या बौद्धिक है। तर्क-बुद्धि स्वयं व्याघातों की खोज निकालती है तथा उनका परिहार भी कर देती है और इसके साथ-साथ स्वयं ही सत्ता बन जाती है। हीगल के विचारानुसार व इसी सत्ता में समस्त व्याघातों का शमन हो जाता है अर्थात् समन्वय हो जाता है।

द्वन्द्वन्याय के रूप में स्वीकृत तर्कबुद्धि-प्रज्ञा की सर्वोच्चता हीगल एवं माध्यमिक दोनों दर्शनों में बहुत अच्छी तरह घोषित है। चाहे माध्यमिकों के दर्शन में द्वन्द्वन्याय द्वारा विरोधों का अतिक्रमण करके, चाहे हीगल के दर्शन में विरोधों का समन्वय करके, तर्कबुद्धि प्रज्ञा को सर्वोच्च आधार पर ही स्थापित किया गया है। यह पूर्णतया एक भिन्न बात है कि माध्यमिकों का द्वन्द्वन्याय परम (तत्त्व) को निरपेक्ष निषेध अथवा सर्वदृष्टिशून्यता द्वारा दिखाता है,

---

१. श्री एस०एस० राय, वेदान्त एण्ड बुद्धिज़्म फ़िलासफ़ी सेक्शन, यूनिवर्सिटी ऑफ़ इलाहाबाद स्टडीज़, १९६७, पृ० २४

*In an unexceptional manner the dialectic in Buddhist Absolutism is unreflexive in its function; it looks one way only. It seeks only to indicate the self-dissipating nature of the appearances and the categories of thought."

जबकि हीगल उसी अभीष्ट को, निम्नकोटियों के विरोधों का उच्चकोटियों में और सम्पूर्ण कोटियों का सर्वांच्च सत्ता ` परम ` में समाधान करके, प्राप्य बतलाते हैं ।

इससे यह अनुगमित होता है कि हीगल के दर्शन में भावात्मक रूप से द्वन्द्वन्याय ही आदि, मध्य व अन्त अर्थात् सब कुछ है । माध्यमिक दर्शन में भी द्वन्द्वन्याय ही सब कुछ है; यद्यपि माध्यमिक विचारक निषेधात्मक विधि से ऐसा सिद्ध करते हैं यानी एक ऐसी स्थिति द्वारा सिद्ध करते हैं, जिसमें मानव-मस्तिष्क सम्पूर्ण भावों से वंचित हो जाता है और सब दृष्टियों से मुक्त हो जाता है । इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि दोनों ही दर्शन द्वन्द्वन्याय के लिए प्रतिपालात्मक क्षमता के एक प्रकार को स्वीकार करते हैं । यही क्षमता ही अभीप्सित परिस्थितियों की उत्पादक है ।

हमारे विचारानुसार द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी इन दृष्टिकोणों को भ्रान्त रूप में समझा गया है । तर्क-प्रक्रिया के रूप में स्वीकृत द्वन्द्वन्याय रचनात्मक स्थिति में एक साधन मात्र है जो सहायक क्रिया से युक्त होता है । यह अपने आप में अप्रतिष्ठित है । यह दृष्टिकोण वेदान्त का है, विशेष रूप से अद्वैत-वेदान्त इसका अनुपादन करता है, इसके अनुसार द्वन्द्वन्याय दृष्टि या दर्शन के सैद्धान्तिक विस्तार में एक अनिवार्य सोपान है जिसकी वाचिक अभिव्यक्ति श्रुति में होती है । श्रुति समस्त प्रपंच व नानात्व को समाप्त करके अद्वैत तत्त्व को व्यक्त करने के लिए तर्क को सहायक साधन बनाती है अत: तर्क केवल श्रुति का सहायक होता है, वह परम की व्याख्या नहीं कर सकता है । हीगलवादी तथा माध्यमिक दर्शनों के विरुद्ध वेदान्त विचारक आग्रहपूर्वक इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि तर्क में उस स्थिति को उत्पन्न करने की कोई क्षमता नहीं है जिससे ` परम ` (ब्रह्म) का ज्ञान अनुगमित हो सकता है । अत: इस सन्दर्भ में हम कान्ट के द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं, जो स्पष्ट रूप से तर्क की किसी ऐसी शक्ति को अस्वीकार करते हैं, जिसके द्वारा सत्ता का ज्ञान हो सके । तर्क के विरुद्ध अपने दृढ़ सन्देह के कारण

ही कान्ट ज्ञान-क्षेत्र और नैतिकता के क्षेत्र में भेद करते हैं । नैतिकता की सर्वश्रेष्ठता को दिखाने के लिए ही कान्ट ज्ञान का अपकर्षण करते हैं तथा ज्ञान के इसी निम्न स्तर को दिखाने के लिए ही वह द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करते हैं । इस शोध प्रबन्ध के प्रमुख भागों में हमने सर्वत्र यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि द्वन्द्वन्याय की अपनी कोई स्वतंत्र स्थिति व प्रतिष्ठा नहीं है । यह एक ऐसी तर्कणा या युक्ति है जो आलोचनात्मक तथा रचनात्मक किसी भी पहलू में स्वतंत्र रूप से कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकती है । एक दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में गुडपाद अद्वैत दर्शन अन्य दर्शनों की अपेक्षा द्वन्द्वन्याय अथवा तर्क के कार्य व स्थान को अधिक स्पष्ट रूप से दर्शाता है । परन्तु संकेत शब्द के रूप में यहां आवश्यक रूप से यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारी दर्शन-दिशा तर्क से `परम' की ओर नहीं अपितु `परम' से `तर्क' की ओर है । अत: द्वन्द्वन्याय हमें `परम' का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकता है ,जैसा कि हीगल द्वारा समर्थित है और न तो तर्क द्वारा उस स्थिति का ही अनुगमन किया जा सकता है जो परम की अनुभूति का प्रेरक होती है,जैसा कि माध्यमिकों की सर्वदृष्टिशून्यता द्वारा सम्भव है । परम की ओर तर्क की प्रगति एक अनन्त प्रगति है ,इसलिए द्वन्द्वन्याय का एक औचित्यपूर्ण कार्य `तर्क' नहीं है । वेदान्त के अनुसार दर्शन एक बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है,यह एक अनुचिन्तनात्मक अनुभुति है । ब्रह्मनिष्ठ जीव इस तर्कातीत अवस्था का अनुभव अस्तित्व की उस स्थिति के रूप में करता है जो सम्पूर्ण नानात्व व भेदों से मुक्त है । इसी को `मोक्ष' या `ब्रह्मभाव' के रूप में वर्णित किया गया है । अद्वैत वेदान्त में तर्क का कार्य यह प्रदर्शित करना है कि इस ब्रह्म स्थिति में सम्पूर्ण भेद निराकृत हो जाते हैं,जीव व जगत का नानात्व यानी किसी प्रकार का भी नानात्व केवल भेद-दृष्टि में ही आधारित होता है । द्वन्द्वन्याय न तो अभेद दृष्टि को उत्पन्न करता है और न तो उत्पन्न कर ही सकता है,यह केवल इस बात का संकेत मात्र कर सकता है कि हमारी अभेद-दृष्टि/(भेद दृष्टि) के समस्त प्रपंच व

विरोधों से मुक्त[1] है । तत्पश्चात् यह भेद-दृष्टि के समर्थकों को यह दिखाता है कि भेद-दृष्टि केवल विरोधों व संघर्षों तथा आनन्दाभाव की ओर ही हमारा नेतृत्व करती है । शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय एक तर्कशैली के रूप में यह व्याख्या करने के लिए प्रतिष्ठित होता है कि ज्ञान ही परम सत्ता यानी 'ब्रह्म' है और 'सच्चिदानन्द' ही हमारा 'परम' है, 'ब्रह्म' है । परन्तु इसके व्याख्या करने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह इस अवस्था को उत्पन्न कर सकता है । जिसका निषेध करना है,वह अविद्या है और जो भेद-दृष्टि है । इस प्रकार द्वन्द्वन्याय भेद-दृष्टि का निषेध है । परन्तु जहां तक भेद-दृष्टि स्वयं असत् है,वहां निषेध का निषेध अभिप्रेत होता है ।

सत्य की स्थिति एक उच्च स्थिति है । डा० चन्द्रधर शर्मा का कहना है कि द्वन्द्वन्याय का अन्तिम लक्ष्य विरोधों का समाधान करना होता है और हमें यह परिलक्षित कराना होता है कि जिस दृष्टि में समस्त विरोधों का शमन हो जाता है वह तार्किक क्षेत्र से परे की दृष्टि है और विचार के विमर्शात्मक-बोध से परे की दृष्टि है[2] । इस दृष्टि में सम्पूर्ण तर्क समाप्त हो जाते हैं ,इसलिए समस्त द्वन्द्वन्याय भी यहां मुक्त हो जाते हैं । किन्तु विद्युत को उत्पन्न करने के लिए मेघों में सन्निहित अन्त:शक्ति की भांति हमारी दृष्टि-चेतना भी अपने

---

१. श्री एस०एस० राय,वेदान्त एण्ड बुद्धिज्म,फिलासफी सैक्शन,युनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीज,१९४७,पृ० २४

"In the Advait it stands for the cancellation of the bhedadrsti - a cancellation which, working in collaboration with Revelation, is to be understood as co-extensive with the Brahman itself. For all one knows about the Advait, the Brahman itself,-Tov-all-e should be understood as the support of a phenomenality that stands so long only as the differentiating outlook lasts. And the differentiating outlook being only the support of the false, the dialectic which demonstrates the falsity of the many, is merely a dynamic pursuit engaged in the cure of a distempered outlook."

२. डा० चन्द्रधर शर्मा,दि रैन ऑफ डाइलैक्टिक इन फिलासफी--इण्डियन एण्ड वैस्टर्न,(ए थीसिस सबमिटेड टू दि युनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद,फॉर दि डिग्री ऑफ डॉक्टर ऑफ लैटर्स) पृ० ४५१ व ४५३ ।

आप 'तर्कणा' के साँचे में अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त होती है। तर्कणा का यह साँचा दृष्टि-चेतना के दो प्रकार के स्वरूपों को दर्शाता है-- (१) मण्डनात्मक (२) खण्डनात्मक। मण्डनात्मक स्वरूप में यह हमारी दृष्टि को कुस्वप्न में समाप्त होने से बचाता है और अपने खण्डनात्मक स्वरूप में यह उन समस्त सम्भव विधियों व दृष्टियों के विरुद्ध प्रतिवाद करता है जिसके अन्तर्गत हमारी चेतना बाह्य परिस्थितियों के द्वारा अनेक कुस्वप्नों व मिथ्या-भासों को अपना लक्ष्य समझ कर भ्रमित हो सकती है और हमारी यह भ्रमित चेतना असत् तत्त्वदार्शनिक सिद्धान्तों का आकार ग्रहण कर लेती है और सत्ता के उस अपरोक्षानुभूति में अपना कोई भी आधार नहीं रखती जिसे आत्मा, ईश्वर इत्यादि का नाम दिया गया है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

अर्डमान, जे०ई०	-- हिस्ट्री ऑफ़ फ़िलासफ़ी, भाग २
अमेसन, जे०आर०	-- फ़िलासॉफ़िकल एनालिसिस, १९५६
अरविन्दो, श्री	-- दि लाइफ़ डिवाइन
आत्मानन्द (स्वामी)	-- शंकर्स टीचिंग इन हिज़ ओन वर्ड्स (भवन्स बुक युनिवर्सिटी)
इविंग, ए०सी०	-- ए शॉर्ट कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न
उपाध्याय, गंगाप्रसाद	-- अद्वैतवाद (कला प्रेस, प्रयाग)
उपाध्याय, बलदेव	-- भारतीय दर्शन श्री शंकराचार्य
उपाध्याय, भरत सिंह	-- बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १ और २
एबट, टी०के०	-- कान्ट्स थ्योरी ऑफ़ एथिक्स
एमरसन	-- क्लासिक्स ऑफ़ एनेलैटिक फ़िलासफ़ी
ए ल्बर्ट, एयेल्स, डेनिस और पीटरफ़्राइंड	-- ग्रेट ट्रेडिशन्स इन एथिक्स
एयर, ए०जे०	-- लैंग्वेज, ट्रूथ एण्ड लॉजिक
क्वाइन, डब्ल्यू०वी०ओ०	-- फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट ऑफ़ व्यू
कॉनर, डी०जे०ओ०	-- ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ वेस्टर्न फ़िलासफ़ी
कॉरनर, एस०	-- कान्ट (पैलिकन)
कार्तिकर, वी०जे०	-- स्टडीज़ इन वेदान्त
केयर्ड, एडवर्ड	-- ए क्रिटिकल एकाउण्ट ऑफ़ दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट
केरिरर, एच०डब्ल्यू०	-- कान्ट्स फ़र्स्ट क्रिटीक् ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट
कौल, आर०एन०	-- इम्मॉर्टलिटी, रीज़न एण्ड एग्ज़िस्टेन्स
गैरोला, वाचस्पति	-- भारतीय दर्शन
गोयन्दका, हरिकृष्ण	-- श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित)
गौड़पादीयकारिका	-- शांकरभाष्य, माण्डूक्योपनिषद् (हिन्दी अनुवाद सहित- गीताप्रेस, गोरखपुर)
घाटे, वी०एस०	-- दि वेदान्त (भण्डारकर, ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, पूना)

चक्व, जे०एन०	-- फिलासॉफिकल आरगुमैन्ट एण्ड डिसएग्रीमैन्ट (प्रैसिडैन्शियल ऐड्रेस--इण्डियन फिलासॉफिकल कांग्रेस, फारटियैथ सैशन, युनिवर्सिटी ऑफ जोधपुर, दिसम्बर, १९६६ ।
चटर्जी, ए०के०	-- दि योगाचार आइडियलिज़्म
चटोपाध्याय, सतीशचन्द्र और दत्ता, धीरेन्द्रमोहन	-- भारतीय दर्शन
चित्सुख	-- तत्त्वप्रदीपिका (उदासीन संस्कृत विद्यालय ग्रन्थमाला)
चतुर्वेदी, ब्रजमोहन	-- सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्णविरचिता सांख्यकारिका की विस्तृत भूमिका एवं भाषानुवाद सहित, ' अनुराधा ' हिन्दी-संस्कृत विशद व्याख्या)
जोकिम, एच०एच०	-- लॉजिकल स्टडीज़ -- दि नैचर ऑफ ट्रुथ
झा, गंगानाथ	-- शांकर वेदान्त
ड्रॉयर, डी०पी०	-- कान्ट्स सॉल्यूशन फॉर वैरिफिकेशन इन मैटाफिज़िक्स
थीबो, जार्ज	-- वेदान्त सूत्र, पार्ट १ और २
दत्ता, धीरेन्द्रमोहन	-- दि चीफ करेन्ट्स ऑफ कॉन्टेम्पोरेरी फिलासफी
दास, रासविहारी	-- ए हैण्डबुक टू कान्ट्स क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न
दास, एस०के०	-- ए हिस्ट्री ऑफ वेदान्त
दासगुप्ता, सुरेन्द्रनाथ	-- इण्डियन फिलासफी, वॉल्यूम १ और २
देवराज, एन०के०	-- ऐन इन्ट्रोडक्शन टू शंकर्स थ्योरी ऑफ नॉलेज
नागराजराव, पी०	-- इन्ट्रोडक्शन टू वेदान्त
निखिलानन्द (स्वामी)	-- वेदान्त सार ऑफ सदानन्द
निश्चलदास	-- श्री विचार सागर
,,	-- श्री वृत्तिप्रभाकर (संशोधक एवं अनुवादक स्वामी आत्मानन्द मुनि)
पद्मपाद	-- पंचपादिका (गायकवाड्स ओरियन्टल सिरीज़ वॉल्यूम-१० अंग्रेज़ी अनुवादक--डी०, वेंकटरमइया)
प्रकाशानन्द	-- वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली (अच्युत)

पॉटर,का०एच० -- प्रीसपोज़ीशन ऑफ़ इण्डियाज़ फ़िलासफ़ी
पासमोर,जॉन -- ए हण्ड्रेड इयर्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी
प्रिंगिल पैटिसन,ए०एस० -- दि आइडिया ऑफ़ गॉड
प्रिचर्ड -- कान्ट्स थ्योरी ऑफ़ नॉलेज
पैटन,एच०जे० -- दि कैटेगॉरिकल इम्पैरेटिव
फ्लिन्ट,राबर्ट --थीइज़्म
फ़ॉ लेनबर्ग,रिचार्ड --दि हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न फ़िलासफ़ी
-- कान्ट्स मैटाफ़िज़िक्स ऑफ एक्सपीरियंस ,वॉल्यूम १,२
फ़िन्डले,जे०एन० -- हीगल--ए रीइक्ज़ामिनेशन
फ़्रेज़र,ए०सी० -- सैलेक्शन्स फ़्रॉम बर्कले
बुवायेल,एन्ड्रू -- स्पिनोज़ाज़ एथिक्स
बर्नार्ड -- कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट (ट्रांसलेशन)
बेक,लैविस व्हाइट -- इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न
बेल्वल्कर,एस०के० -- दि ब्रह्मसूत्र ऑफ़ बादरायण (विद दि कमेंट ऑफ़ शंकराचार्य,चैप्टर II,क्वार्टर्स १-२,पूर्व एडीशन
बैंडा,जुलियन -- कान्ट (कैसेल एण्ड कम्पनी लिमिटेड)
ब्रैडले,एफ़०एच० -- एपियरेंस एण्ड रियलिटी
,, -- एस्सेज़ ऑन ट्रुथ एण्ड रियलिटी
-- कलेक्टेड एस्सेज़ वॉल्यूम १,२
बोसांके,बी० -- दि हिस्ट्री ऑफ़ इस्थेटिक्स,१९३४
-- दी मीटिंग ऑफ़ एक्सट्रीम्स इन कन्टैम्पोरैरी फ़िलासफ़ी ।
भट्टाचार्य,कालिदास -- ऑल्टरनैटिव स्टैण्डप्वाइन्ट्स इन फ़िलासफ़ी
भट्टाचार्य,के०सी० -- स्टडीज़ इन फ़िलासफ़ी वॉल्यूम १,२
भट्टाचार्य,हरिदास -- दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इण्डिया,वॉल्यूम III, रामकृष्ण मिशन
भट्टाचार्य,हरिमोहन -- दि प्रिन्सिपल्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी
भट्टाचार्य,वी० -- दि आगमशास्त्र ऑफ़ गौड़पाद
भोलेबाबा,यतिवर श्री -- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य,रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित भाग १ और २ ।

म्यूर, जी०आर०जी० -- ए स्टडी ऑफ़ हीगल्स लॉजिक
म्यारहेड, जॉन एच० -- दि प्लैटानिक ट्रेडीशन इन ऐंग्लोसैक्सन फ़िलासफ़ी
मलकानी, जी०आर० -- मैटाफ़िजिक्स ऑफ़ अद्वैत/वेदान्त अद्वैतिक एपिस्टेमोलॉजी
महफ़ी, जे०पी० और बर्नार्ड-
जे०एच० -- कान्ट्स क्रिटिकल फ़िलासफ़ी वॉल्यूम-।।
-- कान्ट्स प्रौलिगोमिनाटूएनी फ़्यूचर मैटाफ़िज़िक
मुकर्जी, ए०सी० -- नेचर ऑफ़ सैल्फ़
-- सैल्फ़ थॉट एण्ड रियलिटी
मूर्ति, टी०आर०वी० -- दि सैन्ट्रल फ़िलासफ़ी ऑफ़ बुद्धिज़्म
-- दि रैशनल बेसिस ऑफ़ अद्वैतिज़्म (फ़िलासॉफ़िकल क्वार्टर्ली, वॉल्यूम-१६, १६४३)
मैट्स, आर० -- ए हण्ड्रेड ईयर्स ऑफ़ ब्रिटिश फ़िलासफ़ी
मेरेडिथ, जेम्स क्रीड -- कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ जजमेन्ट
मैक्टागर्ट, जॉन -- स्टडीज़ इन हीगेलियन डाइलेक्टिक
मैक्समुलर -- दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी
,, -- कान्ट्स क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न (ट्रांसलेशन)
रसैल, बी० -- दि प्रॉबलम्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी
,, -- ऑवर नॉलेज ऑफ़ दि एक्सटर्नल वर्ल्ड
राइल, गिलबर्ट -- दि कॉन्सेप्ट ऑफ़ माइन्ड
राजु, पी०टी० -- दि आइडियलिस्टिक थॉट ऑफ़ इण्डिया
राधाकृष्णन्, एस० -- इण्डियन फ़िलासफ़ी वा०० १,२
,, -- भारतीय दर्शन, भाग १,२
(भारतीय दर्शन का विश्वविख्यात अध्ययन, हिन्दी अनुवाद, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली ।)
-- दि ब्रह्मसूत्र
-- हिस्ट्री ऑफ़ फ़िलासफ़ी, ईस्टर्न एण्ड वैस्टर्न, वॉल्यूम-२
-- ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ़ लाइफ़
राधाकृष्णन्, एस० और मूर, चार्ल्स --ए सोर्सबुक ऑफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी

रानाडे,आर०डी० -- ए कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ़ उपनिषदिक फ़िलासफ़ी
,, -- परमार्थ सोपान
रॉबिन्सन,डी०एस० -- ऐन एनथोलॉजी ऑफ़ मॉडर्न फ़िलासफ़ी
राय,एस०एस० -- दि हैरिटेज ऑफ़ शंकर
-- टूवर्ड्स ऐन इनक्वायरी कन्सर्निंग दि डिफ़िनिशन
-- ऑफ़ इण्डियन कल्चर (यूनिवर्सिटी ऑफ़ एलाहाबाद स्टडीज़,१९६८,फ़िलासफ़ी सेक्शन)
रोजर्स,आर०ए०पी० -- ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ एथिक्स
लाइबनित्स -- चिद्बिन्दु विधा (हिन्दी रूपान्तर,हिन्दी समिति, सूचना विभाग,उत्तर प्रदेश)
लेयरबुड -- दि ट्रान्सेन्डेन्टल मैथड इन्क्लूडेड इन दि हैरिटेज ऑफ कान्ट
बृहदारण्यकोपनिषद् -- (सानुवाद शांकरभाष्य सहित,गीताप्रेस,गोरखपुर)
वाट्सन,जॉन -- दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड
-- दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट (एक्सट्रैक्ट्स)
वाल्स,डबल्यू०एच० -- रीज़न एण्ड एक्सपीरियन्स (ऑक्सफ़ोर्ड १९४७)
विग्रहव्यावर्तनी -- (नवनालन्द महाविहार,रिसर्च पब्लिकेशन)
वैब,क्लीमैंट,सी०जे० -- कान्ट्स फ़िलासफ़ी ऑफ़ रैलिजन
वैलेस -- दि लॉजिक ऑफ़ हीगल
शर्मा,चन्द्रधर -- इण्डियन फ़िलासफ़ी ए क्रिटिकल सर्वे
,, -- बौद्ध दर्शन और वेदान्त (प्रयाग विश्वविद्यालय डी०फ़िल् की उपाधि के लिए स्वीकृत थीसिस,मूल लेखककृत हिन्दी-रूपान्तर)
-- दि रैन ऑफ़ डाइलैक्टिक इन फ़िलासफ़ी-इण्डियन एण्ड वैस्टर्न--(ए थीसिस सबमिटेड टु दि यूनिवर्सिटी ऑफ़ एलाहाबाद फ़ॉर दि डिग्री ऑफ़ डॉक्टर ऑफ़ लैटर्स, अप्रकाशित)
शर्मा,भोलानाथ -- शुद्ध बुद्धिमीमांसा (लेखक - इ० कान्ट)
(अनुवादक) -- हिन्दी समिति

शर्मा, राममूर्ति -- शंकराचार्य (उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन)

शास्त्री, सूर्यनारायण और
कुन्हनराजा, सी० -- दि भामती ऑफ़ वाचस्पति (चतु:सूत्री)

श्लिगले एण्ड बरफर्ड -- दि हैरिटेज आफ़ काण्ट-

षड्शास्त्री, स्वामी-
श्री हनुमानप्रसाद -- महाकवि श्रीहर्षप्रणीतं खण्डनखण्डखाद्यम (श्री शंकर मिश्र विरचित 'शांकरी' सहित तत्वबोधिनी हिन्दी व्याख्योपेतम)

-- ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्यम ब्रह्मतत्वविमर्शिनी (हिन्दी व्याख्यासहितम्)

स्ट्रॉसन, पी०एफ़० -- इण्डिविजुअल्स

स्पिनोज़ा -- एथिक्स (स्वरीमैन)

स्मिथ, एन०के० -- इमैनुअल कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न (ट्रांसलेशन)

-- ए कमैंट्री टू कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न

सरकार, महेन्द्रनाथ -- दि सिस्टम ऑफ़ वेदान्तिक थॉट एण्ड कल्चर

सांस्कृत्यायन, राहुल -- दर्शनदिग्दर्शन

सिद्धांत शिरोमणि,
आचार्य विश्वेश्वर
(व्याख्याकार) -- तर्कभाषा केशवमिश्र प्रणीता तर्करहस्यदीपिका, हिन्दी-व्याख्याविभूषिता (काशी संस्कृत ग्रन्थमाला)

-- चतु:सूत्री--ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम् (ब्रह्मतत्वप्रकाशिका, हिन्दी-व्याख्योपेतम)

सिंह, आर०पी० -- दि वेदान्त ऑफ़ शंकर

सिंह, फ़तह (अनुवादक) -- आभास और सत् (लेखक एफ़०एच० ब्रैडले , हिन्दी-समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश)

सुरेश्वर -- नैष्कर्म्यसिद्धि (अनुवादक ए०जे० एलस्टन)

ह्निटने एण्ड वावर्स -- दि हेरिटेज़ ऑफ़ कान्ट
ह्यूम,डेविड -- ए ट्रिटीज़ ऑफ़ ह्यूमन नेचर
गाथमान,बेट्टी -- फ़ेसेट्स ऑफ़ इण्डियन थॉट
हिक्स,जॉन -- क्लैसिकल एण्ड कॉन्टेम्पोरेरी रीडिंग्स इन दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ रेलिजन
हिरियन्ना,एम० -- दि एसेन्शियल्स ऑफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी
-- आउटलाइन ऑफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी
हिल,टॉमस ई० -- एथिक्स इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस
त्रिपाठी,आर०के० -- प्रॉबलम्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी एण्ड रेलिजन

--